CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्

स्वर्ण जयन्ती स्मारिका

1999

U633

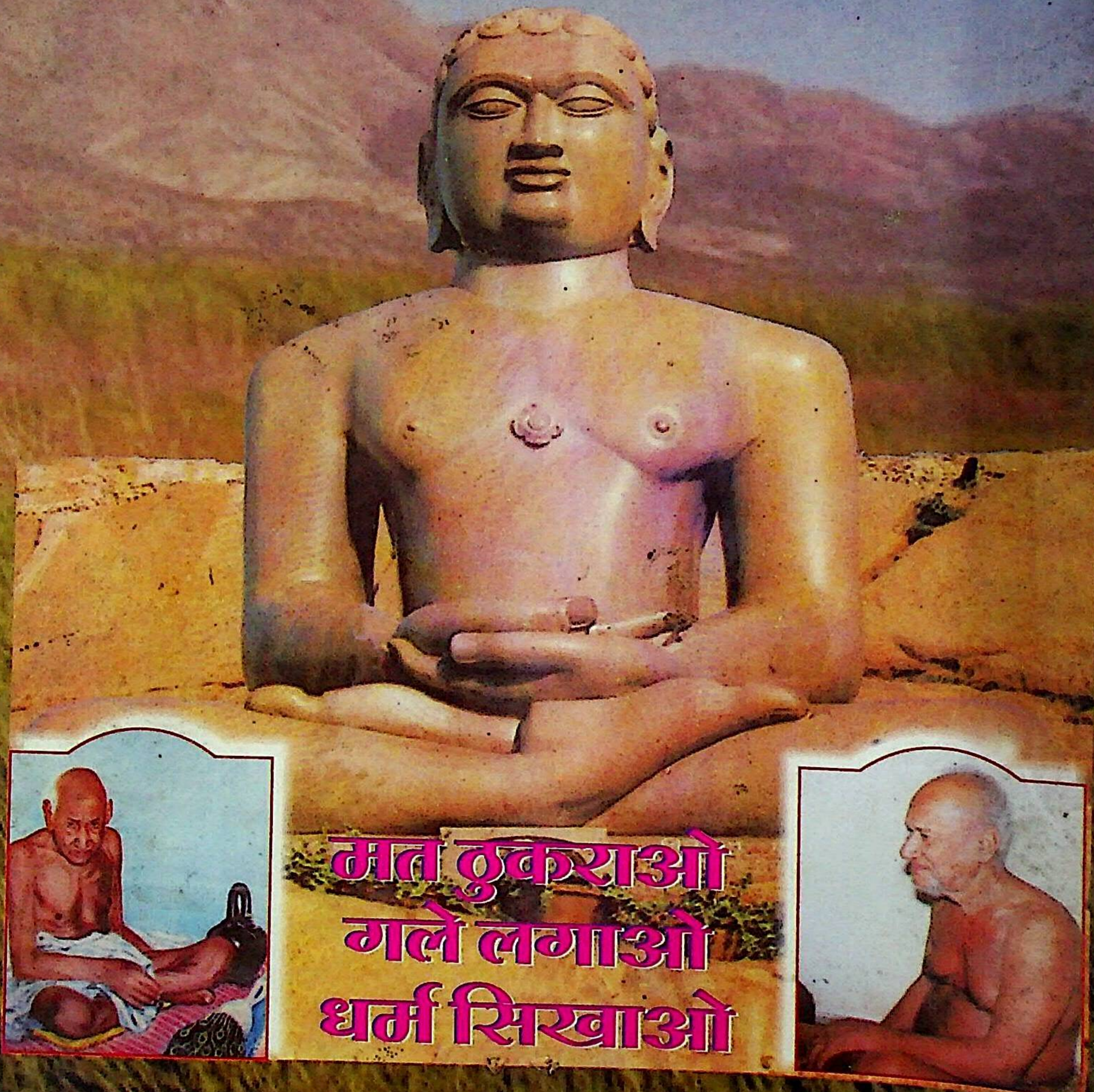

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Narla, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

11.6

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्

स्मारिका – 99

उदयचन्द्र जैन
वाराणसी

प्रधान सम्पादक :

डॉ. राजाराम जैन

सम्पादक :

अखिल बंसल

4633

सम्पादक मण्डल :

- डॉ. उदयचन्द जैन
- डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल
- आचार्य गोपीलाल 'अमर'
- पण्डित विमलकुमार सौंरया
- डॉ. सत्यप्रकाश जैन
- डॉ. श्रीयांशकुमार सिंघई

प्रकाशक :

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्

बी-173, सूरजमल विहार, दिल्ली-110092

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परामर्श मण्डल :

- स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्तिजी, श्रवणबेलगोल
- डॉ. दरबारीलालजी कोठिया, बीना
- डॉ. पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर
- संहितासूरि पण्डित नाथूलालजी शास्त्री, इन्दौर
- पण्डित उदयचन्दजी, सर्वदर्शनाचार्य, बनारस
- डॉ. देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री, दिल्ली
- ब्र. पण्डित माणिकचन्दजी भिसीकर, बाहुबली
- पद्मश्री ब्र. सुमतिबाईजी शहा, सोलापुर
- डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल, जयपुर
- पण्डित प्रकाशचन्दजी 'हितैषी', दिल्ली
- पण्डित धन्यकुमारजी भौंरे, कारंजा

कार्यकारिणी :

- डॉ. राजाराम जैन — अध्यक्ष
- डॉ. सुदर्शनलाल जैन — उपाध्यक्ष
- डॉ. सत्यप्रकाश जैन — मंत्री
- डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल — संयुक्त मंत्री
- पं. विमलकुमार सोंरया — उपमंत्री
- अखिल बंसल — प्रचार/प्रकाशन मंत्री
- ब्र. यशपाल जैन — कोषाध्यक्ष

सदस्य :

डॉ. उदयचन्द जैन, उदयपुर, डॉ. गोकुलप्रसाद जैन (दिल्ली), प्रा. कुन्दनलाल जैन (दिल्ली), पण्डित मन्नूलाल जैन (सागर), अनूपचन्द जैन (फिरोजाबाद), डॉ. पदमकुमार जैन (दिल्ली), पण्डित राजेन्द्रकुमार जैन (टीकमगढ़), डॉ. कमलेश जैन (दिल्ली), श्रेणिक अन्नदाते (डोंबिवली), पण्डित अशोककुमार गोइल्ल (दिल्ली), ब्र. हेमचन्द जैन 'हेम' (भोपाल), परमात्मप्रकाश भारिल्ल (मुम्बई), पं. महेन्द्रकुमार जैन (हस्तिनापुर)।

विशेष आमंत्रित :

डॉ. विमलप्रकाश जैन, दिल्ली, डॉ. प्रभाकर सेठी, जयपुर
डॉ. एस. पी. पाटिल, धारवाड़

मुद्रक :
प्रिन्टोमैटिक्स
129, स्टेशन रोड़, दुर्गापुरा, जयपुर-18
फोन : 722274, 721819

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सन्देश

परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्दजी

त्रिवार नमोस्तु !

१८ अप्रेल से २२ अप्रेल तक आपके तत्त्वावधान में विद्वत्परिषद् की स्वर्ण जयन्ती समारोह मनाने का जो विद्वत्परिषद् ने निर्णय लिया है वह सार्थक एवं उचित है। बिखरे हुए विद्वानों को इस अवसर पर एक सूत्र में बांधा जायेगा यह विश्वास है। ३१ अक्टूबंर १९४४ की तरह यह उत्सव सम्पन्न होगा। विद्वत्परिषद् की रजत जयन्ती शिवपुरी {म. प्र.} में मेरी अध्यक्षता में मनाई गई थी।

आशा है स्वर्ण जयन्ती भी उसीप्रकार से मनाई जावेगी। मैं अस्वस्थ हूँ इसलिये आ नहीं सकूँगा क्षमा करें।

आपका विनम्र

दरवारीलाल कोठिया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सन्देश

डॉ. राजाराम जैन

विनम्र प्रणाम !

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् के अध्यक्ष के रूप में स्वर्ण जयन्ती समारोह में सम्मिलित होने के लिये आपका स्नेहिल आमन्त्रण मिला। धन्यवाद।

सर्वप्रथम आप हम दोनों की ओर से बधाईयाँ स्वीकारें। विश्वास है आपके कुशल और सक्षम नेतृत्व में सुप्तप्राय विद्वत्परिषद् अपनी प्रभावक विविध गतिविधियों से समाज में नई चेतना जागृत कर सकेगी.. व्यर्थ के विवादों में न उलझकर रचनात्मक कार्यों में अपनी शक्ति लगाई जाये तो अधिक श्रेयस्कर है।

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि प्रस्तुत स्वर्ण जयन्ती के साथ दो सुन्दर समारोह और जुड़े हुए हैं ; पूज्य मुनिश्री कनकोज्ज्वलनन्दिजी का उपाध्याय अलंकरण और पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनिराज का अमृत महोत्सव।

पूज्य कनकोज्ज्वलजी एक प्रतिभा सम्पन्न तरुण दिगम्बर जैन मुनि हैं। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, मराठी और कन्नड के भाषाओं के मर्मज्ञ हैं। गहन अध्येता, साधक और अध्यवसायी हैं। आचार्यश्री ने उन्हें उपाध्याय पद से अलंकृत करने का निश्चय किया है, स्वागतार्ह है। मुनिश्री अपने नये पद का गुरुतर भार पूरी कुशलता के साथ निर्वहन करेंगे ऐसा विश्बास है।

पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्दजी एक समाजोद्धारक और राष्ट्रोन्नायक दिगम्बर जैन सन्त हैं। उन्होंने जैन समाज को नये-नये आन्दोलन देकर महापथ का निर्माण किया है। शौरसैनी प्राकृत को नये रूप में प्रस्थापित करने का श्रेय उन्हीं को जाता है। अनेक अभिनव योजनाओं से उन्होंने समाज को पुरस्कृत किया है। ऐसे योजना और संयोजन के धनी, आध्यात्मिक सन्त तथा तलस्पर्शी अगाध विद्वत्ता और सरलता की प्रतिमूर्ति पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्दजी का अमृत महोत्सव मनाने का संकल्प कर समाज ने उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त की है। भगवान महावीर से हमारी प्रार्थना है कि वे निरामय होकर शतायु हों और अपनी साधना में पूर्ण सफल हों। व्यस्ततावश यदि हम न आ सकें तो क्षमा कीजियेगा।

पुष्पलता जैन
रीडर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग
एस. एम. एस कॉलेज, नागपुर
दिनांक – ७.४.९६

प्रो. भागचन्द जैन भास्कर
अध्यक्ष पाली प्राकृत विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सन्देश

आदरणीय प्रो. जैन साहब

सादर प्रणाम !

आपसे ज्ञात हुआ कि २२ अप्रेल १९९९ को राष्ट्रसन्त परम पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनिराज की जन्म जयन्ती अमृत महोत्सव के रूप में मनायी जा रही है। यह सुअवसर सम्पूर्ण विश्व के लिये गौरव का अवसर है किं इस दिन हम सभी विश्वधर्म के प्रचारक, अहिंसा के प्रतिष्ठापक और भारतीय भाषा और साहित्य के तलस्पर्शी साधक की ७५वीं जन्मजयन्ती समारोह के साक्षी हैं/सहभागी हैं। आचार्यश्री ने श्रमण परम्परा और संस्कृति के संरक्षण की दिशा में अपूर्व योगदान किया है। एक आदर्श जैन आचार्य की जीवनचर्या का पालन करते हुए आप एक प्राचीन कुलपति की भांति सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन और चिन्तकों के मार्गदर्शक के रूप में भी जाने जाते हैं। आपने श्रमण परम्परा की मूल भाषा प्राकृत की प्रतिष्ठा और पठन-पाठन व्यवस्था को भी स्थायी धरातल प्रदान किया है।

पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्दजी महाराज ने दिगम्बर जैन परम्परा के आगम ग्रन्थों के सम्पादन/प्रकाशन को नई दिशा दी है। शौरसैनी प्राकृत के स्वरूप और उसके ग्रन्थों के प्रचार-प्रसार को गति दी है। विद्वानों को इस दिशा में कार्य करने की प्रेरणा और सम्मान/प्रोत्साहन दिया है। ऐसे साहित्यप्रेमी, स्वतंत्र चिन्तक, इतिहास अन्वेषी और सदाचार तथा संयम के पालक सन्त के पावन चरणों में हमारी विनयांजलि अर्पित है तथा यह भावना है कि आप स्वस्थ और दीर्घायु होकर शासन और साहित्य की सेवा निरन्तर करते रहें। आपकी छत्रछाया विद्वानों/श्रावकों पर बनी रहे, शुभकामना और वन्दना निवेदित है।

ज्ञात हुआ है कि पूज्य आचार्यश्री के अमृत महोत्सव के पूर्व अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् का स्वर्ण जयन्ती महोत्सव, समयसार वाचना, विद्वत् संगोष्ठी एवं पूज्य मुनिश्री कनकोज्ज्वलनन्दिजी की उपाध्याय पद दीक्षा समारोह भी आयोजित है। इन सभी कार्यक्रमों में उपस्थित होने में मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती, किन्तु विश्वविद्यालय में परीक्षा आदि कार्यों की व्यस्तता के कारण मैं नहीं आ पाऊँगा, इसके लिये मुझे क्षमा करेंगे। मेरी तरफ से सम्पूर्ण आयोजनों की पूर्ण सफलता के लिये हार्दिक शुभकामनायें हैं। आंप मुझे सदैव अपने समस्त आकस्मिक कार्यों के साथ सहभागी समझें। आपसे मार्गदर्शन प्राप्त करने में मुझे प्रसन्नता होती है।

प्रो. डॉ. प्रेमसुमन जैन

अधिष्ठाता कला संकाय

सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर

दिनांक - ७.४.९९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्पादकीय

बीसवीं सदी के प्रारम्भिक चरण में जैनधर्म दर्शन के विद्वानों की संख्या यद्यपि सीमित थी किन्तु जो भी थे, उनके अगाध–पाण्डित्य उनकी निष्पृही वृत्ति, सत्यनिष्ठा, कर्त्तव्य परायणता तथा समाज के नव–जागरण और जिनवाणी के प्रकाशन में समर्पित भावना की मार्मिक कथाऐं आज भी प्रेरणा की अजस्र स्रोत बनी हुई हैं। ऐसे महामहिम पण्डित प्रवरों में वादिगज केशरी, सकल तार्किक चक्र चूड़ामणि महापण्डित गुरुश्रेष्ठ गोपालदास जी बरैया जैन समाज एवं भावी विद्वत्परम्परा के सौभाग्य विधाता के रूप में उभरे। उनका गहन चिन्तन, स्वाध्यायशीलता एवं निर्भीकता अनुपम थी। कलकत्ते की कटु–समीक्षक जैनेतर विद्वत्सभा में सृष्टि कर्तृत्व विषय पर उन्होंने जो अपना सारगर्भित भाषण किया था, उससे उनके परमविरोधी, तत्कालीन जीफ जस्टिस एवं चिन्तक मनीषि श्री गुरुदास बनर्जी ने भी उनकी विद्वत्ता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी और उनसे प्रभावित होकर डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने हर्षातिरेक के कारण बरैयाजी को मंच पर ही अपने गले से लगा लिया था।

पण्डित नाथूरामजी प्रेमी जिनके पिताजी बैल पर बंजीभौरी करके कठिनाई पूर्वक परिवार का पालन पोषण करते थे, ने घोर आर्थिक तंगी के कारण बम्बई आकर अढाई रुपये माह पर क्लर्की करते हुए गरीबी को अभिशाप नहीं, वरदान बना देने का संकल्प किया था और अथक परिश्रम कर जैन विद्या एवं जैन समाज की जो बहुआयामी सेवा की उसे कौन भुला सकेगा ? संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी की शताधिक पाण्डुलिपियों का उद्धार कर उन्होंने माणिकचन्द्र सीरीज की स्थापना की और उसके अन्तर्गत उन्होंने बहुमूल्य ग्रन्थों का प्रथमबार प्रामाणिक प्रकाशन किया जो अगली पीढ़ी के अध्ययन एवं शोध के लिए पाथेय बने। इनके अतिरिक्त भी अनेक जैनाचार्यों के तिथि निर्धारण जैन तीर्थों की ऐतिहासिकता तथा अनेक प्रच्छन्न या विस्मृत ऐतिहासिक तथ्यों को प्रकाशित कर उन्होंने जैनाजैन सभी विद्वानों को भी आश्चर्यचकित कर दिया था जैनेन्द्र कुमार जैन जैसे सिद्धहस्त उपन्यासकार प्रेमी ने ही तैयार किए थे और पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी को उन्होंने ही जैन साहित्य रसिक बनाया था।

प्रातः स्मरणीय पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार ने यदि आचार्य समन्तभद्र के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की खोज के लिए अखण्ड एकान्त कठोर साधना न की होती, तो महान तार्किक, पाटलिपुत्र–शास्त्रार्थ के विजेता अप्रतिम लेखक, दार्शनिक चिन्तक एवं सर्वोदय सिद्धान्त के आद्य उदगाता आचार्य समन्तभद्र का इतिहास या तो विस्मृत ही रहता अथवा भ्रमात्मक घैरों के मकड़जाल में ही फंसा रह जाता।

पण्डित ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी का व्यक्तित्व बहुआयामी था। हिन्दी में जैन गजेटियर तैयार कर भारतीय पुराविदों को उन्होंने अचम्भे में डाल दिया था। उनके अगठित ग्रन्थ एवं निबन्ध लेखन के कारण दाहिने हाथ के अँगूठे की हड्डी ही बेकार हो गई थी। उनकी निर्भीक पत्रकारिता, तथा दर्शन, इतिहास, संस्कृति, समाज–सुधार सम्बन्धी लेखन कार्यों को इतिहास क्या कभी भूल सकेगा ?

पण्डित ब्रह्मसूरिशास्त्री पं. गजपति उपाध्ये, पं. देवराज शेट्टि, शान्तप्पा उपाध्ये स्वनाम धन्य/ पं. पन्नालालजी बाकलीवाल, पं. धन्नालालजी काशलीवाल, पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री, पं. जीवन्धनजी, पं. के. भुजबलि शास्त्री, पं. लोकनाथजी शास्त्री महामति विदुषी लक्ष्मीजी, पण्डित मनोहरलालजी शास्त्री, पण्डित गजाधरलाल जी शास्त्री, पण्डित लालारामजी, पण्डित पन्नालालजी काव्यतीर्थ पण्डित भूरामलजी चीफ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जस्टिस जुगमन्दरलाल जैनी, प्रो. ए. चक्रवर्ती, प्रो. घासीराम जैन आदि अनेक ऐसे विद्वान हुए, जिन्होंने जिनवाणी के संरक्षण, उद्धार, प्रकाशन एवं उसके प्रचार–प्रसार के लिए सर्वस्व त्याग किया। इनकी गौरव–गाथाएँ किसे आल्हादित नहीं करेंगी ?

सन् 1930 से 1941 के दशक में धवल,जयधवल एवं महाधवल के प्रकाशन के लिए अत्यन्त व्यग्र परमतपस्वी चारित्र चक्रवर्ती एवं श्रीमान माणिकचन्द्र पानाचन्दजी (बम्बई), रावजी सखाराम दोशी (शोलापुर), सेठ पन्नालालजी परवार (अमरावती), नागपुर के सबजज जमनालाल जी कलरैया, जस्टिस जुगमन्दर लाल जैनी, प्रों डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. ए.एन. उपाध्ये, पं. देवकीनन्दन शास्त्री आदि के सत्प्रयत्न तथा विदिशा के श्रीमन्त सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द्रजी के मुक्तहस्त आर्थिक सहयोग से उनकी प्रकाशन की कथाऐं युगों तक हमें भावविभोर करती रहेंगी।

उक्त आगम ग्रन्थों के सम्पादन में सर्वश्री प्रो. डॉ. हीरालालजी जैन, प्रो. डॉ. ए.एन. उपाध्ये, पं. पण्डित देवकीनन्दनजी शास्त्री, पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री, पं. कैलाशचन्द्रजी सि. शा. पं. लाल बहादुरजी शास्त्री, पं. हीरालालजी शास्त्री, एवं पं. सुमेरूचन्दजी दिवाकर के अथक सम्पादन एवं अनुवाद कार्य तथा आगमोद्वारक समिति विदिशा, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली तथा दि. जैन संघ मथुरा के प्रकाशन सम्बन्धी उत्साह प्राच्य विद्या जगत का इतिहास निरन्तर उसका स्मरण करता रहेगा।

उक्त सुनामों में से अधिकांश धीमन्त एवं श्रीमन्त प्रातः स्मरणीय पं. गणेशप्रसाद जी वर्णी के चमत्कारी व्यक्तित्व एवं ओजस्वी विचारों से प्रभावित थे। वर्णी जी को इस बात का बड़ा दुख था कि पण्डितों का इतना बड़ा समूह जैन समाज के उत्थान में कार्यरत है फिर भी उसका कोई अपना संगठन नहीं है और उनकी विद्वत्ता, उनके स्वाभिमान की सुरक्षा तथा गरिमा की जैसी, प्रतिष्ठा होना चाहिए, वैसा कुछ नहीं हो पा रहा है। अतः उनके मन में अ. भा. दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद की स्थापना कराने की तीव्र अभिलाषा थी। उन्होंने उसकी चर्चा विद्वज्जनों के बीच में भी की और धन्य है कलकत्ता में आयोजित वीर शासन जयन्ती का वह 2500 वाँ समारोह, तदनुसार 2/11/1944 की वह पावन तिथि जब दोपहर 3 बजे के शुभ मुहूर्त में श्रीमान साहू शान्तिप्रसादजी एवं बाबू छोटेलालजी सरावगी के सान्निध्य में श्री. पण्डित फूलचन्द्र जी सि. शां. के मंगलाचरण के साथ लगभग 21 शिरोमणि विद्वानों की उपस्थिति में सभी को हर्षवर्धन पूर्वक अ. भा. दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् की स्थापना की गई और जिसमें श्रीमान पण्डित जगन्मोहन लालजी शास्त्री, पण्डित सुमेरूचन्द्र दिवाकर, पण्डित झम्मनलालजी तर्कतीर्थ, पण्डित ऋषभकुमारजी, पण्डित मक्खनलालजी तथा पण्डित राजेन्द्रकुमारजी (मथुरा) के मांगलिक भाषण हुए, जिनमें विद्वत्परिषद के उद्देश्य, गतिविधियों एवं उसके भविष्य पर प्रकाश डाला गया।

आगे चलकर अत्यन्त सौहार्द एवं पारस्परिक आदर भावना के वातावरण में विद्वत्परिषद् के अधिवेशन क्रमशः कटनी (1945 ई.), मथुरा (1646 ई.), सोनगढ़ (1947 ई.), बरूआसागर (1948), शोलापुर (1949), खुरई (1953), द्रोणगिरि (1955), जबलपुर (1958), ललितपुर (1956), सिवनी (1965), श्रावस्ती (1966), दिल्ली (1967), सागर (1968), शिवपुरी (1973), रजत जयन्ति वर्ष, खजुराहो (1981), फिरोजाबाद (1985), सतना (1990) एवं खुरई (1993) एवं दिल्ली (29/11/1998) में सम्पन्न हुए। उनमें अनेक सारस्वत सामाजिक जागरण, प्रवचन–प्रबोधन आदि रोचक कार्यक्रम हुए।

विद्वत्परिषद ने जैनागम सिद्धान्तों के प्रचार–प्रसार के लिए तथा अपनी शोधमूलक प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने के लिए समय–समय पर जैनधर्म तथा उसके इतिहास एवं संस्कृति से सम्बन्धित श्रेष्ठ कोटि के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुछ विशिष्ट ग्रन्थों का प्रकाशन किया है, जो प्रामाणिक सन्दर्भ ग्रन्थों के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं :–

1. श्री श्रुत सप्ताह नवनीत (1944)
2. श्री गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ (1967 ई.)
3. पं. जुगलकिशोर मुख्तार : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री
4. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (4 भागों में)
5. अ. भा. दिग. जैन विद्वत्परिषद – रजत जयन्ती स्मारिका (1973 ई.)
6. भारतीय संस्कृति के विकास में जैनाचार्यों का अवदान (दो भागों में) (डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री के दुर्लभ शोध निबन्धों का संग्रह) सम्पादक – डॉ. देवेन्द्र शास्त्री एवं डॉ. राजाराम जैन
7. देव-शास्त्र-गुरु – डॉ. सुदर्शनलाल जैन
8. देव-शास्त्र-गुरु – डॉ देवेन्द्र शास्त्री

दिनांक 29/11/1998 के विद्वत्परिषद के 18 वें दिल्ली अधिवेशन के बाद सम्पन्न उसकी कार्यकारिणी समिति की बैठक में यह अनुभव किया गया कि वि.व. की एक नियमित पत्रिका का भी प्रकाशन किया जाय जिसमें उसकी विभिन्न गतिविधियों, सूचनाएँ तथा सुझाव आदि का प्रकाशन कर उन्हें जैन समाज एवं वि. प. के मान्य सदस्यों तक में जो जा सकें। इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उसका प्रकाशन "विद्वत्सन्देश" के नाम से अभी हाल में किया गया है जिसके प्रथम अंक प्रकाशित एवं वितरित हो चुके हैं और द्वितीय अंक भी शीघ्र ही प्रकाशित होकर वितरित होने जा रहा है।

चूँकि यह वर्ष वि.प. के स्वर्ण जयन्ती समारोह का वर्ष है। अतः उस उपलक्ष्य में स्वर्णजयन्ती स्मारिका (1999) का भी प्रकाशन किया जा रहा है।

पिछले 55 वर्षों में विद्वत्परिषद की ओर समय–समय पर निर्वाचित पुरस्कार समिति द्वारा मनोनीत निर्णायक–मण्डल की अनुशंसाओं के आधार पर अभी तक निम्न ग्रन्थों को उनकी गुणवत्ता एवं श्रेष्ठता के आधार पर पुरस्कृत किया जा चुका है।

	ग्रन्थ	*नाम लेखक/सम्पादक*	*पुरस्कार वर्ष*
1.	परमज्योति महावीर (महाकाव्य)	कविवर धन्यकुमार सुधेस	1966–67
2.	लोक विभाग : परिचय	पं. बालचन्द्र जी शास्त्री	1967–68
3.	राजस्थान के सन्त व्यक्तित्व एवं कृतित्व	डॉ. कस्तूरचन्द्र काशलीवाल	1968–69
4.	गद्यचिन्तामणि	पं.पन्नालालजी साहित्याचार्य	1971–72
5.	वड्ढमान चरिउ 13वीं सदी के महाकवि विबुध श्रीधर कृत महावीर चरित सम्बन्धी अपभ्रंश की दुर्लभ पाण्डुलिपि का सर्वप्रथम सम्पादन अनुवाद एवं समीक्षात्मक भूमिका के साथ सन 1974 में भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली द्वारा प्रकाशित (1975 ई.) कुल पृष्ठ संख्या 442	प्रो. डॉ. राजाराम जैन आरा	1976–77

पुरस्कार सम्मान का यह सिलसिला विद्वानों के लिए काफी उत्साह वर्धक रहा किन्तु पिछले

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लगभग दो दशकों से किन्हीं अज्ञात कारणों से इन पुरस्कारों की प्रगति अवरुद्ध हो गई थी। अतः उसे हमारी विद्वत्परिषद आवश्यक संसाधनों को जुटाने का प्रयास कर रही है। उसमें सफलता भी मिली है। इन पुरस्कारों को गतिवान बनाया जा रहा है। यहाँ पर ध्यातव्य है कि पहले जहाँ 1–1 सहस्र रुपयों के दो पुरस्कार 1–1 वर्ष के अन्तराल से क्रमशः मिलते थे उनमें वृद्धि की जा रही है। अब ये 5001 के 4 पुरस्कार होंगे और प्रतिवर्ष प्रदान किए जावेंगे।

इस स्वर्णजयन्ती वर्ष में उक्त चारों पुरस्कारों के लिए ग्रन्थ आमन्त्रित किए जा चुके हैं तथा निर्णायक मण्डल की अनुशंसाऐं प्राप्त होते ही उनकी घोषणा कर दी जायेगी।

अगले वर्षों में हमारा यह भी प्रयत्न रहेगा कि 1 पुरस्कार महिला–साहित्यकार के लिए,1 पुरस्कार जैन बाल–साहित्य के लिए, 1 पुरस्कार आद्यावधि अप्रकाशित दुर्लभ पाण्डुलिपि के सम्पादन अनुवाद समीक्षा के लिए तथा अन्य एक पुरस्कार जैन पत्रकारिता के लिए भी सुनिश्चित किया जाय।

इनके अतिरिक्त हमारी यह भी अभिलाषा है कि स्थानीय समाज के ऐसे वयोवृद्धों (नर–नारी), जो स्वतन्त्रता सैनानी रहे हैं तथा जो स्वाध्याय प्रेमी, जैनाचार के अनुकूल जीवन व्यतीत करते हैं और जिनवाणी सेवा एवं विद्वत्परिषद के उद्देश्यों की पूर्ति में रचनात्मक सहयोग प्रदान करते हैं उन्हें भी स्थानीय समाज को प्रेरित कर अधिवेशनों के अवसर पर सार्वजनिक सम्मान प्रदान कराया जाय।

इसप्रकार विद्वत्परिषद के उद्देश्यों एवं रचनात्मक कार्यों का स्मरण करने ओर उसकी स्वर्ण जयन्ती वर्ष को एक संकल्प–वर्ष के रूप में मनाए जाने का समय आ गया है। परिस्थितियों में ह्रासात्मक बदलाव तीव्रगति से हो रहा है आस्था विश्वास एवं वरिष्ठता के प्रति आदर–भाव की कमी, विवेकहीन स्वार्थपरता की वृद्धि, कृतज्ञता और सेवाभावना में दुखद शैथिल्य सिद्धान्तविहीन कार्यों में समय और शक्ति का दुरूपयोग, बुद्धिजीवियों के लिए सदा ही हानिकारक सिद्ध हुआ है। उससे संस्था का भविष्य प्रभावित होता है और सामाजिक प्रगति अवरुद्ध होती है।

21 वीं सदी द्वार पर दस्तक दे रही है। उसके सन्दर्भ में अगली पीढ़ी के लिए क्या सन्देश दिया जाय, इसका आत्मलोचन अनिवार्य हो गया है। अप्रशस्त का परिहार तथा प्रशस्त का समाहार ही एकमात्र कल्याणकारी मार्ग दिखाई देता है। इस कारण सामाजिक हित में पारस्परिक वैमनस्य को भुलाकर स्नेह एवं सौहार्द के वातावरण में एकता के सूत्र में बँधकर ही शक्ति संचय एवं कार्यक्षमता में अभिवृद्धि हो सकती है। अतः स्वर्ण जयन्ती के पावन–प्रसंग में सभी विद्वज्जनों से सादर अनुरोध है कि वे सभी प्रकार के मतभेद एवं मनभेद भुलाकर एक सूत्र में बँधें और पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी तथा अपने पूर्वकालीन महामहिम विद्वानों के स्वप्नों को साकार करें।

श्रावकोचित मार्ग का अनुसरण जिनवाणी एवं समाज सेवा के प्रति समर्पण–भावना ही स्वर्णिम भविष्य के निर्माण के समर्थ सूत्रधार हैं। अतः आइए, आप सभी मिलकर संकल्प करें कि –

1. हम सब मिलकर, निस्वार्थ, निष्पक्ष एवं निर्भीक होकर केवल ठोस रचनात्मक कार्य करेंगे –
2. अपनी–अपनी कार्यक्षमता, ज्ञानानुमन तथा कार्यानुभव से समाज की एकमात्र संस्था विद्वत्परिषद को लाभान्वित करेंगे –
3. विद्वत्परिषद के प्रान्तीय एवं जिलास्तरीय शाखा–प्रशाखाएँ स्थापित कराने में अ.भा. दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् की सहायता करेंगे –
4. जैन धर्म साहित्य, अध्यात्म में आचार, पुरातत्व, इतिहास, संस्कृति आदि के किसी भी अछूते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय पर उच्च श्रेणी के चिन्तन पूर्ण मौलिक साहित्य का प्रणयन करेंगे–

5. अपने ग्राम, नगर, कस्बे आदि के जैन मन्दिरों में जहाँ जो भी हस्तलिखित अप्रकाशित पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं, उन्हें सावधानी पूर्वक अच्छे वेष्ठन में सम्हालकर रखें तथा उनका विस्तृत विवरण (यथा– ग्रन्थनाम, भाषा, मूल लेखक तथा उसका काल, पृष्ठ संख्या, ग्रन्थ–विषय, आदि एवं अन्त में उपलब्ध प्रशस्तियाँ, प्रतिलिपिकार प्रशस्ति, प्रतिलिपिकाल आदि का उल्लेख कर) तैयार कर विद्वत्परिषद की मुख–पत्रिका–विद्वत्सन्देश में तथा अन्य जैन पत्रिकाओं में (अपने चित्र एवं संक्षिप्त परिचय के साथ) प्रकाशनार्थ अवश्य भेजें। साथ में यह भी लिखें कि आप किस हस्तलिखित ग्रन्थ का सम्पादन अनुवाद एवं समीक्षा लिखकर/लिखाकर, प्रकाशन कर/करा सकते हैं ? इनके अतिरिक्त –
6. अपने बच्चे बच्चियों में जैनाचार एवं जैन साहित्य के अध्ययनार्थ अभिरुचि जागृत करने हेतु सान्ध्य पाठशालाओं की स्थापना में पहल एवं पूर्ण सहयोग का संकल्प लें–
7. प्रतिदिन देव–दर्शन पूजा, स्वाध्याय तथा शास्त्र प्रवचन की व्यवस्था करने और श्रोताओं को एकत्रित करने का संकल्प हो –
8. मुनियों, आचार्यों एवं विद्वानों के प्रति निरन्तर विनम्रता की भावना का संकल्प लें –
9. नगर के ज्ञानवृद्धों, वयोवृद्धों नर/नारियों का सार्वजनिक सम्मान कर उनके आशीर्वादों को ग्रहण करते रहने का संकल्प –
10. महिलाओं में जागरुकता की भावना उत्पन्न करने हेतु महिला समितियों का गठन तथा समय–समय पर उनके कार्यक्रमों के आयोजन का संकल्प–
11. जैन मन्दिरों में अथवा व्यक्तिगत रूप से जैन पत्र–पत्रिकाओं को मँगवाकर उनसे समय–समय पर भारतीय जैन समाज की गतिविधियों से परिचित होते रहने का संकल्प –
12. उच्चकोटि का विवादविहीन जैन साहित्य मँगवाकर प्रत्येक घर में छोटा–मोटा निजी ग्रन्थागार बनाने का संकल्प–
13. अपने-अपने व्यापारों, प्रतिष्ठानों आदि में ईमानदारी तथा सत्य निष्ठा पूर्वक कार्य संचालन करने का संकल्प।

स्नेह एवं सौहार्द पूर्ण वातावरण में ईमानदारी और निष्ठापूर्वक कार्य करने से व्यक्ति तनाव मुक्त रहकर स्वस्थ दीर्घायुष्य प्राप्त कर सकता है, साथ ही समाज एवं नगर का विश्वास प्राप्त कर सर्वोच्च प्रतिष्ठा अर्जित कर सकता है।

उक्त सभी तथ्यों के आलोक में अ.भा. दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद के स्वर्ण जयन्ती महोत्सव की बेला में आज सभी के प्रति हार्दिक मंगल कामनाएँ एवं जयजिनेन्द्र।

● डॉ. राजाराम जैन

□□□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4633

श्रीमान् सिद्धान्तवाचस्पति वंशीधरजी न्यायालंकार इन्दौर

(कटनी—१९४५ प्रथम, और सोलापुर—१९४९ पंचम अधिवेशनके अध्यक्ष)

का

भाषण-सार

: १ :

कटनी अधिवेशनका अध्यक्ष विद्वानोंने श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी महाराजको निश्चित किया था, परन्तु आपने सभामें उपस्थित होकर स्वागतमाला श्रीमान् पं० वंशीधरजी इन्दौरके कण्ठमें अर्पित कराई और उनकी प्रशंसामें बहुत कुछ कहा। फलस्वरूप यह अधिवेशन श्री पं० वंशीधरजी-की अध्यक्षतामें संपन्न हुआ। पूज्य वर्णीजी प्रत्येक कार्यमें उपस्थित रहते थे। अध्यक्षीय भाषण करते हुए श्रीमान् पं० वंशोधरजीने कहा—

सर्वप्रथम मैं पूज्य वर्णीजीकी सत्कृपासे गदगद् हूँ। वे न जाने किसे, किससे, क्या बना देते हैं। लोक-में पारसपत्थरकी चर्चा आती है कि वह लोहेको सोना बना देता है। यहाँ हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि पूज्य वर्णीजी महाराजने न जाने मुझ जैसे कितने व्यक्तियोंको लोहेसे सोना बना दिया है। आपकी आज्ञाका पालन कर मैं मञ्चपर बैठ अवश्य गया हूँ पर यह अधिवेशन है उन्हींकी अध्यक्षतामें।

भाषण जारी रखते हुए आपने विद्वानोंकी वर्तमान दशाका चित्रण किया तथा उन्हें संगठित होकर कार्य करनेके लिये संबोधित किया। उन्होंने कहा कि विद्वान् समाजके लिये एक प्रकाश-स्तम्भके समान है। जिसप्रकार प्रकाश-स्तम्भको देखकर मार्ग-भ्रान्त वायुयान अपनी दिशाको अच्छी तरह पकड़ लेता है। उसी प्रकार विद्वान्का आश्रय पाकर पथ-भ्रान्त समाज अपने मार्गको अच्छी तरह पकड़ लेती है। इस स्थिति-में विद्वान्को अपना आचरण इतना उज्ज्वल रखना चाहिये, जिससे समाजका कोई भी व्यक्ति पथ-भ्रान्त न हो सके।

जैन वाङ्मयको स्वयं समझकर उसे जनता तक पहुँचाना तथा उसका हार्द प्रकट करना यही सच्ची प्रभावना है। समन्तभद्रस्वामीने अज्ञाननिवृत्तिको ही प्रभावनाका लक्षण बतलाया है—

> अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
> जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना॥

अर्थात् जैसे बने वैसे अज्ञान-तिमिरके प्रसारको दूरकर जिनशासनके माहात्म्यको प्रकट करना प्रभा-वना अङ्ग है। प्रभावनाके अन्य लक्षण तो देशकालके अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। पर यह लक्षण कभी परिवर्तित नहीं होता।

मैं सामने बैठे हुए पं० महेन्द्रकुमारजी, कैलाशचन्द्रजी, जगन्मोहनलालजी, दयाचन्द्रजी, पन्नालालजी, राजेन्द्रकुमारजी आदि अनेक विद्वानोंको जब देखता हूँ तब मुझे प्रसन्नता होती है और लगता है कि ये विद्वान् समाजको बड़े सौभाग्यसे प्राप्त हुए हैं। इनके रहते समाजका भविष्य उज्ज्वल ही प्रतीत होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सोलापुर अधिवेशनमें आपने 'भूयादगाधः स विबोधवार्धिः' आदि इलोकके द्वारा भगवान् महावीर स्वामीके सम्यग्ज्ञानरूप समुद्रसे रत्नत्रय-प्राप्तिकी आकांक्षा प्रकट करते हुए बतलाया कि चूँकि समय थोड़ा रह गया है अतः यह हमारे जैसे वक्ताओंके लिये प्रसन्नताकी बात है (जनताने मीठी हँसी द्वारा अध्यक्ष महोदयकी निरभिमानताके प्रति हर्ष प्रकट किया)। आपने स्वस्ति श्री भट्टारक लक्ष्मीसेनजी महाराजके भाषणका उद्धरण देते हुए कहा कि भट्टारकजीने पण्डितका जो लक्षण बताया है वह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। स्वपरविज्ञानी जीव ही वस्तुतः पण्डित है। आजकल पण्डितशब्द कुछ संस्कृत पढ़े-लिखे लोगोंमें रूढ हो गया है, पर यथार्थ वात यह नहीं है। पण्डितशब्द पहिले जितना आदरसूचक था, आज समाजमें उतना अनादरसूचक हो गया है। यह समयका फेर है और पण्डितोंकी अपने आपकी कमी भी है।

सम्यग्ज्ञानके अभावमें सर्वागमधारी होकर भी विद्वान् नहीं हो सकता, उसका ज्ञान बेकार है। मिथ्याज्ञानसे मनुष्यकी शोभा नहीं, वह तो प्राणिमात्रके होता है, सम्यग्ज्ञानके समान कल्याणकारी अन्य वस्तु नहीं। शास्त्रज्ञान उतना कीमती नहीं जितना कि आत्मज्ञान। मैं चाहता हूँ कि हमारे विद्वान् इस विभूतिको प्राप्त करनेका प्रयत्न करें। इसीके सिलसिलेमें आपने अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणका शास्त्रीय स्वरूप बड़ी स्पष्टतासे जनताके समक्ष प्रकट किया।

भाषणके अन्तमें आपने बतलाया कि विद्वानोंमें संगठन हो, उन्नति हो, विकास हो, समयकी परख हो और कर्त्तव्यपटुता हो। विद्वान् अपने दायित्वको समझें। इसीसे विद्वत्परिषद् प्रगतिशील होगी। ● ●

श्रीमान् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनी

(मथुरा—१९४६ अधिवेशनके अध्यक्ष)

का

भाषण-सार

प्रत्येक समाज व धर्मपरम्पराका सञ्चालन उस समाजके प्रबुद्ध तथा सच्चरित्र व्यक्तियोंद्वारा होता आया है। जैनधर्मकी परम्परा प्रवाहरूपसे तीर्थंकरोंके कालसे चली आ रही है। प्रत्येक तीर्थंकर भगवान् अपने समयके सर्वोच्च उपदेष्टा होते थे। जब दो तीर्थंकरोंके मध्यकालका वहुत बड़ा अन्तर रहता था उससमय धर्म व समाजका सम्पोषण तत्कालीन दिगम्बराचार्योंद्वारा हुआ।

भगवान् महावीरके बाद वहुत कालतक इस पंचम कालमें भी आचार्यपरम्परा इस प्रवाहको आगे वढ़ाती रही, पर कालके प्रभावसे आचार्योंमें भी पक्षव्यामोह व संघ-गण-गच्छव्यामोहने घर कर लिया और अनेक संघभेद हो गए। समाजमें भी, जो जिनकी शिष्यपरम्परामें आए उनमें आचार-विचारभेद होता गया। राजकीय परिस्थिति बदलनेपर म्लेच्छ राजाओंके अत्याचारोंके कारण मुनिधर्म न चल सका, तब जिनके हाथमें नेतृत्व था वे सवस्त्र भट्टारक हुए। उनकी कृतियोंने उनकी भी स्थिति समाप्त करदी, तब समाज नेतृत्वविहीन हो गई। नगरकी आम जैन जनताके हाथ सत्ता आई और पंचायतोंकी जगह-जगह स्थापना हुई, पंचायती शासन चला। कालान्तरमें कुछ अहंमन्य पंचोंकी मनमानी तथा स्वच्छन्दताके कारण उस बंधनसे ही जनता निकल भागी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आजका वर्तमान युग विद्वानोंका युग है। समाजमें धर्मके ज्ञाता भी विद्वान् हैं और राज्यभाषाके विद्वानों-का भी एक वर्ग है तथापि दोनोंमें इस समय सामञ्जस्य नहीं है। क्वचित् है जो न के बराबर है। राज्यभाषाके अध्येता अधिक हैं, और धर्मशास्त्री कम संख्यामें हैं। संख्या राज्यभाषाके विद्वानोंकी बढ़तीपर है, और धर्मशास्त्रियोंकी घटतीपर। कारण स्पष्ट है कि राज्यभाषाके विद्वानोंको राज्याश्रय प्राप्त हो जाता है, पर धर्मशास्त्री केवल समाजाश्रित हैं। राज्यभाषाके विद्वान् आधुनिक विदेशी पद्धतिपर समाजकी रचना बदलना चाहते हैं। किन्तु धर्मके विद्वान् प्राचीन पद्धतिपर धार्मिक उन्नतिके साथ समाजकी रचनाके पक्षकार हैं। दोनों प्रकारके विद्वानोंमें उक्त कारणोंसे काफी मतभेद है। समाज अस्तव्यस्त हो रही है, धर्मकी नींव हिल रही है। ऐसे समय धर्मके अध्येता विद्वानोंने अपना संगठन का शास्त्रीपरिषद्की स्थापना की। कुछ समय उसका कार्य अच्छा चला, पर उसमें पुरातन पंडितोंकी ही प्रमुखता रही, नये विद्वानोंको उसमें विचारभेदोंके कारण स्थान नहीं मिला। कुछ समय बाद वह भी समाप्त हो गई।

कलकत्तामें वीरशासन-जयन्तीका प्रथमोत्सव था। बड़ा जोर-शोर था। इसमें यद्यपि जैन शास्त्रियोंको कोई खास आमंत्रण नहीं था तब भी उन्हें आकर्षण था, अतः पचीसों विद्वान् अपने-अपने खर्चसे भी उसमें सम्मिलित होने पहुँचे थे। वीरशासन-जयन्ती एक नया पर्व मनाया जा रहा है। उनका विज्ञापन भी बहुत था। इसलिए विद्वानोंको आकर्षण था।

वहाँके कार्यक्रममें दर्शन-विभाग, धर्म-विभाग, इतिहास-विभाग आदि नाना विभागोंमें समितियोंकी रचना थी और उसमें आंग्लविद्याके पारगामी जैन या जैनेतर विद्वान् ही सर्वेसर्वा थे। जैन संस्कृतज्ञ धर्म-शास्त्रियोंका उसमें एक भी नाम न था। ऐसा लगता था कि बुद्धिपूर्वक उनका बहिष्कार रखा गया है। अन्यथा वीरप्रभुके शासनकी जयन्ती हो और उसमें वीर-शासनके निष्णात विद्वानोंमें एक भी नाम न हो। ऐसा हो नहीं सकता था।

विद्वानोंने वहाँ इस समस्यापर विचार किया और समझा कि संगठनके युगमें असंगठित विद्वानोंकी कोई कीमत समाजमें नहीं है, फलतः वहाँ दि० जैन विद्वत्परिषद्की स्थापना पं० इन्द्रलालजी शास्त्री जयपुरकी जो एक पुरातन विद्वान् थे, किन्तु नये विद्वानोंके साथ जिनका धर्मवत्सलताका भाव था, प्रेरणापर श्री पं० श्रीलालजी पाटनी अलीगढ़की अध्यक्षतामें हुई। तबसे संस्था कार्य करती आ रही है। विद्वत्परिषद्के सामने बहुत कार्य हैं। उनकी संक्षिप्त रूपरेखा इसप्रकारकी वहाँ दिखाई गई थी—

१. विद्वानोंमें विचार-भेद होते हुए भी संगठन मजबूत रखना।
२. विद्वान्, जो भी धर्मके आस्थावान् हैं, इसके सदस्य बनाए जांय।
३. संस्थाओंमें (वणिग्वृत्तिके कारण) काम करनेवाले विद्वानोंके निर्वाहयोग्य वेतनमान स्थापित कराना व उसे चलाना।
४. समाजमें भाषण-लेखन-ग्रन्थानुवाद-नवग्रन्थ निर्माणद्वारा ज्ञानका प्रचार करना।
५. पुरातनग्रन्थोंका उद्धार।
६. स्थान-स्थानपर धर्मज्ञान करानेको पाठशालाओंकी स्थापना।
७. सामाजिक सुधार।
८. कुरीतियोंको दूर करनेके उपाय।
९. छात्रोंको ज्ञानाभ्यासके लिए साधनोंको सुलभ बनाना।
१०. कष्टमें पड़े विद्वानोंकी कौटुम्बिक सहायताका प्रयत्न।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, न्यायतीर्थ, सिद्धान्ताचार्य,

प्राचार्य स्याद्वाद-महाविद्यालय, वाराणसी

(सोनगढ़—१९४७ तृतीय तथा ललितपुर—१९५९ नवम अधिवेशनके अध्यक्ष)

का

भाषण-सार

: १ :

आपकी अध्यक्षतामें सोनगढ़में तृतीय और ललितपुरमें नवम अधिवेशन सम्पन्न हुआ। समयकी कमीके कारण आपका सोनगढ़का अध्यक्षीय भाषण मुद्रित नहीं हो सका था। मौखिक भाषणमें आपने सर्वप्रथम श्री कानजी स्वामीकी परीक्षा-प्रधानताका उल्लेख करते हुए उनके दिगम्बर धर्ममें आगमनका अभिनन्दन किया तथा सोनगढ़को श्रमणगढ़ बताते हुए वहाँके धार्मिक वातावरणकी प्रशंसा की।

विद्वत्परिषद्का परिचय देते हुए आपने उसकी स्थापनासे लेकर अब तकके कार्यकलापोंका उल्लेख किया। विद्वान्का क्या दायित्व है, इसपर भी आपने अच्छा प्रकाश डाला। धार्मिक शिक्षा-संस्थाओं और उनमें काम करनेवाले विद्वानोंकी स्थितिपर चर्चा करते हुए आपने समाजके कर्णधारोंका उनकी ओर ध्यान आकर्षित किया। अन्तमें मुमुक्षुत्वका अर्थ और उसकी परिणतिका अध्यात्मशैलीसे दिग्दर्शन कराया।

: २ :

ललितपुर अधिवेशनमें हुए आपके अध्यक्षीय भाषणका प्रकाशन विद्वत्परिषद्की ओरसे हुआ था। उसके कुछ स्तम्भ यहाँ समुद्धृत किये जाते हैं—

विद्वानोंके ऊपर बड़ा भारी उत्तरदायित्व है। वे शास्त्रज्ञ होनेके कारण मार्गदर्शक माने जाते हैं। यदि मार्गदर्शक ही समाजको मार्गभ्रष्ट करने लगे, तो मार्गकी सुरक्षा फिर कौन करेगा?

शास्त्रज्ञका मतलब होता है शास्त्रका ज्ञाता। किन्तु शास्त्रज्ञसे केवल इतनी ही आशा नहीं की जाती कि वह शास्त्रको मात्र जानता भर हो। ऐसा शास्त्रज्ञ शास्त्रोंका बोझा भर ढोनेवाला है। सच्चा शास्त्रज्ञ वह है जो शास्त्रको जानकर अपनी शक्तिके अनुसार अपने जीवनमें भी उसे लावे। मेरा यह कहनेसे यह मतलब नहीं है कि सब विद्वानोंको घर-बार छोड़कर त्यागी बन जाना चाहिये। किन्तु धर्मकी आधारभूत जो बातें हैं, जिनका आश्रय पाकर धर्मरूपी वृक्ष लहलहाता है वे तो हर-एक शास्त्रज्ञके जीवनमें होनी ही चाहिये। उनके सिवाय उससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि धर्मकी ओटमें भूलकर भी अधर्म नहीं करना चाहिये। जीवनमें धर्मको ढोंगके रूपमें अवतरित न करके उसे उसके वास्तविक रूपमें ही अवतरित करना चाहिये। और समाजमें ढोंगको पुजता देखकर भी ढोंगका ढोंग न रचकर उसका पर्दाफाश करनेका ही प्रयत्न करना चाहिये। यदि विद्वान् भी ढोंग रचने लगेंगे तो फिर विद्वान् और अविद्वान्में अन्तर ही क्या रहेगा? अतः विद्वानोंको तो यथार्थ रूपमें ही अपनी शक्ति भर धर्मका आचरण करना चाहिये।

आज जो नये और पुराने विद्वान दृष्टिगोचर होते हैं वे समाजके लिये गौरवभूत हैं। विद्वानोंकी जो स्थिति आज है वह दस वर्षोंके बाद नहीं रहेगी। क्योंकि विद्वानोंका स्रोत सूखने लगा है। और उसके कई कारण हैं। प्रथम तो जीवनका व्ययभार पहलेसे पंचगुना बढ़ गया है और बढ़ता जाता है। पहले ३५) माहवार मिलनेपर भी विद्वान्की गुजर हो जाती थी, आज सौ मिलनेपर भी नहीं होती। दूसरे, धार्मिक शिक्षाको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनावश्यक माना जाने लगा है । श्रीमन्त लोग भी जितनी रुचिसे अपने बच्चोंको लौकिक शिक्षा दिलाते हैं और उसका व्ययभार उठाते हैं, उतनी रुचिसे न धार्मिक शिक्षा दिलाते हैं और न व्ययभार ही उठाते । फलतः स्थानीय पाठशालाएँ उठती जाती हैं, और जो विद्वान उनमें काम करते हैं उनकी स्थिति दिन-पर-दिन शोचनीय होती जाती है । यह सब स्थितिको देखकर नये शिक्षितोंके मानस भी बदलते जाते हैं । दूसरी ओर भारतके स्वतंत्र हो जानेसे आजके प्रत्येक नागरिकके सामने उन्नतिके सब द्वार खुल गये हैं । आजका नवयुवक देशकी इस प्रगतिमें अपना योगदान देनेके लिये उत्सुक है । अतः वह जीवनमें आगे बढ़ना चाहता है, अब उसे कोरा पंडित बनकर ६०)/-७०) माहवारपर अपने जीवनको बेच देना सह्य नहीं है । पहले विद्वानोंको मान-सम्मान मिलता था, उससे भी पैसेकी कमीकी थोड़ी पूर्ति हो जाती थी, अब वह भी समाप्त होता जाता है ।

ऐसी स्थितिमें विद्वत्ताकी धूनी रमाना आज सबके लिये कठिन है । अब तो विरले साधक ही उस मार्गमें रह सकेंगे । जिनके पीछे कुटुम्बका भार है उन विद्वानोंको भरपेट देना भी समाजको अखरता है । वही समाज उन साधुओंके लिये लाखों रुपया खर्च करनेको तैयार है, जिनके पीछे कोई भार नहीं है । फलतः विद्वान तो अर्थाभावसे पीड़ित होकर इस मार्गसे हटते जाते हैं और निर्ग्रन्थ साधु अर्थके भारसे पीड़ित होकर अपने मार्गसे हटते जाते हैं । हमारी समाजकी विचित्र स्थिति है ।

आज जो नव-शिक्षित संस्कृत-शिक्षाके साथ अंग्रेजी पढ़कर स्कूलों और कालेजोंमें अध्यापक हो गये हैं, जैन समाजके विद्वानोंसे उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी है और वे अपने जीवनमें सुखी हैं । यदि वे नव-शिक्षित जैन समाजको एकदम न भुलाकर समय-समयपर अपनी सेवाएँ उसे प्रदान करते रहें तो उन्हें समाज-से विशेष आदर प्राप्त होगा और समाजको भी बिना कुछ व्यय किये उनसे पूरा लाभ होगा । ऐसे जैन-शिक्षितों-से मैं अपील करता हूँ कि वे अपना ध्यान समाजकी ओर भी दें और इसतरहसे सामाजिक ऋणसे मुक्त हों ।

चूंकि अब जैन विद्यालयोंमें पढ़नेवाले विद्वान बनकर समाजमें नहीं रहते इसलिये विद्यालयोंको अनुपयोगी समझ लेना भूल होगी । समाजके बच्चे हर हालतमें समाजके बच्चे हैं । आज इन विद्यालयोंके ही कारण न जाने कितने ऐसे धूलमें पड़े हुये चमकदार कण चांदी और सोनेके टुकड़े बनकर अपने जीवन-पथमें लगे हुए हैं । यदि उन्हें यह सहारा न मिलता तो पता नहीं आज वे किस हालतमें होते ! वे कहीं भी रहें, आखिर हैं तो हमारे ही जिगरके टुकड़े । उन्हें फलता-फूलता देखकर हमारी आँखें ठंडी होती हैं । हमारे समाजके नवयुवक यदि योग्य बनकर जीवनके हर एक क्षेत्रमें सफल होते हैं तो यह हमारे लिये गौरव की बात है । यह हमें नहीं भूल जाना चाहिये कि समाजमें शिक्षितोंकी संख्या जितनी ही अधिक होगी उतनी ही हमारी सामाजिक स्थितिका धरातल उठेगा ।

आगे हमें स्वतंत्र भारतमें स्वतंत्र नागरिकोंकी तरह जीना है । आगेका सामाजिक और धार्मिक जीवन संघर्षमय हो सकता है, उसके लिये हमें सदा तैयार रहना होगा । यदि हम असावधान रहे तो पीस दिये जावेंगे । इस सत्यको हमें भूलना नहीं चाहिये ।

अतः शिक्षा और शिक्षा-संस्थाओंकी ओर विशेष लक्ष्य देनेकी जरूरत है । फिर, धार्मिक शिक्षा-संस्थाओंको तो हमें हर हालतमें बनाये रखना चाहिये, क्योंकि ये बंद हो गईं तो महान् जैनाचार्योंके ग्रन्थों का पठन-पाठन फिर पहलेकी तरह उठ जायेगा । और तब समाजके सामने जीवन-मरणका प्रश्न उपस्थित हो जायेगा । जैन ग्रन्थोंका पठन-पाठन हर हालतमें उत्तम है । उसका संस्कार जीवन भर नहीं जाता । अतः जैन विद्यालयोंको समाजसे प्रोत्साहन मिलते रहना चाहिये ।

इस संबंधमें मैं दानवीर साहू शांतिप्रसादजी तथा उनकी धर्मपत्नी रमारानीजीका विशेष कृतज्ञ हूँ । और हम सबको उनका कृतज्ञ होना चाहिये ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्होंने अभी ही सागरके गणेशवर्णी विद्यालयको पाँच हजार रुपया वार्षिककी स्थायी सहायता देनेका वचन दिया है। इससे पूर्व भी वे श्री स्याद्वाद महाविद्यालयको डेढ़ लाख रुपया प्रदान कर चुके हैं। उन्होंने भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना करके दिगम्बर जैनाचार्योंके द्वारा रचित महाबन्ध, तत्त्वार्थराजवार्तिक, न्यायविनिश्चयालंकार, सिद्धिविनिश्चय, जैनेन्द्रमहावृत्ति जैसे महान् ग्रन्थोंको छापकर प्रकाशित कराया है और अनेक ग्रंथ प्रकाशित होनेवाले हैं। उनका यह जिनवाणी-प्रेम अनुकरणीय और उदाहरणीय है। वे प्रतिवर्ष हजारों रुपया छात्रवृत्तिके रूपमें प्रदान करते हैं। इस प्रांतके गजरथ-प्रेमियोंको अपने द्रव्यका उपयोग करनेमें उनके जीवनसे शिक्षा लेनी चाहिये। खेद है कि यहाँके धनिक गजरथोंमें तो लाखों रुपया व्यय कर देते हैं किन्तु अपने ही प्रांतके गरीब छात्रोंके लिये कोई आदर्श छात्रवृत्ति फण्ड स्थापित नहीं करते। इस प्रांतके लिये इसकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। मैं साहूजी तथा उनके परिवारको पुनः पुनः धन्यवाद देता हूँ और जिनेन्द्रदेवसे प्रार्थना करता हूँ कि उनका यह धर्म-प्रेम और उदारता दिन-दूनी रात-चौगुनी वृद्धिगत हो।

भेलसाके श्रीमंत सेठ लक्ष्मीचंदजीके द्रव्यसे प्रो० हीरालालजीने पं० फूलचन्द्रजी सिद्धांतशास्त्री आदि विद्वानोंके सहयोगसे श्रीधवलजीके प्रकाशनका जो गुरुतर कार्य वहन किया था वह पूर्ण हो गया है और इसके लिये श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी, प्रो० हीरालालजी, पं० फूलचन्द्रजी और पं० बालचन्द्रजी शास्त्री धन्यवाद और बधाईके पात्र हैं। महाबंधका पूर्ण प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठकी ओरसे हो चुका है। उसका अनुवादादि कार्य भी पं० फूलचन्द्रजी शास्त्रीने किया है। भारतीय दि० जैन संघकी ओरसे जयधवलाका प्रकाशनकार्य चालू है, उसके भी अनुवादादिका भार पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री उठाये हुए हैं। उसका कार्य आधा हो चुका है, आधा शेष है। दानवीर सेठ भागचंद्रजी साहब डोंगरगढ़ने उसके प्रकाशनकार्यके लिये सोलह हजार रुपये प्रदान किये है। सेठ साहब तथा पं० फूलचन्द्रजी साहब इसके लिये धन्यवादार्ह हैं।

विद्वत्परिषद् मूलतः विद्वानोंका एक संगठन है। अतः प्रतिवर्ष विविध विषयोंपर विद्वानोंके द्वारा निबन्ध-पाठ प्रस्तुत करनेकी प्रवृत्तिको चालू करना आवश्यक है। इससे जैन तत्त्वज्ञानके विकासमें सहायता मिलेगी और विद्वानोंमें पठन-पाठन तथा शोध-कार्यकी अभिरुचि जाग्रत होगी। उत्तम निबन्धोंके लिये पारितोषिक भी होना चाहिये।

विद्वत्परिषद्ने जो शंका-समाधान चालू किया था वह बराबर चल रहा है और पं० रतनचन्द्रजी मुख्तार उसके लिये पर्याप्त समय देते हैं जिसके लिये वह धन्यवादके पात्र हैं।

सैद्धांतिक विषयोंमें मतभेद होना कोई नई बात नहीं है। पहले भी आचार्यों तकमें मतभेद रहा है। उन आचार्योंके मतभेदोंको मिटाना या उनके सम्बन्धमें ऊहापोह करके किसी निष्कर्षपर पहुँचना तो कठिन ही है, किन्तु आज जो मतभेद हैं उनपर शान्तिके साथ उहापोह किया जा सकता है।

उदाहरणके लिये क्रमबद्ध पर्यायका प्रश्न है। केवलज्ञान भूत और वर्तमानकी तरह भावि पर्यायोंको भी जानता है। यह निर्विवाद सत्य है। षट्खण्डागमसे लेकर उत्तरकालीन सभी ग्रंथों तकमें यही कथन पाया जाता है। केवलज्ञानी भविष्यको तभी जान सकता है जब वह निश्चित हो। अनिश्चित दशामें वह उसे निश्चितरूपसे नहीं जान सकता। केवलज्ञानकी बात छोड़िये। विपुलमति मनःपर्यय केवल चिन्तित और अर्धचिन्तितको ही नहीं जानता, अचिन्तितको भी जानता है। इसका मतलब यह हुआ कि भविष्यमें हम क्या सोचेंगे यह भी निश्चित है, अन्यथा मनःपर्ययज्ञानी अचिन्तितको कैसे जान सकता है?

और जैन शास्त्रोंमें बिना किसी मतभेदके अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानको भविष्यज्ञ भी बतलाया है। इससे क्रमबद्ध पर्यायकी सिद्धि होती है। और क्रमबद्ध पर्याय माननेसे नियतिवाद आ जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और नियतिवादके भयसे क्रमबद्ध पर्यायको न माननेपर सर्वज्ञकी सर्वज्ञताका खात्मा होता है। और सर्वज्ञ तमाम जिनशासनकी आधारशिला है। अतः हमें शान्तिके साथ पहले आपसमें इस बातपर विचार करनेकी जरूरत है। यदि इसी विषयपर पहले विद्वानोंसे निबन्ध बुलवाये जायें और फिर उनपर चर्चा हो तो उक्त विषयपर निर्णयात्मक प्रकाश पड़नेकी आशा की जा सकती है।

इस सम्बन्धमें मैं इतना और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि नियतिवाद-सिद्धान्तका प्रस्थापक मक्खलिपुत्र गोशालक श्वेताम्बरीय भगवतीसूत्रके अनुसार भगवान् महावीरकी छद्मस्थावस्थामें छै वर्ष तक उनका शिष्य बनकर रहा था और भगवान् महावीरकी भविष्यवाणियोंको अन्यथा करनेका प्रयत्न करके भी जब वह अन्यथा न कर सका तो वह नियतिवादी हो गया। अतः नियतिवादके बीज भविष्यज्ञतामें ही वर्तमान हैं। फिर भी जैनाचार्योंने नियतिवादको स्वीकार नहीं किया और न भविष्यज्ञताको ही छोड़ा। अतः भविष्यज्ञता और नियतिवादमें अवश्य अन्तर होना चाहिये। उसीको हमें खोजना है।

और भी आजकी कई चर्चायें हैं। जिनपर विद्वानोंको शांतचित्तसे विचार करना चाहिये। निमित्त और उपादान, पुण्य बनाम धर्म, निश्चय और व्यवहारमें साध्य-साधकभाव आदि ऐसे ही विषय हैं। जहाँ तक निमित्त और उपादानका प्रश्न है, निमित्तकी स्थिति इतनी सुदृढ़ है कि वह कुछ करे या न करे, किन्तु उसका कोई निषेध नहीं कर सकता। 'निमित्त है, किन्तु वह कुछ करता नही हैं केवल उपस्थित रहता है' इस कथनमें जो उसकी उपस्थिति है वह अपरिहार्य है। इस अन्वयपक्षको यदि व्यतिरेकका रूप दिया जाये तो कहना होगा, 'निमित्तकी उपस्थिति यदि न हो तो कार्य नहीं होता' यह व्यतिरेकपक्ष अन्वयपक्षका ही दूसरा पहलू है, किन्तु अध्यात्म इसे स्वीकार नहीं करता। अध्यात्मका मतलब है जो आत्माश्रित हो। जहाँ पराश्रितता है वहाँ अध्यात्म नहीं है, दर्शन है। दार्शनिक वस्तुविचारसे अध्यात्मविषयक विचार भिन्न पड़ता है। दार्शनिक वस्तुविचारका उद्देश्य वस्तुविश्लेषण है और अध्यात्मविषयक विचारका उद्देश्य है अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, अविशिष्ट आत्मस्वरूपकी प्राप्ति। उसमें रंच मात्र भी पराश्रितताका भान अध्यात्म-स्थितिसे च्युत कर देता है। अतः जितना भी वस्तुविश्लेषणात्मक विचार है सब दर्शन है— उसकी आवश्यकता वस्तुको समझनेके लिये उपयोगी है, अतः वह व्यवहारनयका विषय है; अध्यात्म निश्चयनयका विषय है। विवाद करनेवालोंके लिये पहला उपयोगी है, किन्तु आत्मोपलब्धिके अभिलाषियोंके लिए दूसरा उपयोगी है। कुन्दकुन्द स्वामीने समयसारमें स्वयं इस बातको स्पष्ट कर दिया है—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥१५६॥

विद्वान् लोग निश्चयके विषयभूत अर्थको छोड़कर व्यवहारद्वारा ही प्रवृत्ति करते हैं। किन्तु परमार्थका आश्रय करनेवाले यतीजनोंने ही कर्मोंका क्षय किया है।

अतः दार्शनिक वस्तुविचारसे अध्यात्मविषयक विचार जुदा है। इसीलिये देवसेनाचार्यने आलापपद्धतिमें अध्यात्मविषयक नयोंका कथन अन्तमें अलग किया है, 'अधुना अध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते।' और गुरुवर्य गोपालदासजीने अपने जैनसिद्धांतदर्पणमें शास्त्रीय नय और अध्यात्म नयोंका अलग-अलग कथन किया है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो मूल शास्त्रीय नय हैं तथा निश्चय और व्यवहार ये दो मूल अध्यात्मनय हैं। कुन्दकुन्दस्वामीके समयसारमें निश्चयनय और व्यवहारनयका ही कथन है। उनके भेद-प्रभेद उत्तरकालीन उपज हैं। कुन्दकुन्दस्वामीका निश्चयनय शुद्धनय है। उसके सिवाय सब नय अशुद्धनय हैं, अतः वे व्यवहारान्तर्भूत हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवहारनयको कुन्दकुन्दस्वामीने अभूतार्थ—असत्यार्थ कहा है। इसका मतलब यह नहीं है कि व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ है। किन्तु वह परमार्थोपयोगी नहीं होनेसे अभूतार्थ कहा गया है। इसीलिये परमार्थ-पथके पथिकोंके लिये उसका अनुसरण करनेका निषेध किया है। समयसारकी ११वीं और १२वीं गाथाओं और उनकी आत्मख्यातिको ध्यानपूर्वक पढ़नेसे वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती हैं। समयसारकी १२वीं गाथामें कहा है—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहरदेसिदा पुण जे दु अपरमे ठिदा भावे ॥१२॥

अर्थ—जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान् हुये हैं तथा पूर्ण ज्ञान-चारित्रवान् हो गये हैं उन्हें शुद्ध आत्माका उपदेश देनेवाले शुद्धनयको जानना चाहिए। और जो जीव अपरमभावमें अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञान, चारित्रके पूर्ण भावको नहीं पा सके, जोकि साधक अवस्थामें ही स्थिर हैं वे व्यवहारद्वारा उपदेश करनेके योग्य हैं।

उक्त गाथाका यह अर्थ मैंने यहाँ श्रीकानजी स्वामीके समयसार-प्रवचन प्रथम भागसे उद्धृत किया है। टीकाकार जयसेनाचार्यके अनुसार भी परमभावदर्शीका अर्थ है शुद्धात्मभावदर्शी। और 'अपरमे ठिदा' का अर्थ है अशुद्धभावमें स्थित। वे हैं चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थानवाले मुमुक्षु। उन्होंने लिखा है—

'ये पुरुषाः दु पुनः अपरमे अशुद्धे असंयतसम्यग्दृष्टयपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा ठिदा स्थिताः'।

अतः सातवें गुणस्थान तकके जीव व्यवहारनयके द्वारा उपदेश करनेके योग्य हैं। उससे ऊपरके शुद्धोपयोगमें स्थित जीवोंके लिए व्यवहारनयकी कोई उपयोगिता नहीं है, उन्हें तो शुद्धनय ही ज्ञातव्य है। उन्हींके लिए उसकी उपयोगिता है। अतः व्यवहारनय न तो सर्वथा अभूतार्थ ही है और न सर्वथा अनुपयोगी ही है। किन्तु वह आदेय नहीं है, हेय है। इसीसे अमृतचन्द्र सूरिने उक्त गाथाके कलशोंमें उसका अवलम्बन लेने पर खेद प्रकट करते हुए लिखा है—

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक् पदव्यामिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं, परविरहितमन्तःपश्यतां नैष किञ्चित् ॥

यहाँ मैं एक और वातकी ओर आप सवका, विशेषतया समयसार-रसिकोंका ध्यान खींचना चाहता हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि कुन्दकुन्दस्वामीने अपने ग्रन्थ मुख्यरूपसे श्रमणोंको लक्ष्यमें रखकर रचे हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि गृहस्थोंको उन्हें नहीं पढ़ना चाहिए। अवश्य पढ़ना चाहिए, किन्तु इस तथ्यको भी दृष्टिसे ओझल नहीं करना चाहिए। आप पूछेंगे, इसमें क्या प्रमाण है? समयसारका आरम्भ होता है— **'ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो।'** यह कथन छठे-सातवें गुणस्थानको लक्ष्यमें रखकर किया गया है। ज्ञायकभावस्वरूप आत्मा प्रमत्त भी नहीं अप्रमत्त भी नहीं। इसी तरह प्रवचनसारकी तो अनेक गाथाओंमें स्पष्टरूपसे श्रमणका निर्देश आता है। तथा उसका प्रारम्भ ही **'उवसपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसम्पत्ति'**से होता है। विना साम्यभावके मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। और मोह तथा क्षोभसे रहित आत्मपरिणामरूप साम्यभावका पात्र श्रमण होता है।

किन्तु खेद इस वातका है कि आजके विरले ही श्रमण कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंको उठाकर देखते हैं। आजका प्रत्येक दिगम्बर जैन श्रमण कुन्दकुन्दान्वय और मूल संघका अनुयायी है, किन्तु कुन्दकुन्दाचार्यने श्रमणोंके लिए क्या कहा है, इसे जाननेकी इच्छा भी विरल श्रमणोंमें ही पाई जाती है, जवकि गृहस्थजन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुन्दकुन्दके समयसारको खूब पढ़ते और सुनते हैं। कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है—जो एकको जानता है वह सबको जानता है और जो सबको जानता है वह एकको जानता है, तदनुसार यदि कहा जाये कि जो हेयोंको जानता है वही उपादेयको जानता है और जो उपादेयको जानता है वही हेयोंको जानता है, तो कोई अनुचित नहीं है। उपादेय तो केवल एक स्व है, उसके सिवाय सब हेय हैं। अतः उपादेयको जाननेके लिये जैसे हेयोंको जानना आवश्यक है वैसे ही एक समयसारको जाननेके लिए कुन्दकुन्द तथा अन्य आचार्य प्रणीत जैन ग्रन्थोंको भी जानना जरूरी है। उसके जाने बिना समय और उसके सारको नहीं जाना जा सकता। अतः समयसारके अभ्यासियोंको कम-से-कम कुन्दकुन्दके सभी ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना चाहिये।

चूँकि आजकल दि० जैन समाजकी चर्चाका प्रधान विषय उक्त बातें हैं इसलिए विद्वत्परिषद्में मैंने इनकी चर्चा करना उचित समझा। यह मेरा अपना दृष्टिकोण है जो मैंने विचारार्थ उपस्थित किया है। उसकी सत्यताके लिए मेरा कोई आग्रह नहीं है। एक च्युतपक्षपात तत्त्ववेदीकी तरह ही जो मैं समझ सका हूँ वह आपके सामने रख दिया है।

अन्तमें मैं समस्त दिगम्बर जैन विद्वानोंसे यह अनुरोध करूँगा कि वे विद्वत्परिषद्के सदस्य बनकर इसके संगठनको स्थायी और दृढ़ बनानेका प्रयत्न करें।

● ●

प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज

(बरुआसागर—१९४८ चतुर्थ अधिवेशनके अध्यक्ष)

का

भाषण सार

बरुआसागरका अधिवेशन पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णीकी अध्यक्षतामें संपन्न हुआ था। क्षुल्लक-दीक्षा संभवतः आपने यहीं जिन-प्रतिमाकी साक्षीपूर्वक ग्रहण की थी। आपका वरद् हस्त प्रत्येक विद्वानके मस्तकपर रहा है। विद्वत्परिषद् भी आप जैसे कल्पतरुकी शीतल-सुखद छायामें वृद्धिंगत हुई है। आपकी अध्यक्षतामें सम्पन्न अधिवेशनमें भाग लेनेके लिये दूर-दूरसे अनेक विद्वान पधारे थे। व्रती-सम्मेलन भी इसी समय आयोजित था, इसलिये अनेक व्रती महानुभाव भी यहाँ समासीन थे।

अधिवेशनमें अध्यक्षीय भाषण करते हुए उन्होंने कहा कि ये विद्वान जैनधर्मके प्राण हैं। इनकी बदौलत ही आज भारतमें जैनधर्म जीवित है। इनके द्वारा ही जैनसमाजकी प्रतिष्ठा बढ़ी है और इनके द्वारा ही हम पूर्वाचार्योंके द्वारा निर्मित महान् ग्रन्थोंको समझ सकते हैं। आज धवल, जयधवल जैसे महान् ग्रन्थ प्रकाशमें आ रहे हैं, यह इन्हीं लोगोंके पुरुषार्थका फल है।

विद्वत्परिषद् इन्हीं विद्वानोंकी सभा है। न जाने क्यों मेरे हृदयमें विद्वान्मात्रको देखकर अपार हर्ष होता है। यहाँ अनेक विद्वानोंको देखकर मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है। यह पंडित मुन्नालालजी रांधेलीय सागरसे आये हैं। यह सागरके बड़े विद्वान् हैं। सागर विद्यालयके प्रथम स्नातक हैं, बड़े प्रतिभाशाली हैं। पं० दयाचन्द्रजी बैठे हैं। इन्हें गोम्मटसार कण्ठस्थ जैसा है। कैलाशचन्द्रजी, राजेन्द्रकुमारजी, पन्नालालजी आदि विद्वान् उच्चकोटि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के विद्वान् हैं। इन लोगोंने मुझे अध्यक्ष बना दिया, सो इनकी महिमा कौन कहे। ये तो पत्थरको भी प्राण-प्रतिष्ठा कर भगवान् बना देते हैं, फिर हमारी तो बात ही क्या है ?

विद्वानोंसे क्या कहूँ ? उनसे तो मैं यही चाहता हूँ कि आप जैन समाजके मार्गदर्शक हैं, अतः अपने आपको इतना निर्मल बनाओ कि समाज आपको देख कर जैनधर्मको समझ जाय। पूज्यपाद स्वामीने निर्ग्रन्थ आचार्यका वर्णन करते हुए लिखा है 'अवाग्विसर्गं वपुषा मोक्षमार्गं निरूपयन्तं' वचनसे बोले बिना शरीरमात्रसे जो मोक्षमार्गका निरूपण कर रहे थे। उनकी शान्त मुद्रा देखकर लोग समझ जाते थे कि यह मोक्षका मार्ग है। ऐसा बननेसे ही विद्वान्के प्रति जनताका आदरभाव बढ़ सकेगा। आदरकी माँग करनेसे आदर नहीं मिलता, किन्तु उज्ज्वल आचरणसे मिलता है।

एक बातकी ओर, आप लोगोंका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ कि आप लोग जितने रुपये खर्च करें उतने पैसे धार्मिक कार्योंके लिये बचा कर रखलें। जैसे १०) का आप धोतीजोड़ा लायें तो १० पैसे धार्मिक कार्यके लिये अलग बचा लें। इससे दानकी प्रवृत्ति आपमें सरलतासे बढ़ जायगी। आपको कोई कष्ट भी नहीं होगा। ● ●

श्रीमान् पं० दयाचन्द्रजी शास्त्री, न्यायतीर्थ, स्याद्वादवारिधि, सागर

(खुरई—१९५३ षष्ठम अधिवेशनके अध्यक्ष)

का

भाषण-सार

आप प्रशमहृदय तथा जिनागमके मर्मज्ञ विद्वान हैं। आपके अध्यक्षीय भाषणका सार निम्न प्रकार है—

सज्जनों ! प्रत्येक लेखक एवं वक्ता अपने लेखों एवं व्याख्यानों द्वारा इस बातपर जोर दिया करता है कि समाजमें अमुक अमुक त्रुटियाँ घर कर गई हैं, जब तक समाज इन्हें दूर न कर देगी तब तक उसका कल्याण नहीं होगा इत्यादि। परन्तु इस बातपर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता कि समाज किस चिड़ियाका नाम है।

जिस तरह शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प आदि अवयवोंसे पृथक् कोई वृक्ष नहीं होता उसीप्रकार व्यक्तियोंसे जुदा कोई समाज नहीं। ऐसी अवस्थामें प्रत्येक व्यक्तिको उन्नतिमार्गमें आरूढ़ हो जानेपर ही समाज की उन्नति सम्भव हो सकती है। स्वहितका विघात करनेवाला व्यक्ति कभी समाजोन्नति करनेमें समर्थ नहीं हो सकता।

भगवान कुन्दकुन्दका वचन है कि—

आदहिदं कादव्वं जई सक्कई परहिदं च कादव्वं
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं

भावार्थ—अपनी आत्माका कल्याण करना चाहिये। यदि विशेष शक्ति हो तो दूसरोंका कल्याण करनेमें भी प्रवृत्ति करना चाहिये। परन्तु जहाँ उक्त दो कार्योंमेंसे एक ही किया जाना सम्भव हो वहाँ आत्मकल्याणको ही प्रमुखता देना चाहिये। इस सदुपदेशको साधारणजन स्वार्थपोषक कह सकते हैं परन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वशब्दके संस्कृतमें आत्मा, आत्मीय, ज्ञान और धन ये चार अर्थ हैं। इनमेंसे प्रथम अर्थकी अपेक्षा स्वार्थी बनना अत्युत्तम है। यदि विश्वका प्रत्येक व्यक्ति या अधिकांश व्यक्ति इस प्रकारके स्वार्थी (आत्मार्थी) बन जायें तो संसारकी समस्त अशान्ति क्षणमात्रमें दूर हो जाय। हमारे जैनोंको तो अवश्य ही इस प्रकारका स्वार्थी बन जाना चाहिये, क्योंकि हमारा धर्म तो आत्माकी भित्तिपर ही अवलम्बित है। सम्यग्दर्शन, जो धर्मका मुख्य अंग है, आत्मार्थीको ही प्राप्त हो सकता है। स्वशब्दके शेष तीन अर्थोंकी अपेक्षा स्वार्थी बनना जघन्य है, आजका विश्व इन अर्थोंकी अपेक्षा ही स्वार्थी बन रहा है, इसलिये उसमें त्राहि-त्राहि मच रही है।

विश्वकी दशा देखकर रोते रहनेकी अपेक्षा अपनी दशा सुधारनेके सत्प्रयत्नमें संलग्न हो जाना श्रेयस्कर है।

इस अवसरपर अपने विद्वन्मण्डलसे भी एक-दो बातें कर लेना उचित समझता हूँ।

सज्जनों! सौभाग्यसे हमारे मण्डलको वह ज्ञानरत्न प्राप्त है जो अनन्त भवोंमें एकाध बार ही प्राप्त हो सकता है। इसका सदुपयोग करना हमारा परम कर्त्तव्य है। इसके सदुपयोग द्वारा हम भवका अन्त भी कर सकते हैं। साधारण जनतासे यदि हमारा सदाचार उत्कृष्ट न हो तो हमारा ज्ञान प्रशंसनीय नहीं हो सकता। नीतिकारोंके इस वाक्यपर हमको सदा ध्यान रखना चाहिये कि—

ज्ञानं भारः क्रियां विना

इस प्रकार कहनेका हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि हमारे मण्डलमें सदाचारकी हीनता है परन्तु मैं सिर्फ यह संकेत कर रहा हूँ कि हम जैन संस्कृतिके अनुसार सदाचारको ही अपना भूषण समझें, इसीमें हमारी शोभा है।

ज्ञानरत्नका प्रचार करना भी हमारा मुख्य लक्ष्य होना चाहिये। हमारे विद्वानोंमेंसे अधिकांश सज्जन विद्यालयों एवं पाठशालाओं द्वारा ज्ञानका प्रचार कर ही रहे हैं परन्तु जिस स्थानमें वे रहते हों वहाँ यदि स्वाध्याय-शाला न हो तो उसको अवश्य प्रारम्भ कर देना चाहिये और नियमितरूपसे उसमें प्रति-दिन घण्टा-आधघण्टाका समय देना चाहिये। यदि अधिक श्रोता उसमें सम्मिलित न हों तब भी उस कार्यको बन्द नहीं करना चाहिये। इससे प्रौढ़ जनोंमें ज्ञानका विशेष प्रचार होगा और नूतन ग्रन्थोंके स्वाध्याय द्वारा निजका ज्ञान भी वृद्धिगत होता रहेगा।

नवीन प्रस्तावों एवं सुझाओंके विषयमें मैं यह कह देना उचित समझता हूँ कि उनकी संख्या चाहे न्यून रहे परन्तु उनको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिये अपनी समस्त शक्ति लगा देना चाहिये। प्राचीन प्रस्ताव भी जो कार्यरूपमें परिणत नहीं हो सके हों उन्हें भी कार्यरूपमें परिणत करने का प्रयत्न करना चाहिये।

● ●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, काशी

(द्रोणगिरि—१९५५ सप्तम अधिवेशनके अध्यक्ष)

का

भाषण-सार

गौरवमय इतिहास

सांस्कृतिक और सामाजिक कार्योंकी दृष्टिसे विद्वानोंका इतिहास गौरवमय हैं। इस समय विविध भाषाओंमें उत्तरकालवर्ती जो भी जैनसाहित्य उपलब्ध होता हैं उसकी रचनामें इनका बहुत बड़ा हाथ हैं। अपने पूर्ववर्ती विद्वानोंका स्मरण करते समय सबसे पहले हमारा ध्यान पण्डितप्रवर आशाधरजीकी ओर जाता है। गृहस्थ होते हुए भी इनके पास मुनितक शिक्षा लेनेके लिए आते थे। इन्होंने धर्मशास्त्र, न्याय और साहित्य आदि अनेक विषयों पर उच्चकोटिकी मौलिक रचनाएँ की हैं। कविवर मेधावी और अपभ्रंश भाषामें विविध विषयोंके रचयिता कविवर रइधू भी गृहस्थ ही थे। आगे चलकर भाषा-साहित्यकी दृष्टिसे कविवर बनारसीदासजी, भगवतीदासजी, टोड़रमल्लजी, दौलतरामजी और जयचन्दजी आदि विद्वानोंने जो कार्य किये हैं वे स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित करने लायक हैं। वस्तुतः इस समय जैनधर्मका जो भी प्रवाह दिखाई देता है वह इनकी पुनीत ग्रन्थ-रचनाओं और सामाजिक सेवाओंका ही फल हैं। यदि हम वर्तमान युगका ही विचार करें तो भी हमें निराश होनेका कोई कारण नहीं दिखाई देता। वर्तमान युगके विद्वानोंकी यह परम्परा पूज्यपाद गुरुवर्य्य पं० गोपालदासजी और पूज्यपाद श्री १०५ गुरुवर्य्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णीसे प्रारम्भ होती हैं। ये दोनों इस युगके ऐसे प्रकाशमान् नक्षत्र हैं जिनके पुनीत प्रकाशसे धर्म और समाजकी चहुँमुखी उन्नति हुई और हो रही हैं। हमारी सांस्कृतिक और सामाजिक परम्पराके प्रतीक पूज्य गुरु पं० देवकीनन्दनजी सा० तो आज हमारे बीचमें नहीं हैं, पर ज्ञानवृद्ध पूज्य गुरु पं० वंशीधरजी सा० आदि जो दूसरे विद्वान् प्रत्येक क्षेत्रमें कार्य कर रहे हैं उनकी सेवाएँ क्या कम हैं ? वस्तुतः इन सब विद्वानोंकी तपश्चर्याका ही यह फल है कि समाज आज प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिमें अपनेको खड़ा हुआ पाती है।

संगठनको दृढ़ करनेके मूलभूत आधार

इतना सब होते हुए भी हमें यहाँ एक ऐसे विषयपर गहराईसे विचार करना है जो हमारे सांस्कृतिक और सामाजिक जीवनसे सम्बन्ध रखता है। वह विषय है हमारा संगठन। इसके पहले भी विद्वानोंका एक संगठन था किन्तु उसके ढीला पढ़ने पर विद्वत्परिषदके रूपमें पुनः सब विद्वानोंने मिलकर यह संगठन बनाया है। इस संगठनको स्थापित हुए भी लगभग ११ वर्ष हो गये हैं। इस बीच इसके द्वारा दो बार शिक्षणशिविर संचालित किये गये हैं—एक मथुरामें और दूसरा सागरमें। इनसे कुछ विद्वानोंको अपनी योग्यता बढ़ानेमें सहायता तो मिली ही। साथ ही एक दूसरेके सम्पर्कमें आनेसे हमें एक-दूसरेको समझने और अपनी गुणोन्नति करनेमें भी सहायता मिली हैं। शिक्षणशिविरके अतिरिक्त विद्वत्परिषद्ने कुछ और भी उपयोगी कार्य किये हैं जो इसके शुभारम्भको सूचित करनेके लिए पर्याप्त हैं। तथापि हमें इतने मात्रसे संतुष्ट नहीं होना चाहिए। किन्तु हमें उन बातोंपर भी विचार करना चाहिए, जो संगठनको दृढ़ करनेके लिए आवश्यक होती हैं।

संगठनको दृढ़ करनेके मुख्य आधार ये हैं—एक दूसरेके हितके लिए कार्य करना, परिचित या अपरिचित अपने किसी साथी पर किसी प्रकारकी आपत्ति आनेपर यथासम्भव योग्य सहायता द्वारा उसके परिहारके लिए प्रयत्नशील होना, योग्यता और निष्ठाके आधारपर सामाजिक कार्यकर्ताके रूपमें प्रत्येक विद्वान्को आगे बढ़ानेमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सहायता करना और जिन कार्योंके करनेसे एक विद्वान्‌को दूसरे विद्वान्‌के विषयमें शंका उत्पन्न होना सम्भव है उन कार्योंसे अपनेको दूर रखना आदि।

ये संगठनके कुछ आधारभूत सिद्धान्त हैं जो व्यक्तिके जीवनमें तो उपयोगी हैं ही, सार्वजनिक क्षेत्रमें भी उपयोगी हैं। इनको जीवनमें स्वीकार कर लेने पर भी अधिकतर मनीषियों द्वारा कार्यक्षेत्रमें कुछ ऐसीं भूलें होती हैं जो परस्परके मनोमालिन्यका कारण बन जाती हैं। मेरी समझसे यहाँ उनकी स्पष्ट चर्चा कर लेना अनुचित न होगा।

१. प्रायः कुछ व्यक्तियोंमें यह मनोवृत्ति देखी जाती है कि जिस संस्थासे उनका निकट सम्बन्ध होता है मात्र उसीके लिए वे प्रयत्न करते हैं। वे उस संस्थाकी उन्नतिमें लगे रहें, यहाँ तक तो ठीक है, क्योंकि उसकी उन्नति और सञ्चालनका भार उनपर अवलम्बित है। परन्तु इसके साथ वे दूसरा कार्य यह करने लगते हैं कि यदि उनकी उपस्थितिमें अन्य संस्थाके लिए कोई प्रयत्न होता है तो वे प्रत्यक्ष या परोक्षमें किसी न किसी प्रकारसे उसको धक्का पहुँचानेमें जरा भी संकोच नहीं करते। मेरी समझमें इस प्रकारकी मनोवृत्ति सांस्कृतिक क्षेत्रमें हितावह नहीं मानी जा सकती। वस्तुतः जितनी भी सार्वजनिक संस्थाएँ कार्य कर रही हैं वे सब एक ही सांस्कृतिक उद्देश्यकी पूर्तिके लिए स्थापित की गई हैं, इसलिए वे एक हैं। यदि हम किसी अन्य संस्था या उसके कार्यकर्ताकी निन्दा करते हैं तो वह केवल उस संस्थाकी निन्दा न होकर हमारे सांस्कृतिक उद्देश्यकी ही निन्दा होती है। ऐसा कौन विद्वान् होगा जो पूज्य श्री १०८ मुनि समन्तभद्रजी महाराज और पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णीको नहीं जानता होगा। इन दोनों महानुभावोंमें जो हमें सबसे बड़ी विशेषता दिखाई देती है वह यह कि इन दोनोंने अपने जीवनमें कभी भी एक संस्थासे दूसरी संस्थामें भेद नहीं होने दिया। यदि जैनत्वके प्राणस्वरूप एक मन्दिरसे दूसरे मन्दिरमें भेद नहीं किया जा सकता तो फिर संस्कृतिका संरक्षण और संवर्द्धन करनेवाली एक संस्थासे दूसरी संस्थामें भेद कैसे हो सकता है? यदि समाजके कुछ व्यक्ति इस प्रकारका भेद करते हैं तो करें, पर जिन विद्वानोंपर संस्कृति और समाजके संचालनका उत्तरदायित्व है वे ऐसे हलके विचारसे अपनेको बचाकर चलें, यही संस्कृति और समाजमें हितमें उचित प्रतीत होता है।

२. प्रायः विद्वानोंमें कई विषयोंमें मतभेद दिखाई देता है। किसी मतभेदका सम्बन्ध केवल आगमसे होता है और किसीका सम्बन्ध आगम और समाज दोनोंसे। जिसका सम्बन्ध मात्र आगमसे होता है उसे तो हम सह लेते हैं। अथवा वह विशेष बुराईका कारण नहीं बनता। वस्तुतः मतभेद वहीं पर उग्र रूप धारण करता है जिसकी प्रतिक्रिया स्पष्टतः समाजमें दिखाई देती है। ऐसे समयमें अधिकतर विद्वान् अपने संतुलनको खो बैठते हैं और अपने साथियोंपर आग बरसाना प्रारम्भ कर देते हैं। हम यह तो मानते हैं, कि जो विचार नया प्रतीत होता है उसकी आलोचना होनी चाहिए। इतना ही नहीं वह विचार सहसा कार्यान्वित न हो सके, इसके लिए प्रयत्न भी होना चाहिए। हमें इस विषयमें पूज्य पं० देवकीनन्दनजी सा० का स्मरण होता है। उनके जीवनमें हमें बड़ी विलक्षणता देखनेमें आई। वे विचारक थे और सामाजिक कार्यकर्ता भी। जहाँ तक विचारका सम्बन्ध था वे नाक मुँह सिकोड़ना और इस आधारसे समाजको भड़काना जानते ही नहीं थे। विचारकके लिए उनके हृदयमें जो उच्च स्थान था उससे कही अधिक वे सामाजिक कर्त्तव्यका अनुवर्तन करते थे। तत्काल समाजका ढांचा क्या हो, इस विषयके ऊहापोहमें न पड़ कर हम इतना तो स्वीकार करते है कि द्रव्य, क्षेत्र और कालके अनुसार उसमें जो भी परिवर्तन हो वह सोच समझकर ही होना चाहिए। इसलिए हमारी समझसे समाजके लिये दोनों प्रकारके मनुष्योंकी आवश्यकता है। एक वे जो मार्गदर्शन कराकर समाजको आगे बढ़ानेमें सहायक होते है और दूसरे वे जो समाजको उच्छृंखल होनेसे बचाकर उसकी सीमाओंको रक्षा करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. लौकिक ख्याति एक बला है। इसके प्रलोभनमें पड़ कर कभी-कभी एक विद्वान् अपने दूसरे साथीको पीछे धकेलता हुआ देखा जाता है। यह हम अच्छी तरहसे जानते हैं कि ऐसी वृत्तिसे स्थायी लाभ नहीं होता, प्रत्युत कालान्तरमें यह विस्फोटका बहुत बड़ा कारण बन जाता है। यह तो हम मानते हैं कि जो व्यक्ति कर्तव्यशील है, व्याख्याता है और नेतृत्व करनेकी क्षमता रखता है उसे आगे बढ़नेसे कोई भी शक्ति नहीं रोक सकती। पर व्यक्तित्वकी एक मर्यादा होती है। यदि कोई व्यक्ति उस मर्यादाका उल्लंघन करता है तो ये समस्त गुण दोषमें परिणत हो जाते हैं। वर्तमान कालमें प्रायः सब विद्वानोंने पूज्य १०५ गुरुवर्य्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णीका नेतृत्व स्वीकार किया है। इसलिए हमें आँख खोलकर देखना चाहिए कि उनमें वह कौन-सा गुणविशेष है जिसके कारण हम उन्हें अपना केन्द्र बनाते हैं। जहाँ तक हमने उनके दैनिक व्यवहारको देखा है वे किसी भी सामाजिक कार्यकर्ता या विद्वान्के उनके समक्ष पहुँचने पर उसे हर प्रकारसे समाजके सम्पर्कमें लानेका प्रयत्न करते हैं। इतना ही नहीं, उसमें यदि कोई अच्छाई उन्हें दिखाई देती है तो वे उसे जनताके समक्ष रखनेमें भी नहीं हिचकिचाते। वह किस मतको माननेवाला है इस बातको वे अपने जीवनमें स्थान नहीं देते हैं।

४. हममें कुछ ऐसे भी मनीषी हैं जो विवेकको छोड़कर मात्र समाजके अनुवर्तनमें अपना लाभ देखते हैं। नेतृत्व किसके हाथमें रहे, इसके लिए सदासे प्रयत्न होता आया है। आज भी यह समस्या सबके सामने है। इस समय साधन और श्रमके मध्य नेतृत्वकी जो होड़ चल रही है उसका अन्तिम परिणाम क्या होगा, हम नहीं कह सकते। पर जहाँ तक हमारे सांस्कृतिक दृष्टिकोणका प्रश्न है, सब मामलोंमें त्याग और विवेकसे काम लिए जानेकी आवश्यकता है। इसलिए हमें साधन और श्रमका उचित आदर करते हुए विवेकको ही प्राधान्य देना है और यह तभी हो सकता है जब ऐसे विद्वान् अपना दृष्टिकोण बदलें। विद्वान् समाजके मुख और हाथ-पांव सब कुछ हैं। इस बदली हुई परिस्थितिमें तो उन्हें इस मामलेमें और भी गम्भीरता पूर्वक विचार करना है। ऐसा न हो कि हममेंसे कतिपय विद्वानोंके समाजका अन्धानुकरण करनेके कारण विवेकका बल उत्तरोत्तर घटता जाय और त्याग तथा विवेकमय इस परम्पराके अन्त होनेका दुर्दिन हमें देखना पड़े।

५. हममें एक दोष गुटबन्दीका भी दिखाई देता है। समाज और संस्कृतिके हितमें किसी कार्यक्रमको पूरा करनेके लिए संगठनकी आवश्यकताको हम अनुभव करते हैं। किन्तु जब कार्यक्रमके विषयमें किसी प्रकारका मतभेद न होने पर भी हम गुटबन्दी करते हैं और अपने गुटके व्यक्तिको छोड़ कर अन्यका अनादर करने पर उतारू हो जाते हैं तब उसे शुद्ध स्वार्थपूर्तिके सिवा और क्या कहा जा सकता है। इस दोषके कारण हमारी सांस्कृतिक और सामाजिक प्रवृत्तिको जो हानि पहुँच रही है वह किसीसे छिपी हुई नहीं है। इस कारण विद्वानोंका बल घटता है, यह बात स्पष्ट है।

ये चन्द ऐसे दोष हैं जो हमारे संगठनको पूरा नहीं होने देते हैं। प्रत्येक विद्वान्का ध्यान इस ओर जाय और वह इन दोषोंको दूर करनेमें सक्रिय सहयोग करके विद्वत्परिषदके संगठनको दृढ़ करनेमें सहायक बने इस पुनीत अभिप्रायको ध्यानमें रखकर ही हमने यहाँ इनकी विस्तृत चरचा की है, क्योंकि हम यह बहुत ही अच्छी तरह जानते हैं कि वर्तमान कालमें विश्वकी बात छोड़िए, भारतवर्षमें जो सामाजिक और सांस्कृतिक क्रान्तिके होनेके लक्षण दिखाई दे रहे हैं उनमें हमें समुचित स्थान ग्रहण करनेके लिए प्रयत्नशील होना है। यह कितनी बड़ी विडम्बनाकी बात है कि भारतवर्षको स्वराज्य दिलानेमें हमारा सांस्कृतिक कार्यक्रम सफल रहा और विश्वके आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक प्रश्नोंको सुलझानेमें भारतवर्ष उसी सह-अस्तित्व-मूलक अहिंसक व अनेकान्तात्मक दृष्टिकोणसे काम लेरहा है फिर भी उसका श्रेय हमें यत्किंचित् भी नहीं मिल रहा है। यद्यपि हम श्रेयके भूखे नहीं हैं पर पूरे तथ्य जनताके समक्ष न आ सकनेके कारण कदाचित्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सारी परिस्थितिके उलटनेका भय है। हमारे यहाँ अकम्पन आदि ७०० मुनियोंकी कथा आती है। बलिराजा द्वारा उनकी धार्मिक स्वतन्त्रताके छीननेका प्रयत्न करने पर उन्होंने अहिंसक सत्याग्रह द्वारा ही तो उसका प्रतीकार किया था। क्या हमें इस घटना या इसी प्रकारकी अन्य घटनाओंके आधार पर सत्यको उद्घाटित करनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिए, जो आज भारतवर्षकी राष्ट्रीय थाती मानी जाने लगी है। हमारा विश्वास है कि हमारे सब साथी व समाज इन तथ्योंको ध्यानमें रखकर अपने दृष्टिकोणमें न केवल विशालता लावेंगे अपितु वे और अधिक संगठित होकर उसका समुचित उपयोग करनेकी दिशामें योग्य कदम उठानेका भी प्रयत्न करेंगे।

समाजके प्रति

अपने भाषणको समाप्त करनेके पहले यदि हम समाजसे दो शब्द कहें तो अनुचित न होगा। बात यह है कि विद्वान् समाजके एक अङ्ग हैं। वे जो भी कार्य अपने हाथमें लेते हैं उसे पूरा करनेके लिए उन्हें समाजका वांछित सहयोग अपेक्षित है। अतः समाजका भी कर्त्तव्य है कि वह वर्तमान गतिविधिको देखते हुए अपने दृष्टिकोणमें मौलिक परिवर्तन करे। प्रथम तो उसे दिखाऊ कार्योंकी अपेक्षा स्थायी कार्योंके सञ्चालनकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। दूसरे, उसे विद्वानोंके प्रति अपने रुखमें समुचित परिवर्तन करना चाहिये, क्योंकि ये समाजके सक्रिय कार्यकर्त्ता हैं, वेतनभोगी नहीं। यह तो अपनी सांस्कृतिक परम्पराके अनुरूप विद्वानोंका पुरोहित वृत्तिको न स्वीकार करनेका फल है जिससे उन्हें इस स्थितिको स्वीकार कर निर्वाह करना पड़ रहा है। वस्तुतः यह उनके बड़प्पनका सूचक है, हीनवृत्तिका सूचक नहीं। यदि समाज कार्यकर्त्ताके रूपमें उनके प्रति समुचित आदर व्यक्त करती है तो इसमें समाजका ही हित है। यह इतिहाससिद्ध बात है कि जो समाज अपने कार्यकर्ताका आदर करना भूल जाती है उसकी भगवान् ही रक्षा करते हैं। तीसरे, वह ऐसे लोगोंके (चाहें वे त्यागी हों या अन्य कोई भी) बहकावेमें न आवे जो मतभेदकी या दूसरे प्रकारकी बातें आगे रखकर संस्थाओंकी प्रगतिमें बाधक बनते हैं। वर्तमान कालमें समाजको यह अनुभव करना है कि हमारी परम्पराकी यह गाड़ी विद्वानोंको सारथी बनाये बिना आगे नहीं बढ़ाई जा सकती। यदि यह भाव उसके चित्तमें अङ्कित हो जाता है तो सब समस्या सुलझ जाती है और विद्वान् व समाज दोनों मिलकर इस महान् परम्पराको आगे ले चलनेमें समर्थ होते हैं जो कि दोनोंका ध्येय है। ● ●

श्रीमान् पं० जीवन्धरजी न्यायतीर्थ इन्दौर

(श्री अतिशय क्षेत्र मढ़िया (जबलपुर)—१९५८ अष्टम अधिवेशनके अध्यक्ष)

का

भाषण-सार

वर्तमानमें जैन शासनकी रक्षाका और प्रभावनाका भार जैन पंचायतों प्रधानतया जैन साधु, जैन त्यागी और जैन विद्वानोंपर ही है—अतः अपने ऊपर आई हुई इस जिम्मेदारीपर विचार करना स्वाभाविक है।

आधुनिक वैज्ञानिक प्रगतिकी परकाष्ठाके युगमें जैनधर्मके प्रचार एवं प्रसारके साधन तो सुलभ है पर प्रचारक व प्रसारक सुलभ नहीं है। समाजद्वारा उपेक्षित व्यवहारसे विद्वानों और त्यागियोंकी स्थिति डावांडोल-सी हो रही है। उनकी मनोवृत्ति बदलती जा रही है। समाजकी यह भावना, कि विद्वान् अपनी सेवाओं और ज्ञानद्वारा संसारमें जैन धर्मका प्रकाश करें, तभी सफल हो सकती है, जब वह उनकी सांसा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रिक निर्वाह-योग्य व्यवस्थाएं आदरपूर्वक सुलभरूपमें पूर्ण करती रहे। पूज्य निग्रंथ साधुओं व त्यागियोंको भी एक-सा समझकर उनकी व्यर्थकी आलोचना और अवर्णवाद न कर उन्हें ज्ञानके साधनोंसे चारित्रमें दृढ़ बनानेका प्रयत्न करे। साथ ही दीक्षक गुरुओंसे व त्यागियोंसे भी विनय है कि वे देश-कालके अनुसार धर्म-ज्ञानसे परिपूर्ण शिष्यको सर्वथायोग्य देखकर ही निर्वाहयोग्य चारित्रकी दीक्षा प्रदान करें। इस समीक्षक युगमें समीचीन मार्गपर चलकर ही धर्मकी प्रभावना व्यक्ति कर सकेगा। जैसे आजकल पढ़ने वाले छात्रोंके अनुशासनपर जोर दिया जाता है, वैसे मेरी नम्र विचारणामें दीक्षक आचार्य महोदय भी शिष्योंको चारित्रके अनुशासनका पाठ अवश्य देंगें तब ही उनका मार्ग प्रशस्त व पूज्य होगा।

विद्वानोंकी नई पीढ़ीका अपने प्रति समाजकी विपरीत धारणा और आर्थिक कठिनाइयोंका अनुभव करते हुए अपने जीवनस्तरको अर्थके आधारपर ऊँचा बनानेकी दृष्टिसे आधुनिक शिक्षा-प्रणालीका अवलम्बन लेनेकी ओर ध्यान आकृष्ट हो चुका है। इसका परिणाम यह दिख रहा है कि जैन सिद्धान्त, न्याय, साहित्य, व्याकरण आदि विषयके जो ठोस विद्वान् आजसे १५ वर्ष पूर्व तक हुए, पीछेके १५ वर्षोंमें संस्कृतज्ञ विद्वान् तैयार नहीं हुए। यद्यपि संस्कृत-शिक्षणके साथ-साथ अंग्रेजी और हिन्दीकी उच्च शिक्षाका प्रचार हमारे नवीन विद्वानोंमें अवश्य बढ़ा है, तथा ऐसे शिक्षणोंसे विदेशमें या हमारे देशमें धर्म-प्रचारमें सहायता प्राप्त होती है, तथापि परिपूर्ण ज्ञानके बिना इसमें सफलता पाना संदेहास्पद प्रतीत होता है।

विद्वानोंको भी अपने कर्त्तव्य व उत्तरदायित्वको निभानेके लिये त्याग व सेवाभावको अपनाते रहना आवश्यक होगा। जैन धर्म व समाजकी सेवाके लिये संतोषी, शीलवान्, प्रामाणिक, सत्यनिष्ठ और निर्भीक बनते हुए जीवनमें सादगीको बनाये रखना चाहिये। हमें अपनी प्रतिष्ठा भौतिक समृद्धिके बलपर नहीं वरन्, उदारता और त्यागके बलपर बढ़ानी समुचित है।

अपने जीवममें स्वयं उतारे विना किसी भी सिद्धान्तका केवल उपदेश द्वारा प्रसार संभव नहीं। हमें इस बातका भी पूरा ध्यान आवश्यक हो जाता है कि कोई हम पर अनुचित आक्षेप न करे, जिससे हमारे व्यक्तित्व व विद्वत्समाजकी अप्रतिष्ठाका अवसर प्राप्त हो। हमारे आचार और विचारोंका प्रभाव समाज व जनतापर अच्छा पड़ना चाहिये।

समाजमें ऐसी बहुत-सी प्रवृतियाँ हैं जिनके सुधारमें विद्वान् तथा समाजके अग्रणो व्यक्तियोंके परामर्श द्वारा उचित मार्गदर्शनकी आवश्यकता है। यह कहना अनुचित न होगा, कि समाजमें जिन-जिन विषयोंमें सुधार अपेक्षित है उन्हींका समर्थनकर बीचमें बाधा उपस्थित करनेवाली शक्तियाँ भी हम लोगोंमें विद्यमान हैं। यही मुख्य हेतु है कि प्रतिगामी शक्तियोंकी सद्भावना व उदारता बिना सफलता मिलना दुर्लभ हो जाती है। इस संबंधमें मेरी विनम्र राय है कि समाजको व विद्वानोंको एक युगमें एक ऐसे प्रभावशाली उदारचेता श्रीमानों व विद्वानोंका परिगणित संघ स्थापित करना चाहिये, जिसकी विचारधारासे समाजमें अनुशासन हीनताका अंत होकर हमारे छोटे-से जैन समुदायको प्रतिसमय सत्य व सुयोग्य मार्गदर्शन मिलता रहे। इस स्वतंत्रताके युगमें जब इतना बड़ा साम्राज्य सुसंगठित चल रहा है तब हम उसी पुरानी परम्परामें डूबे रहें, यह समाजका दुर्भाग्य ही होगा।

समाज एवं विद्वानोंकी अनेक समस्यायें हैं जिन्हें प्रायः अन्य सब जानते हैं। उनमें जिन्हें हम विचार कर हलकर सकते हैं उन्हींका दिग्दर्शन कराया गया है। विद्वत्परिषद् विद्वानोंकी एक सुसंगठित संस्था है इसे जैन समाजके जिन विद्वानोंका सहयोग प्राप्त है उनमें जैन सिद्धांत, जैन न्याय, व्याकरण, साहित्य, अंग्रेजी, हिंदी, प्राकृत आदिके उत्कृष्ट विद्वान् सम्मलित हैं। सबमें किसी प्रकारकी विशेष योग्यता दृष्टिगोचर होती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है । मुझे यह जानकर गौरवका अनुभव होता है कि विचार-भेद होनेपर भी सब लोग सद्भाव और सहानुभूति के साथ अपने विभिन्न विचारोंका आदान-प्रदानद्वारा समन्वय कर लेते हैं । इसका उदाहरण मुझे ईशरीके विद्वत्सम्मेलनमें मिला, उससे मैं प्रभावित हूँ । मेरा अनुरोध है कि विद्वान् बंधु आगे भी इसी नीतिका पालन करते हुए परिषद्को सार्थक सिद्ध करेंगे ।

समाजने जिस भावनासे संस्कृत-शिक्षाके प्रसारके लिये महाविद्यालयोंकी स्थापना करके जैन सिद्धांत, जैन न्याय, व्याकरण,साहित्यका पठन-पाठन चालू किया था उसके सुफल देखकर वह लुप्त न हो जाय, इसकी चिन्ता विद्वानोंको अवश्य करनी चाहिये । समाजके संस्कृत-महाविद्यालयोंमें ऊँची कक्षाओंमें पढ़ने वाले छात्रों का न मिलना और अंग्रेजी शिक्षाकी ओर विद्यार्थियोंका अधिक झुकाव यद्यपि आगामी आजीविकाकी सुविधाके दृष्टिकोणको रखता है किन्तु पहलेके समान संस्थाओं व समाज द्वारा संस्कृत पढ़नेवाले विद्यार्थियोंको समयानुकूल प्रोत्साहन दिया जावे तो उच्च सस्कृत-शिक्षाकी परम्परा कायम रह सकती है, ऐसा मेरा विश्वास है ।

जैन विद्वानोंका कार्यक्षेत्र यद्यपि सीमित है । पर अपनी क्रियाशीलतासे उन्होंने राजनैतिक व साहित्यिक क्षेत्रमें भी अपना स्थान बनानेका प्रयत्न किया है । इसमें संदेह नहीं कि सामाजिक क्षेत्रमें भी स्वतंत्र आजीविका करने वाले निर्भीक व अच्छे माने जाते हैं तथापि यह सबके लिये साध्य नहीं तथा समाजसेवामें न्यूनता अवश्य रह जाती है । समाजके विद्वानोंको किसी भी कामको करते समय सेवाभावी अवश्य होना चाहिये । सेवा संपादन कराने वाले महानुभावोंका भी कर्त्तव्य है कि वह विद्वान्की सेवाका सम्मान करे तथा उसका मूल्यांकन करे । कोई भी व्यक्ति अपनी शक्तिका उपयोग प्रेमपूर्ण व्यवहारसे समाजकी सेवामें कर सकता है और उसी प्रकार समाज भी उससे लाभान्वित हो सकता है ।

आजकल यह देखा जाता है कि जैन स्कूल व जैन कॉलेजोंमें जो पहिले धार्मिक शिक्षण अनिवार्य था, उसे साम्प्रदायिकताके प्रचारका साधन बताकर बन्द किया जा रहा है । उन स्कूलों व कॉलेजोंमें जो भी धर्माध्यापक रहते हैं उनसे दूसरा काम लिया जाकर भी साथी अध्यापकोंके समान अधिकारोंसे वंचित रखा जाता है यह व्यवस्था उन विद्वानोंको संकटमय हो जाती है । संस्थाके संचालकोंको थोड़ी दृढ़तासे व कर्तव्य-दृष्टिसे काम लेना आवश्यक है, जिससे कि ऐसे अध्यापकोंको सदाचार-शिक्षण व नैतिक-शिक्षणके रूपसे आश्रय अवश्य मिले । पाठ्यक्रम भी ऐसा ही रखा जावे ताकि जैन सिद्धान्तके मुख्य तत्व उसमें आ जावें, जैनेतर लोगोंको सांप्रदायिकता प्रदर्शन करने वाले विषय गौण रखकर, साधारण व्यवहारोपयोगी विषय पाँच पापोंका स्वरूप, मद्य मांस मधुका त्याग, बीड़ी सिगरेट आदि दुर्व्यसनोंका निषेध, पंचशील वगैरहका वर्णन करने वाले पाठ्यक्रम द्वारा विद्यार्थियोंके जीवनमें नैतिक स्तर ठीक रखनेकी शिक्षाका प्रबन्ध होना चाहिये । उसीके अंतर्गत अहिंसा, अनेकान्त, कर्मसिद्धान्त आदिका शिक्षण भी दिया जा सकता है । संबन्धित विद्वानोंको भी पुराना ढँग शिक्षाका बदलकर आधुनिक ढंग अपनाना चाहिये । उक्त पाठ्यक्रमके निर्माणमें विद्वत्परिषद् भी अपना योग देकर जैन धर्मकी सेवाका लाभ अवश्य लेगी ।

वर्तमान युग अणुयुग कहा जाने लगा है । इस युगके वैज्ञानिकोंने अणु और उद्जन जैसे विध्वंसक शस्त्रोंका आविष्कार कर समस्त मानवताको कुछ ही घंटोंमें नष्ट करनेकी क्षमता प्राप्त कर ली है । हमारे देशमें जो अहिंसा और सत्यकी जगमगाती ज्योति निरन्तर जलती रहती है, उसका आदर्श ही आध्यात्मिकता और नैतिक स्तर बनाये रखना है । इस आदर्शको सुरक्षित रखने और भारतवर्षमें ही हुए श्रमण-संस्कृतिके प्रसारक हमारे पूर्वज तीर्थङ्करों, आचार्यों, और महापुरुषोंकी कीर्तिको दिगंतव्यापिनी बनाये रखनेके लिये हम भी अपना सक्रिय योगदान करें । इसीसे हमारा, हमारे धर्म व समाजकी स्थिरता बनी रहेगी ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य बीना
(सिवनी—१९६५ दशम अधिवेशनके अध्यक्ष)
का

भाषण—सार

सभी प्रकारकी कमियोंके बावजूद भी आपने मुझे इस महत्त्वपूर्ण पदपर प्रतिष्ठित कर दिया है और मैंने भी आपकी आज्ञाको शिरोधार्य कर लिया है, अतः मेरा कर्तव्य हो जाता है कि मैं उन समस्याओंको आपके समक्ष प्रस्तुत करूँ, जिनके विषयमें आपको गंभीरताके साथ मन्थन करना है तथा जिनको हल करनेका सुन्दरतम मार्ग भी आपको निश्चित करना है। इतना ही क्यों, उस मार्गपर दृढ़ताके साथ उत्साहपूर्वक आप सबको चलनेका संकल्प भी करना है।

१. विश्वके प्रांगणमें सर्वत्र आपको किसी न किसी संस्कृतिके दर्शन अवश्य होंगे। भारतवर्ष तो प्रचीनतम कालसे ही विविध संस्कृतियोंकी जन्मभूमि रही है तथा आज भी यहाँ अनेक संस्कृतियाँ विद्यमान हैं।

आप किसी भी संस्कृतिके ऊपर दृष्टिपात करेंगे तो उसमें आपको दो पहलू देखनेको मिलेंगे। उनमेंसे एक पहलू तो उस संस्कृतिके विशिष्ट तत्त्वज्ञानका होना और दूसरा पहलू मानव-प्राणियोंके जीवननिर्माणमें उपयोगी उस संस्कृतिकी आचार-पद्धतिका होना।

सम्पूर्ण मानव-समष्टिमें सांस्कृतिक आधारको लेकर जितने समाज पाये जाते हैं उनसे सम्बद्ध व्यक्तियोंका स्वाभाविकरूपसे यह कर्तव्य हो जाता है कि वे अपनी संस्कृतिके तत्त्वज्ञानके प्रति दृढ़तम आस्था रक्खें तथा उसमें उपदिष्ट आचारपद्धतिके आधारपर यथाशक्ति अपने जीवनका योग्य रूपमें निर्माण करें।

जैन संस्कृतिका मूल उद्देश्य जड़ पदार्थोंके साथ बद्ध रहनेके कारण परतंत्र हो रहे संसारी जीवको उन जड़पदार्थोंसे मुक्त करके स्वतन्त्र बनानेका है, लेकिन उस संसारी जीवको जबतक वैसे साधन प्राप्त न हो जावें तथा साधनोंके प्राप्त हो जानेपर भी जबतक वह जीव अपनी जीवनप्रवृत्तियोंको उस दिशामें मोड़ न दे तबतक उसका लक्ष्य सही ढंगसे जीवन व्यतीत करनेका होना चाहिये।

जीवन व्यतीत करनेका सही ढंग यह है कि यतः मनुष्य सामाजिक प्राणी है अतः एक मनुष्यको जब तक अन्य मनुष्योंका यथायोग्य सहयोग प्राप्त नहीं होगा तबतक उसे अपना जीवन-संचालन करना दुःसाध्य ही रहेगा। मानवसमाजमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णोंकी स्थापना मानवजीवनकी परस्पर सहयोग-निर्भरताकी सूचना देती है। आचार्य उमास्वामीका "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" सूत्रवाक्य भी इसी रहस्यका उद्घाटन कर रहा है। लेकिन मानव-समाजमें जब संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं तो उसमें कुटुम्ब, नगर, राष्ट्र आदिके रूपमें विद्यमान संगठनोंमें दरारें पड़ जाती हैं। वे संघर्ष भी तब उत्पन्न होते हैं जब एकके स्वार्थ दूसरेसे टकराने लगते हैं। प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक कुटुम्ब, प्रत्येक नगर और प्रत्येक राष्ट्रका स्वार्थ यह है कि ये सभी अपने-अपने ढंगसे दूसरोंकी अपेक्षा एक तो स्वयं वैभवशाली बनना चाहते हैं और दूसरे, दूसरोंकी उपेक्षा करके स्वयं मौजसे रहना चाहते हैं। सम्पूर्ण मानव-समाजकी आज यही संघर्षमय दशा हो रही है जिसके कारण प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक कुटुम्ब, प्रत्येक नगर और प्रत्येक देश संत्रस्त हो रहा है।

इस त्राससे छुटकारा पानेका जैनसंस्कृतिमें यह उपाय बतलाया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक कुटुम्ब, प्रत्येक नगर और प्रत्येक राष्ट्र "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" (दूसरोंके जिस व्यवहारसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमें त्रास होता है उस व्यवहारको हम दूसरोंके साथ न करें) के सिद्धान्तको अपने जीवनमें उतार लें। लेकिन यह तभी हो सकता है जब उक्त प्रत्येक वर्ग स्वयं वैभवशाली बनने और स्वयं मौज उड़ाने, अर्थात् संग्रह और भोगकी भावनाका त्याग करनेको तैयार हो जावें तथा अपनी जीवन-आवश्यकताओं और अधिकारोंके औचित्यको समझता और अपनाता हुआ दूसरोंके प्रति अपने अन्दर कर्तव्यभावनाका जागरण कर ले। जैन संस्कृतिकी आचार-पद्धति हमें यही उपदेश देती है।

(२) जैन संस्कृतिके तत्त्वज्ञानका पहलू भी आज काफी विवादग्रस्त बन गया है जिसको सुलझानेका भार वर्तमान विद्वद्वर्गका है, अतः मौजूदा विद्वद्वर्ग इसे यदि नहीं सुलझा सका तो जैन समाजकी भावी पीढ़ीके समक्ष वह अपराधी सिद्ध होगा तथा जैनसंस्कृतिके मानवकल्याणकारी बहुतसे गूढ़तम रहस्य सदाके लिये गुप्त ही बने रहेंगे।

जैन संस्कृतिका तत्त्वज्ञान व आचारपद्धति सर्वज्ञताके आधारपर स्थापित होनेसे विज्ञान समर्थित है। षड्द्रव्यों व सप्ततत्त्वोंकी अपने-अपने ढंगसे व्यवस्था, जीवके संसार और मोक्षकी व्यवस्था, संसारके कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग व मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी व्यवस्था, जीवकी अवनति और उन्नतिके आधारपर निर्मित गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवसमास आदिकी व्यवस्था, कर्मसिद्धांत, अनेकान्तवाद और स्याद्वाद, प्रमाण, नय और निक्षेपवाद, निश्चय और व्यवहार नयोंकी व्यवस्था, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय तथा नैगमादिनयोंकी स्थापनाका आधार व इनमें अर्थनय तथा शब्दनयका भेद आदि तत्त्वज्ञान सम्बन्धी विवेचन वैज्ञानिक तथा अन्य संस्कृतियोंकी तुलनामें सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो सकता है। इसीप्रकार आचारपद्धति भी समझदार लोगोंके गले उतरनेवाली है, अतः इन सब बातोंका हमें प्रचार करना है।

(३) यतः विद्वानोंकी जीवन-कठिनाइयाँ व परस्परके मतभेद अलगाव तथा संघर्ष उत्पन्न कर रहे हैं अतः इनका भी निराकरण होना अत्यन्त आवश्यक है। इतना ही नहीं, शिक्षाका प्रसार होनेपर भी संस्कृतिका जो विकास रुकता जा रहा है वह अधिक चिन्ताका विषय है। इसलिये न्यायमार्गकी ओर बढ़नेवाले व्यक्तियोंमें सांस्कृतिक अध्ययनकी रुचि जाग्रत करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि वे कौटुम्बिक समस्याओं से दूर रहते हैं, अतः विद्यालयोंमें छात्रके रूपमें रहनेकी ऐसे व्यक्तियोंको आवश्यक सुविधा प्रदान की जावे। इसके साथ ही पठन-पाठनमें वैज्ञानिक पद्धतिको विकसित करनेकी योजना बनायी जावे।

ये सब बातें विद्वत्परिषद्के उद्देश्यमें गर्भित हैं और उसके कार्यक्षेत्रमें आती हैं, अतः उसको इस विषयमें क्रियाशील बनकर अपनी जागरूकताका परिचय देना चाहिये।

अन्तमें मुझे एक संकेत और करना है कि अभीतक तो विद्वत्परिषद्पर प्रातःस्मरणीय पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी महाराजकी छत्रछाया रही है, परन्तु दुःख है कि यह दशम अधिवेशन उनके स्वर्गस्थ होनेके पश्चात् हो रहा है। वास्तवमें वर्णीजीने जैनसंस्कृतिकी सर्वांगीण उन्नतिका जीवनभर कार्य किया और जैनसंस्कृतिके अध्ययन-अध्यापनको निरन्तर जारी रक्खा, अतः उनके कार्यक्रमको जारी रखनेके लिये जगह-जगह वर्णी-स्वाध्यायशालाओंकी स्थापना करनेका विद्वत्परिषद् प्रयत्न करे।

विद्वत्परिषद्के श्रावस्ती नैमित्तिक अधिवेशनमें श्री पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्यने जो अध्यक्षीय भाषण दिया था उसका सार निम्न प्रकार है—

सिवनी (म०प्र०) में हुए साधारण अधिवेशनके ठीक दो वर्ष पश्चात् विद्वत्परिषद्का नैमित्तिक अधिवेशन करनेका जो सुयोग जैनसंस्कृतिकी प्राचीनतम और गौरवपूर्ण पवित्र तीर्थभूमि इस श्रावस्ती नगरीमें हो रहे पंचकल्याणक महोत्सवके अवसरपर प्राप्त हुआ उसका उपयोग करते हुए हमें विद्वत्परिषद्की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गतिशीलताको जीवित रखकर उसको सुदृढ़ बनाना है और उसके उद्देश्योंकी पूर्ति करनेकी योजनाओंको मूर्तरूप देना है।

विद्वत्परिषद्का वर्तमानमें जो कार्यक्रम चालू है उसके विषयमें विद्वत्परिषद्के सिवनी अधिवेशन द्वारा निर्णीत महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव आधार हैं जिनका उद्देश्य जैनसंस्कृतिके संरक्षण, विकास और प्रसारका है।

जैन संस्कृतिके संरक्षण, विकास और प्रसारकी आवश्यकतापर मैंने सिवनी अधिवेशनके अवसरपर पठित अपने भाषणमें विस्तारसे चर्चा की थी। उसमें मैंने बतलाया था कि विश्वकी सम्पूर्ण मानव-समष्टिके जीवनपर यदि दृष्टि डाली जाय तो यह बात अच्छी तरह समझमें आ सकती है कि प्रत्येक मानव-हृदयमें अनधिकारपूर्ण और न करने योग्य भोग व संग्रहकी असीम आकांक्षायें उद्दीप्त हो रही हैं तथा उनकी पूर्तिके लिये ही सम्पूर्ण विश्व अहिंसाके मार्गसे विमुख होकर परस्परके संघर्षमें रत हो रहा है। यद्यपि इसतरहकी आकांक्षायें व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्वके लिये अहितकर हैं तथापि इनके उन्मादमें मानवमात्रका विवेक समाप्त हो चुका है और इसतरह सम्पूर्ण मानव-समष्टिका जीवन त्रस्त है। इसको नष्ट करनेके लिये ही जैन संस्कृतिके पुरस्कर्ता महर्षियोंने अनुभवके आधारपर कुछ वैज्ञानिक सिद्धान्त मानव-जीवनके संचालनके लिये स्थिर किये थे जिनकी उपेक्षा कर देनेसे ही मानव-समष्टिकी यह त्रासमय स्थिति बनी हुई है। अब भी उन सिद्धांतोंको समझकर यदि हम अपने जीवनमें ढाल लें तो विश्वमें शान्ति स्थापित हो सकती है।

वास्तवमें विश्वके प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक कुटुम्ब, प्रत्येक समाज और प्रत्येक राष्ट्रने अपनी आवश्यकतायें अप्राकृतिक ढंगसे अधिकाधिक रूपमें बढ़ा रक्खी हैं और बढ़ाता ही चला जा रहा है। इसके अतिरिक्त सभी वस्तुओंके अमर्यादित संग्रहकी ओर भी वे झुके चले जा रहे हैं। इसतरह सम्पूर्ण मानवसमष्टिका जीवन परस्परकी विषमताओंसे भरा पड़ा है। ऐसी हालतमें परस्परमें संघर्षका होना अनिवार्य ही समझना चाहिये।

जैन संस्कृतिके पुरस्कर्ता तीर्थंकरों, विकासकर्ता गणधरदेवों और प्रसारकर्ता आचार्योंने उद्घोषित किया था कि भो मानवप्राणियों! यदि तुम अपना जीवन सुख और शान्तिपूर्वक व्यतीत करना चाहते हो तो जैन-संस्कृतिके "जिओ और जीने दो" के सिद्धान्तको हृदयंगम करो, क्योंकि इसमें मनके संकल्पोंको पवित्र और वाणीको अमृतमयी बनानेकी क्षमता है व इसके प्रभावसे प्राणियोंकी जीवन-प्रवृत्तियाँ एक दूसरे प्राणियोंके जीवनकी अप्रतिघाती बन सकती हैं। यही कारण है कि भगवज्जिनेन्द्रके पुजारीको प्रतिदिन पूजाकी समाप्ति पर जैनागममें **"क्षेमं सर्वप्रजानाम्"** की भावना भानेकी प्रेरणा की गयी है जिससे वह अपनी जीवन-प्रवृत्तियोंमें "जिओ और जीन दो" के सिद्धान्तको अपना सके।

"जिओ और जीने दो" के सिद्धान्तको जीवनमें उतारनेके लिये मानवमात्रको विवेकी और वीतरागी बननेकी अनिवार्य आवश्यकता है। मनुष्य विवेकी तभी बन सकता है जब वह अपनी ज्ञानशक्तिसे मोहका प्रभाव नष्ट कर दे ऐसा करनेसे उसे उसके जीवनसे राग और द्वेषका समूल नाश करनेका आधार प्राप्त हो जायगा।

बाह्य चेतन और अचेतन पदार्थोंमें हमारी इष्ट अथवा अनिष्ट बुद्धिका होना ही मोह है और इसकी प्रेरणासे उनमें प्रीति और अप्रीतिका होना क्रमशः राग तथा द्वेष हैं। वे जब तक समाप्त न हों तब तक मनुष्य अपनी मनुष्यताको सुरक्षित नहीं रख सकता है और न वह अपनेको तब तक सम्यग्दृष्टि, विवेकी समझदार अथवा ज्ञानी कहलानेका ही अधिकारी है।

उक्त मोह, राग तथा द्वेषके समाप्त हो जानेपर जब मनुष्य सम्यग्दृष्टि, विवेकी, समझदार अथवा ज्ञानी बन जायगा तब अशान्ति और संघर्षके बीज समाप्त हो जानेसे उसकी भावनामें, उसकी वाणीमें और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसके कार्योंमें "जिओ और जीने दो" का सिद्धान्त समा जायगा जिससे संपूर्ण विश्वमें शान्ति और सुखका साम्राज्य आनेमें देर नहीं लगेगी, लेकिन इस मार्गपर चलनेके लिये मनुष्यको मनोबलकी बड़ी आवश्यकता है। जिस व्यक्तिमें मनोबलका अभाव है उसका मन कभी उसके नियंत्रणमें रहनेवाला नहीं है और अनियंत्रित मनवाला व्यक्ति हमेशा लोकमें अन्याय व अत्याचाररूप अनुचित तथा जीवन-संरक्षणके लिये अनुपयोगी प्रवृत्तियाँ किया करता है, जिससे जीवनमें सुख और शान्ति सही अर्थोंमें नहीं आ सकती है। ऐसे व्यक्तिको जैन संस्कृतिमें मिथ्यादृष्टि, अविवेकी, अज्ञानी या अधर्मात्मा कहा गया है तथा जो व्यक्ति अपनेको मनोबलका धनी बना लेता है उसका मन उसके नियंत्रणमें हो जाता है और तब वह व्यक्ति अपनी अनेक प्रकारकी अनुचित, अनुपयोगी और अनावश्यक प्रवृत्तियोंको समाप्त कर केवल उचित, उपयोगी और आवश्यक प्रवृत्तियों तक ही अपना प्रयास सीमित कर लेता है।

इस प्रकार अपने जीवन-संरक्षणमें सफल व्यक्ति ही अपने अन्तःकरणमें आत्मकल्याणकी भावना जाग्रत कर सकता है, जोकि मानव-जीवनका मुख्य और अन्तिम ध्येय है। इसे प्राप्त करनेके लिये प्रत्येक व्यक्तिको मनोबलके साथ ही जीवनकी भोगादि वस्तुओंकी पराधीनताको समाप्त करनेवाले शारीरिक बल और आत्मबलकी भी आवश्यकता है। जैनागममें वर्णित बाह्य तप शारीरिक बलकी वृद्धिके और अन्तरंग तप आत्मबलकी वृद्धिके कारण हैं। जिस व्यक्तिके अन्दर मनोबलके साथ शारीरिक और आत्मिक दोनों बल यथाक्रमसे जितनी वृद्धिको प्राप्त होते जावेंगे उस व्यक्तिके सामने जीवन-संरक्षणका प्रश्न उतना ही गौण होता जायगा। इस प्रकार वह व्यक्ति धीरे-धीरे अणुव्रत-महाव्रत आदिके रूपमें निवृत्त्यात्मक मार्गपर अग्रसर होता हुआ आत्मस्वातंत्र्यकी प्राप्तिरूप सफलता प्राप्त कर लेगा।

जैन संस्कृतिके इस धार्मिक तत्त्वज्ञानके संरक्षण, विकास और प्रसारमें ही विद्वत्परिषदको अपनी शक्ति लगाना चाहिये और यही उसकी महती सफलता मानी जा सकती है। ● ●

श्रीमान् डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री

न्याय-काव्य-ज्योतिषतीर्थ, ज्योतिषाचार्य, आरा

(सागर—१९६८, एकादशम अधिवेशनके अध्यक्ष)

का

भाषण-सार

भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्की स्थापना आजसे दो युग पूर्व एशियाके महानगर कलकत्तामें हुई थी। तबसे अब तक पुरानी और नयी पीढ़ीके विद्वान् मिलकर इस संस्थाके माध्यमसे दि० जैन वाङ्मय और दिगम्बर जैन संस्कृतिके संरक्षण एवं सम्प्रसारणके हेतु अथक श्रम करते आ रहे हैं।

भगवान् महावीर एवं उनके गणधर केवलियोंकी परम्पराके पश्चात् जैन शासनका दायित्व श्रुतकेवलियोंपर आया। अनन्तर अन्य आरातीय आचार्यों और भट्टारकोंने इस दायित्वका वहन कर दिक्-दिगन्त जैनशासनका प्रचार-प्रसार किया। वास्तवमें ये आचार्य ग्रन्थ-रचना, मन्दिर-प्रतिष्ठा एवं धर्माराधकोंको सजग कर जैनधर्मका प्रचार करते रहे।

विगत सौ-सवा-सौ वर्षोंसे स्वनामधन्य स्वर्गीय पण्डित श्रीगुरु गोपालदासजी, पूज्यपाद मुनि श्री गणेशकीर्त्तिजी (वर्णीजी महाराज), बैरिस्टर चम्पतरायजी एवं ब्र० शीतलप्रसादजी प्रभृतिने इस शासनके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्वजको उत्तोलित किया है। वर्तमानमें पूर्वोक्त विद्वानोंकी निःस्वार्थ सेवा और त्यागके फलस्वरूप हमारे दिगम्बर समाजमें अनेक विषयोंके ज्ञाता लगभग ५-६ सौ विद्वान् दिखलायी पड़ रहे हैं। इन विद्वानोंका यह नैतिक दायित्व है कि परम्परासे प्राप्त जैनशासनके ध्वजको उन्नत बनाये रखना और अनेक प्रकारके विरोधी आँधी एवं तूफानोंके आनेपर भी उसे नीचे न गिरने देना।

वस्तुतः आज दि० जैन वाङ्मय और जैन संस्कृतिके उपकरण—तीर्थ आदिके संरक्षण, संवर्द्धन और प्रसारणका भार मुनि-त्यागियों, पंचायतों एवं विद्वानोंपर है। अतः इस ग्यारहवें अधिवेशनमें सम्मिलित विद्वन्मण्डलको विद्वत्परिषद्के इस संगठनको अति सबल और सुदृढ़ बनानेके हेतु विशेषरूपसे विचार करना है। इस समय कुछ ऐसी परिस्थितियाँ सामने उपस्थित हैं, जिनका सामना हम संगठित रूपमें ही कर सकते हैं।

बुद्धिजीवियोंकी विचारधारा तर्कसंगत होनेपर भी स्वतन्त्र होती है। फलतः उनके विचारोंमें समन्वय बड़ी कठिनाईसे हो पाता है। यही कारण है कि बुद्धिजीवियोंके संगठन प्रायः शिथिल और कमजोर होते हैं। राजनैतिक या सामाजिक संगठनोंकी अपेक्षा बुद्धिजीवियोंके संगठनमें मौलिक अन्तर पाया जाता है। एक विचारक दूसरे विचारकके चिन्तनको गलत कहनेमें हिचकका अनुभव नहीं करता।

आज हमारे यहाँ भी निमित्त, उपादान और अध्यात्मवादकी चर्चाको लेकर विद्वानोंमें मतभेद दिखलायी पड़ रहा है। प्रत्येक पक्षके विद्वान् अपने विचारोंको सर्वथा सत्य और दूसरे पक्षके विचारोंको असत्य सिद्ध करते हुए परिलक्षित होते हैं। यदि हममें विचारोंकी उदारता प्रतिष्ठित हो जाय तो हमारा यह संगठन बहुत ही सबल हो सकता है। शास्त्रिपरिषद् और विद्वत्परिषद्के एकीकरणमें भी सफलता मिल सकती है। मेरा विश्वास है कि स्याद्वादकी उदार समन्वयात्मक नीतिको जीवनमें अपना लेनेपर किसी भी संगठनके सबल होनेमें त्रुटि नहीं रह सकती। अतएव दिगम्बर जैन शासनके रक्षण और संवर्द्धनके उद्देश्यको सामने रखकर विद्वानोंके इस संगठनको उत्तरोत्तर दृढ़ एवं सबल बनानेमें प्रवृत्त होना, हमारा पहला कर्त्तव्य होना चाहिए।

विद्वानोंमें मतभेदका होना स्वाभाविक है, पर यह मतभेद संगठनमें बाधक नहीं होता है; बाधक होता है मनोभेद; क्योंकि मनोभेदसे पक्ष उत्पन्न होता है तथा पक्षपर बल देनेके साथ-साथ उत्तरोत्तर आग्रहकी कट्टरता बढ़ती जाती है। आग्रहकी यह अधिकता ही पृथक्ता उत्पन्न कर देती है। अतः संगठन-सिद्धान्तकी दृष्टिसे मतभेदके रहनेपर भी मनोभेद नहीं रहना चाहिए। परस्पर मैत्री, प्रेम एवं सद्भावनाका प्रचार ही संगठनकी समृद्धिका महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

जैनधर्म व्यक्तिनिष्ठ कहा जाता है और व्यक्तित्वके विकासके लिए आध्यात्मिक तथा नैतिक जीवनका यापन करना अपेक्षित होता है। जब तक मनुष्य भौतिकवादमें भटकता रहेगा, तब तक उसे सुख-शान्ति और सन्तोषकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जैन संस्कृतिका लक्ष्य भोग नहीं, त्याग है; संघर्ष नहीं, शान्ति है; विषमता नहीं, समता है; विपाद नहीं, आनन्द है। जीवनके शोधनका कार्य आध्यात्मिकता द्वारा ही सम्भव होता है। भोगवादी दृष्टिकोण मानव-जीवनमें निराशा, अतृप्ति और कुण्ठाओंको उत्पन्न करता है; जिससे शक्ति, अधिकार और स्वत्वकी लालसा अहर्निश बढ़ती जाती है। प्रतिशोध एवं विद्वेषके दावानलसे झुलसती हुई मानवताका त्राण अध्यात्मवाद ही कर सकता है। यह अध्यात्मवाद कहीं बाहरसे आनेवाला नहीं, हमारे आत्माका धर्म है, हमारी चेतनाका धर्म है और है हमारी संस्कृतिका प्राणभूत तत्त्व।

मनुष्य-जीवनमें दो प्रधान तत्त्व हैं दृष्टि और सृष्टि। दष्टिका अर्थ है बोध, विवेक, विश्वास और विचार। सृष्टिका अर्थ है क्रिया, कृति,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विचार और विश्वास होता है । वास्तवमें मनुष्य अपने विश्वास, विचार और आचारका प्रतिफल है । दृष्टिकी विमलतासे जीवन अमल और धवल बन सकता है । यही कारण है कि जैनदर्शनमें विचार और आचारके पहले दृष्टिकी विशुद्धिपर विशेष जोर दिया गया है । क्योंकि विश्वास और विचारको समझनेका प्रयत्न ही अपने स्वरूपको समझनेका प्रयत्न है । आशय यह है कि हमारा आचार बनता है विचार (ज्ञान) से और विचार बनता है विश्वाससे ।

अपने विशुद्ध स्वरूपको समझनेके लिए निश्चयदृष्टिकी आवश्यकता है । मैं इस सत्यको भी स्वीकार करता हूँ कि व्यवहारको छोड़ना एक बड़ी भूल हो सकती है, परन्तु मेरा विश्वास है कि निश्चयको छोड़ना उससे भी अधिक भयंकर भूल है । अनन्त जन्मोंमें अनन्त बार हमने व्यवहारको ग्रहण करनेका प्रयत्न किया, किन्तु निश्चयदृष्टिको पकड़ने और समझनेका प्रयत्न एक बार भी नहीं किया । यही कारण है कि आत्माके शुद्ध स्वरूपकी उपलब्धि हमें नहीं हो सकी और यह तब तक प्राप्त नहीं हो सकेगी, जब तक कि हम आत्माके विभावके द्वारको पार कर उसके स्वभावके भव्य-द्वारमें प्रवेश नहीं कर लेंगे ।

दुःख एवं क्लेशप्रद परिणाम होनेसे पाप त्याज्य है; प्राणियोंको दुःखरूप होनेसे ही पाप रुचिकर नहीं है । पुण्य आत्माको अच्छा लगता है, क्योंकि उसका परिणाम सुख एवं समृद्धि है । इस प्रकार सुखप्राप्ति एवं दुःख-निवृत्तिकी दृष्टिसे संसारी आत्मा पापको छोड़ता है और पुण्यको ग्रहण करता है; किन्तु विवेकशील ज्ञानी आत्मा विचार करता है कि जिस प्रकार पाप बन्धन है, उसी प्रकार पुण्य भी एक प्रकारका बन्धन है । यह सत्य है कि पुण्य हमारे जीवन-विकासमें उपयोगी है, सहायक है । यह सब होते हुए भी पुण्य उपादेय नहीं है, अन्ततः वह हेय ही है । जो हेय है, वह अपनी वस्तु कैसे हो सकता है ? आस्रव होनेके कारण पुण्य भी आत्माका विकार है, वह विभाव है, आत्माका स्वभाव नहीं । निश्चयदृष्टिसम्पन्न आत्मा विचार करता है कि संसारमें जितने पदार्थ हैं, वे अपने-अपने भावके कर्त्ता हैं, परभावका कर्ता कोई पदार्थ नहीं । जैसे कुम्भकार घट बनानेरूप अपनी क्रियाका कर्त्ता व्यवहार या उपचारमात्रसे है । वास्तवमें घट बननेरूप क्रियाका कर्त्ता घट है । घट बननेरूप क्रियामें कुम्भकार सहायक निमित्त है, इस सहायक निमित्तको ही उपचारसे कर्त्ता कहते हैं । तथ्य यह है कि कर्त्ताके दो भेद हैं—वास्तविक कर्त्ता और उपचरित कर्त्ता । क्रियाका उपादान कारण ही वास्तविक कर्त्ता है, अतः कोई भी क्रिया वास्तविक कर्त्ताके बिना नहीं होती है । अतएव आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन आदि चेतन-भावोंका ही कर्त्ता है, राग-द्वेष-मोहादिका नहीं । आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने बताया है—

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो ।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ।। —द्रव्यसं० गाथा ८

व्यवहारनयसे आत्मा पुद्गलकर्म आदिका कर्त्ता है, निश्चयसे चेतनकर्मका और शुद्धनयकी अपेक्षा शुद्धभावोंका कर्त्ता है ।

तथ्य यह है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके साथ बन्धको प्राप्त होता है, उससमय उसका अशुद्ध परिणमन होता है । उस अशुद्ध परिणमनमें दोनों द्रव्योंके गुण अपने स्वरूपसे च्युत होकर विकृत भावको प्राप्त होते हैं । जीवद्रव्यके गुण भी अशुद्ध अवस्थामें इसीप्रकार विकारको प्राप्त होते रहते हैं । जीवद्रव्यके अशुद्ध परिणमनका मुख्य कारण वैभाविक शक्ति है और सहायक निमित्त जीवके गुणोंका विकृत परिणमन है । अतएव जीवका पुद्गलके साथ अशुद्ध अवस्थामें ही बन्ध होता है, शुद्ध अवस्था होनेपर विकृत परिणमन नहीं होता । विकृत परिणमन ही बन्धका सहायक निमित्त है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बन्धके दो भेद हैं—सजातीय बन्ध और विजातीय बन्ध। पुद्‌गलके साथ पुद्‌गलके बन्धको सजातीय बन्ध कहते हैं और जीवके साथ पुद्‌गलके बन्धको विजातीय बन्ध कहा जाता है। जीवमें केवल विजातीय बन्ध होता है, पर पुद्‌गलमें सजातीय और विजातीय दोनों प्रकारके बन्ध होते हैं। जीव और पुद्‌गलमें वैभाविक शक्तिके साथ अन्य सहकारी कारण भी बन्धके कारण होते हैं। जो आत्मरसिक कर्तृत्व और बन्धभावको अवगतकर अपने विकल्प और विकारोंको दूर करनेमें प्रयत्नशील हो जाता है, वह साधनाके मार्गको प्राप्तकर लेता है। उसके राग-द्वेषविकार शान्त हो जाते हैं।

शास्त्रीय परिभाषामें यों कहा जा सकता है कि मोहयुक्त अज्ञान बन्धका कारण है। मोह न रहनेपर केवल अज्ञान बन्धका विषय नहीं है। मोहविद्ध ज्ञान आत्मोत्थानका साधन नहीं। जिसप्रकार घृतको रजत-पात्रमें रखनेपर उसकी विशुद्धता बनी रहती है और पीतलके पात्रमें रखनेसे दोष उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानको निर्मोह पात्रमें रखनेसे मुक्तिका साधक होता है और विपरीत अवस्थामें बन्धका कारण। ज्ञानी आसक्तियोंसे पृथक् रहकर शरीरको आत्मासे भिन्न देखता है। मोक्षप्राप्तिमें वीतरागता ही सर्वोपरि है। सच्चा वीतरागी किसी पदार्थपर राग नहीं करता, उसके लिए भौतिक-अभौतिक सभी प्रकारकी आसक्तियाँ त्याज्य हैं। आचार्य अकलंकदेवने इसी प्रकारकी वीतरागताको लक्ष्यकर कहा है—"यस्य मोक्षेऽप्यनाकाङ्क्षा स मोक्षमधिगच्छति" जिसे मोक्षकी भी इच्छा नहीं, वही मोक्षको प्राप्तकर सकता है।

वीतरागताकी प्राप्ति हेतु व्यवहार और निश्चयरूप धर्मका आश्रय लेनेकी आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र व्यवहारसे मोक्षका कारण और निश्चयसे सम्यग्दर्शनादि त्रिरूप आत्मा मोक्षका कारण है। व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका साधन है। आचार्य कुन्दकुन्दने व्यवहार और निश्चयकी नय-सापेक्षताका कथन करते हुए लिखा है—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे॥

—समयसार गाथा १२

जो शुद्धनय तक पहुँचकर पूर्ण श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र सम्पन्न हो गये हैं, उनको शुद्धनयका उपदेश करनेवाला शुद्धनय जानने योग्य है; पर जो श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रके पूर्णभावको नहीं प्राप्त हो सके हैं तथा साधक अवस्थामें स्थित हैं, उन्हें व्यवहारद्वारा उपदेश देना चाहिए।

उक्त गाथाकी आत्मख्यातिटीकामें अमृतचन्द्राचार्यने व्यवहार और निश्चयकी सापेक्षताका निरूपण करते हुए बताया है—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥

—आत्मख्याति टीका १२ गाथा

यदि जैनधर्मका प्रवर्तन—आचरण करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयोंको मत छोड़ो; क्योंकि व्यवहारनयके विना तीर्थ—व्यवहारमार्गका नाश हो जायगा और निश्चयके विना तत्त्वका नाश हो जायगा।

अतएव वीतरागताकी प्राप्तिके लिए निश्चय और व्यवहार धर्मका आचरण करना आवश्यक है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने प्रभावना अंगके वर्णनमें धर्मके समस्त उपकरणोंका निरूपण किया है—

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव। दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लो० ३०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात्—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके तेजसे अपनी आत्माको प्रभावित करते हुए दान, तप, जिनविम्बप्रतिष्ठा और विद्या—ज्ञानसम्पादनमें विशेष योग्यता एवं चमत्कार द्वारा जैनधर्मकी प्रभावना करनी चाहिए।

भक्ति या जिनपूजा शुभोपयोगका साधन है तथा परम्परया मोक्षप्राप्तिका भी हेतु है। उपास्य या आराध्यके स्वरूपमें एकाकार होना भक्ति है। भक्तिका अर्थ है तन्मयता। आराध्यके गुणोंमें तन्मय रहनेवाला पूजक मन, वचन और कायके वहुमुखी व्यापारको ध्येयके एक विन्दुपर ले जाता है, जिससे कर्मोंकी असंख्य-गुणी निर्जरा होती है। जिस प्रकार सीढ़ीके सहारे प्रासाद-शिखरपर पहुँचनेमें सफलता प्राप्त होती है, उसी प्रकार भक्ति-मणिसोपान द्वारा मनुष्यभवकी उन्नत अवस्थाको प्राप्त किया जा सकता है। मूलाराधनाकी विजयोदया टीकामें वताया है कि जिस प्रकार अर्हन्त आदि परमेष्ठी शुभोपयोग उत्पन्न होनेमें कारण होते हैं, उसी प्रकार उनके प्रतिविम्ब भी शुभोपयोग उत्पन्न करनेमें सहायक हैं। वाह्य पदार्थके आश्रयसे जीवमें शुभ या अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं और इष्टानिष्ट पदार्थोंका सान्निध्य होनेसे राग-द्वेषकी उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार अपने पुत्रके समान किसी अन्य व्यक्तिके पुत्रका अवलोकन करनेसे अपने पुत्रकी स्मृति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार अर्हदादिके प्रतिविम्वका दर्शन करनेसे अर्हन्त आदि परमेष्ठियोंके गुणोंका स्मरण हो जाता है। इस स्मरणसे नवीन अशुभकर्मका संवर होता है और नवीन शुभकर्मोंका आगमन। जो शुभप्रकृतियाँ वन्धको प्राप्त हुई हैं, उनके स्थिति और अनुभागमें परमेष्ठीके गुणोंके स्मरणसे वृद्धि होती है तथा अशुभप्रकृतियोंके स्थिति-अनुभागमें हीनता आती है[1]।

जिनेन्द्रपूजन सम्यक्त्वोपत्तिका साधन है। इससे आन्तरिक शान्ति, ज्ञान, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास और तप आदिकी प्राप्ति होती है। पात्रकेसरी-स्तोत्रमें वताया गया है कि भगवान्के गुणोंका स्मरण करनेसे कर्मराशि नष्ट हो सकती है; क्योंकि प्रभुके गुणोंका चिन्तन ही आत्मचिन्तन है।

दानका वास्तविक रहस्य तो राग-द्वेषका त्याग करना है। समाज-व्यवस्थाके लिए दानका अत्यधिक महत्त्व है, दानद्वारा धन-वितरणकी क्रिया सम्पन्न होती है। मोह कम होता है और भावनाएँ परिष्कृत तथा विशुद्ध हो जाती हैं। अतएव प्रत्येक गृहस्थको दानद्वारा साधुका संवर्द्धन करना एवं समाजोत्थानके कार्योंमें प्रवृत्त होना आवश्यक है।

जैनधर्म व्यक्तिके नैतिक विकासके लिए आत्मनिरीक्षणपर जोर देता है, इस प्रवृत्तिके बिना अपने दोषोंकी ओर दृष्टिपात करनेका अवसर ही नहीं मिलता। व्यक्तिकी अधिकांश क्रियाएँ यन्त्रवत् होती रहती हैं, इन क्रियाओंमें कुछ क्रियाएँ सदोष भी होती हैं, व्यक्ति न करने योग्य कार्य भी कर बैठता है और न कहने लायक बात भी कह देता है तथा न विचार करने योग्य वातोंकी उलझनमें पड़कर अपना और परका अहित भी कर वैठता है। पर आत्मनिरीक्षण या आत्मचिन्तन वह आत्मप्रकाश है, जिसके आलोकमें अपनी समस्त गन्दगी और बुराइयाँ स्पष्ट दिखलायी पड़ती हैं। वस्तुतः आत्मनिरीक्षण दैनिक जीवनका लेखा

१. यथा वीतरागद्वेषास्त्रिलोकचूडामणयोऽर्हदादयो भव्यानां शुभोपयोगकारणतामुपयान्ति। तद्वदेतान्यपि तदीयानि प्रतिविम्बानि। वाह्यद्रव्यालम्वनो हि शुभोऽशुभो वा परिणामो जायते। यथात्मनि मनोज्ञामनोज्ञ-विषयसान्निध्याद्रागद्वेषौ स्वपुत्रसदृशदर्शनं पुत्रस्मृतेरालम्बनम्। एवमर्हदादिगुणानुस्मरणनिबन्धनं प्रतिविम्बम्। तथानुस्मरणं अभिनवाशुभप्रकृतेः संवरणे प्रत्यग्रशुभकर्मादाने गृहीतशुभप्रकृत्यनुभवस्फारीकरणे पूर्वोपात्ताशुभ-प्रकृतिपटलरसापह्रासे च क्षममिति सकलाभिमतपुरुषार्थसिद्धिहेतुतया उपासनीयानीति।

—मूलाराधना, विजयोदया, शोलापुर सन् १९३५ ई०, आ० १ पृ० १६०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जोखा है। अपने दोषोंको देखनेके लिए यह एक वैज्ञानिक यन्त्र है; जिससे व्यक्ति घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, मान, मत्सर प्रभृति दुर्गुणोंसे अपनी रक्षा कर सकता है। आजका मानव अपने अवगुण नहीं देखना चाहता, दूसरेके अवगुण देखकर उसकी निन्दा करता है। अतः आत्मनिरीक्षण आत्मानुशासनका एक अंग है।

समस्त प्राणियोंको उन्नतिके अवसरोंमें समानता प्रदान करना जैनधर्मका सामाजिक सिद्धान्त है। जैन मान्यतानुसार समाजव्यवस्था विश्वप्रेमकी नींवपर अवलम्बित है। परस्पर भाई-भाईका व्यवहार करना, एक दूसरेके दुःख-दर्दमें सहायक होना, दूसरोंको ठीक अपने समान समझना, हीनाधिककी भावनाका त्याग करना, अन्य व्यक्तियोंकी सुख-सुविधाओंको समझना तथा उनके विपरीत आचरण न करना जैनधर्मकी समाज-व्यवस्था है। जैन परम्परामें केवल मनुष्यके साथ ही भाई-चारेका सम्बन्ध स्थापित करनेको नहीं कहा गया है, बल्कि संसारके पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि समस्त प्राणियोंके साथ भी भ्रातृत्वभावका सम्बन्ध स्थापित करनेका निर्देश है। पाखण्ड और धोखेबाजीकी भावनाओंका अन्त विश्वप्रेम द्वारा ही किया जा सकता है। विश्वप्रेम या अहिंसा ही एक ऐसा सिद्धान्त है जो व्यक्ति और समाजके बीच अधिकार एवं कर्त्तव्यकी शृङ्खला स्थापित कर सकता है।

अहिंसाके आधारपर ही समाजमें सहयोग और सहकारिताकी भावना स्थापित की जा सकती है। समाजका आर्थिक एवं राजनैतिक ढाँचा लोकहितकी भावनापर आश्रित हो तथा उसमें उन्नति और विकासके लिए सबको समान अवसर दिये जायें। अहिंसाके आधारपर निर्मित समाजमें शोषण और संघर्ष नहीं रह सकते।

अपने योगक्षेमके लायक भरण-पोषणकी वस्तुओंको ग्रहण करना तथा परिश्रम कर जीवन-यापन करना, न्याय और अत्याचार द्वारा धन-संचय न करना अपरिग्रह[1] है। धन, धान्य, रुपया, पैसा, सोना-चाँदी, स्त्री, पुत्र, घर प्रभृति पदार्थोंमें 'ये मेरे हैं' इस प्रकारके ममत्वपरिणामको परिग्रह कहते हैं। इस ममत्व या लालसाको घटाकर उन वस्तुओंके संचयको कम करना परिग्रह-परिमाणव्रत है। जैनाचार्योंने परिग्रह-परिमाण-व्रतके साथ भोगोपभोगपरिमाणव्रतका भी निरूपण किया है। इन दोनों व्रतोंके समन्वय द्वारा मानव-समाजकी आर्थिक व्यवस्थाको उन्नत बनाना है। यह पूंजीवादका विरोधी सिद्धान्त है, अतः आध्यात्मिक धरातलपर समाजवादकी व्यवस्था उक्त व्रतोंके समन्वय द्वारा स्थापित की जा सकती है। बाह्य-परिग्रहत्याग श्रमार्जित योगक्षेमके योग्य धनग्रहणपर जोर देता है और आभ्यन्तर-परिग्रहका त्याग धन-संचयके हेतु लोभ, मोह, तृष्णा आदिके त्यागपर।

आजके मानवका जीवन लोभ, अर्थलिप्सा एवं संचयके भयावह अग्नि-शोलेमें झुलस रहा है, इससे वह अशान्त है, दुखी है, इस आगको शान्त[1] किये जानेका प्रयास जैनधर्मके संयमवादमें पाया जाता है। शान्तिका एकमात्र उपाय इन्द्रियजय है। संयमी अपने जीवन-निर्वाहके लिये कम-से-कम सामग्रीका उपयोग करता है, जिससे अवशिष्ट सामग्री अन्य लोगोंके काममें आती है और संघर्ष कम होता है। इच्छाओं, वासनाओं और कषायोंपर नियन्त्रण करनेसे छीना-झपटी एवं आर्थिक विषमताएँ दूर हो जाती हैं। नैतिक

---

१. वास्तु क्षेत्रं धान्यं दासीदासश्चतुष्पदभाण्डम्।
परिमेयं कर्त्तव्यं · सर्वं सन्तोषकुशलेन ॥ —अमित० श्रा० पृ० १६०

तन्मूलाः सर्वदोषानुषङ्गाः—सः परिग्रहो मूलमेषां ते तन्मूलाः ममेदमिति हि सति संकल्पे रक्षणादयः सञ्जायन्ते। तत्र च हिंसाऽवश्यं भाविनी तदर्थमनृतं जल्पति, चौर्यं चाचरति, मैथुने च कर्मणि प्रतियतते।

—तत्त्वार्थरा०, ज्ञानपीठ संस्करण, ७।१७।६ पृ० ५४५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आधारके अभावमें आर्थिक समस्याका समाधान सम्भव नहीं है। यह ध्रुव सत्य है कि जब तक समर्थ लोग संयम पालन नहीं करेंगे, तब तक निर्बलोंकी भोजनसमस्या भी नहीं सुलझ सकेगी। संयम आत्मशुद्धि और और उसके विकासका साधन तो है ही, पर इसका रहस्य सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्थाको सुदृढ़ बनाना भी है। स्वार्थत्यागकी कठिन तपस्या द्वारा ही वर्गसंघर्ष दूर हो सकेगा।

उत्पादन और वितरण जन्य आर्थिक विषमताका सन्तुलन अपरिग्रहवाद और संयमवाद द्वारा किया जा सकता है। व्यक्ति हो या समाज अथवा राष्ट्र, सभीकी कृत्रिम आवश्यकता इतनी अधिक बढ़ रही हैं जिससे वृद्धिगत असंख्य आवश्यकताओंकी पूर्ति सम्भव नहीं है। इन्द्रिय-नियन्त्रण या संयम-सिद्धान्त ही अनावश्यक इच्छाओंका नियमन कर शान्तिकी स्थापना कर सकता है। जैनाचार्य सोमदेवने धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ-का अविरोधपूर्वक सेवन करनेका कथन किया है। उनका मत है :—

धर्माविरोधेन कामं सेवेत ततः सुखी स्यात्। नीतिवा० कामसमुद्देश–२
एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानात्मानमितरौ च पीडयति ।।वही, सूत्र–४

स्पष्ट है कि जैनाचार्योंने अर्थकी उपेक्षा नहीं की। जैनधर्मने पञ्चाणुव्रतोंकी व्यवस्थाका वैयक्तिक जीवन-के परिष्कारके साथ सुदृढ़ समाजव्यवस्थाकी भी प्रतिष्ठा की है। अणुव्रतोंके अतिचार एवं व्रतोंकी भावनाओंमें स्पष्टतः समाजवादी सिद्धान्त वर्णित हैं। अन्तर यही है कि वर्त्तमान समाजवादमें आध्यात्मिकता और नैतिकता की गन्ध नहीं है, जिससे समाजवादी तथाकथित देश भी अशान्ति और उत्पीड़नका अनुभव कर रहे हैं। जैनाचार्योंने कूटनीति और धोखाके नियंत्रक सत्याणुव्रतका; एकाधिकारकी भावना और अधिकारोंके प्रति स्वाभा-विक सम्मान जागृत करनेके हेतु अस्तेयव्रतका; सरल और सादा जीवनयापनकी प्रेरणा देने एवं ईमानदार बनाये रखनेके लिए स्वदारसन्तोषव्रत तथा साम्राज्य और पूँजीवादकी आसुरी लालसाको नियन्त्रित करनेके हेतु परिग्रहपरिमाणव्रतका प्रतिपादन किया है। अहिंसाणुव्रतद्वारा बन्धुता, मैत्री, समता और सद्भावका प्रचार किया जा सकता है। वर्गभेद, जातिभेद एवं आपसी मतभेदका शमन स्याद्वादकी उदारनीति द्वारा ही किया जा सकता है। स्याद्वाद-सिद्धान्त आपसी मतभेदों एवं पक्षपातपूर्ण नीतिका उन्मूलन कर अनेकतामें एकता, विचारोंमें उदारता एवं सहिष्णुता उत्पन्न करता है। आज एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिसे, एक वर्ग दूसरे वर्गसे और एक जाति दूसरी जातिसे इसलिए संघर्षरत है कि उससे भिन्न व्यक्ति, वर्ग और जातिके विचार उसके विचारोंके प्रतिकूल हैं। साम्प्रदायिकता और जातिवादके नशेमें मत्त होकर की जानेवाली निर्मम हत्याएँ भी स्याद्वादकी उदारनीति द्वारा रोकी जा सकती हैं।

विचार-विभिन्नता स्वाभाविक है, प्रत्येक व्यक्तिके विचार अपनी परिस्थिति, समझ एवं आवश्यक-तानुसार बनते हैं, अतः विचारोंमें एकत्व होना सम्भव नहीं। समानरूपसे प्रतिभासित होनेवाली नीमकी दो पत्तियाँ भी यथार्थमें समान नहीं हैं, फिर विभिन्न योग्यताओंवाले व्यक्तियोंके विचारोंमें समानता किस प्रकार सम्भव है? तथ्य यह है कि अनेक गुण-पर्यायात्मक वस्तुओंमें विभिन्न समयोंपर विभिन्न अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और योग्यताके अनुसार वस्तुकी अनेक अवस्थाओंमेंसे किसी एक अवस्थाको देखता है और विचार करता है, अतः उसका एकाङ्गिक ज्ञान उसीकी दृष्टि तक सत्य है। अन्य व्यक्ति उसी वस्तुका अवलोकन दूसरे पहलूसे करता है, अतः उसका ज्ञान भी किसी विशेष दृष्टिसे ही ठीक है। अपनी-अपनी दृष्टिसे ही वस्तुका विवेचन, परीक्षण और कथन करनेमें सभी स्वतन्त्र हैं और वस्तुके एक गुण या अवस्थाको जाननेके कारण सभीका अंशात्मक ज्ञान है, अपूर्ण है। अतएव स्याद्वादनीति द्वारा प्रत्येक प्राणीको अपना मित्र समझ कर उदार समन्वयात्मक प्रेमपूर्ण व्यवहार करनेमें ही सामाजिक समस्याओंका समाधान प्राप्त किया जा सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार जैनधर्मने वैयक्तिक और सामाजिक जीवनको परिष्कृत एवं व्यवस्थित बनानेका विधान किया है। आज हमें इस शासनके प्रचार-प्रसारकी नितान्त आवश्यकता है। देश, समाज और राष्ट्रके जीवनको सुखी, सम्पन्न एवं सहयोग-सहकारितापूर्ण बनानेके हेतु निम्नलिखित जीवन-मूल्योंको अपनाना आवश्यक है।

१. स्वावलम्बनकी प्रवृत्ति।
२. श्रम करनेमें आस्था तथा प्रमादका त्याग।
३. सर्वधर्म-समभाव।
४. समानता और उदारताकी दृष्टि।
५. सहयोग और सहकारितासम्बन्धी भावनाकी प्रतिष्ठा।
६. धर्मके मौलिक तत्त्व—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहको जीवनव्यापी बनानेका सामूहिक प्रयत्न।
७. कर्त्तव्यके प्रति आदरभाव और जागरूकता।
८. शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यकेलिए शुद्ध आहार-विहारके प्रति आस्था।
९. श्रद्धा, विचार और आचारका परिमार्जन।
१०. अन्यकी भूल या गलतीको देखनेके पूर्व आत्मनिरीक्षणकी प्रवृत्ति।
११. आध्यात्मिक और नैतिक जीवनके प्रति आस्था।
१२. अनुशासन स्वीकार करनेकी प्रवृत्ति।
१३. अर्जनके समान त्यागके प्रति अनुराग।

विद्वत्परिषद्के मान्य सदस्यगण,

अब तक मैंने राष्ट्र, समाज और व्यक्तिके जीवनको परिमार्जित करने वाले उन धार्मिक सिद्धान्तों का निरूपण किया है जिनका प्रचार विद्वत्परिषद्को करना है। अब दि० जैन साहित्यके महत्त्व-मूल्याङ्कनका प्रयत्न करूँगा। वास्तवमें वाङ्मय शान्तिसे परिपूर्ण क्षणोंमें लिखित कोमल शब्दों, मधुर कल्पनाओं, उद्रेकमयी भावनाओं एवं जीवनको चिरन्तन शान्ति प्रदान करनेवाले सिद्धान्तोंकी मर्मस्पृक् भाषा है। यह सहजरूपमें तरंगित भावों, विचारों एवं जीवन-आस्थाओंका मधुर प्रकाशन है। मानव-जीवन वाङ्मयका पाथेय ग्रहण कर सांस्कृतिक संतरणकी क्षमता प्राप्त करता है। राष्ट्रिय, सांस्कृतिक और जातीय भावनाएँ वाङ्मयमें ही सुरक्षित रहती हैं। अतः किसी भी धर्म, जाति या देशका वाङ्मय ही उसकी यथार्थ सम्पत्ति है। जैन वाङ्मयकी विशालता और अर्हताके कारण ही युग-युगान्तरोंके संघर्षोंको सहन करता हुआ भी जैनधर्म आज जीवन्त है।

वाङ्मयसे समस्त जीवनकी अभिव्यक्ति और ज्ञान-चेतनाका बोध होता है। जैनाचार्योंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, तमिल, कन्नड़, मराठी, गुजराती, प्रभृति भाषाओंमें धर्म, दर्शन, आचार, काव्य, नाटक, पुराण, अलंकारशास्त्र, ज्योतिष एवं आयुर्वेद विषयक विपुल साहित्यका प्रणयन किया है। जितने ग्रंथ अभी तक प्रकाशमें आये हैं, उनसे सहस्रगुणित ग्रन्थ भण्डारोंमें अप्रकाशित पड़े हैं। जैन साहित्यका मुख्याधार सप्तभङ्गी पद्धति है, जो विभिन्न दृष्टिकोणोंसे सत्यको उपस्थित करती है। विचारवैविध्यको एक धरातलपर उपस्थित कर समन्वयात्मक जीवन-मूल्योंका विश्लेषण ही इस पद्धतिकी विशेषता है। साहित्य-स्रष्टाओंके उदार विचार अनेकान्त-सिद्धान्तके आलोकमें ही विकसित हुए हैं। आरम्भसे ही जैन साहित्य जनक्रान्तिको अपनाता रहा है, फिर भी श्रेण्यप्रवृत्तियाँ पूर्णरूपेण वर्त्तमान हैं। दर्शनविशेषके रहने पर जैनसाहित्यको साम्प्रदायिक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि साहित्यमें अनिवार्यतः किसी दृष्टि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

या दर्शनका प्रतिफलन रहता है। यदि दर्शनविशेषके कारण जैन साहित्यको साम्प्रदायिक कहा जायगा तो फिर वर्तमान समाजवादी साहित्य या अन्य किसी भी कालखण्डमें निर्मित साहित्यको भी साम्प्रदायिक मानना पड़ेगा।

प्राकृतभाषामें निबद्ध षट्खण्डागम, कसायपाहुड, धवला, जयधवला टीकाओं; कुन्दकुन्द, वट्टकेर, यतिवृषभ, कार्त्तिकेय, नेमिचन्द्र, शिवार्य प्रभृतिके ग्रन्थोंमें गुणस्थान, मार्गणा, कर्मसिद्धान्त, सप्ततत्त्व, ज्ञानमीमांसा, सृष्टिविद्या आदिका निरूपण किया गया है।

संस्कृतमें लिखित दर्शन एवं न्यायशास्त्रविषयक जैन ग्रन्थ भारतीय चिन्तनके अध्ययनके लिए उसी प्रकार उपयोगी एवं असाम्प्रदायिक हैं, जिस प्रकार न्याय, सांख्य, वैशेषिक, योग, मीमांसा, वेदान्त आदि दर्शनोंसे सम्बद्ध ग्रन्थ हैं अथवा इंडियन फिलॉसफीपर लिखे गये आधुनिक ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त मन्त्र-तन्त्र, पूजा-पाठ, प्रतिष्ठा, व्रत-अनुष्ठान, मुनिचर्या, गृहस्थचर्या, लोकालोकवर्णन प्रभृति विषयोंसे सम्बद्ध ग्रन्थ भी प्राप्य हैं। भारतीय संस्कृतिका वास्तविक ज्ञान जैन वाङ्मयके अध्ययनके विना अपूर्ण है।

चरित-काव्यके स्वरूप, सिद्धान्त और गुण-धर्मोंका विवेचन जैन वाङ्मयके अध्ययनके अभावमें कभी भी संभव नहीं है। इस प्रकारके काव्योंसे पुण्यपुरुषोंके आख्यानोंके साथ वस्तुव्यापारोंका नियोजन काव्यशास्त्रीय परम्पराके अनुसार घटित हुआ है। कथावस्तु व्यापक, मर्मस्पर्शी स्थलोंसे युक्त और भावपूर्ण है। जैनाचार्योंने चरितकाव्यके मूलसूत्र 'तिलोयपण्णत्ति' जैसे ग्रन्थोंमें निबद्ध किये हैं। पुराण और महाकाव्यका उद्भव एवं विकास समान्तर हुआ है। सामान्यतः जिसमें अनेक नायकोंका अस्तित्व पाया जाय वह पुराण और जिसमें कथावस्तु एक ही नायकसे सम्बद्ध हो, वह महाकाव्य कहा जाता है। संस्कृतके महाकाव्योंमें धनञ्जय कविका द्विसन्धान, वीरनन्दिका चन्दप्रभचरित, हरिचंदका धर्मशर्माभ्युदय, असंग कविका वर्धमानचरित आदि उल्लेख्य हैं। गद्यकाव्यके क्षेत्रमें वादीभसिंहकी गद्यचिन्तामणि कादम्बरीके समकक्ष है। अलंकारशास्त्रके मूल्याङ्कनकी दृष्टिसे शृंगारार्णवचन्द्रिका, अलंकारचिन्तामणि एव अलंकारसंग्रह कम मूल्यवान नहीं हैं। संस्कृतभाषामें प्रकाशित विपुल साहित्यके अतिरिक्त निम्नलिखित संस्कृत-ग्रन्थ प्रकाशनीय हैं :—

वृषभनन्दिका जिनसारसमुच्चय (९वीं शती); आशाधरका अध्यात्मरहस्य; वादिचन्द्रका सुलोचनाचरित; रत्नभूषणका चरित्रसार; भावसेनका विश्वतत्त्वप्रकाश; अभयचन्द्रकी प्रवचनपरीक्षा; हस्तिमल्लका श्रीपुराण; पद्मनन्दिकी रत्नत्रयकथा; सोमदेवकी रुक्मिणीकथा; माधवचन्द्रकी चन्दनषष्ठिकथा; और त्रैलोक्यविधानकथा उल्लेख्य हैं। श्रावकधर्मप्रकरण, पार्श्वनाथचरित और मेघाभ्युदय आचार एवं काव्यतत्त्वकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं। शान्तिराज कविका पञ्चसन्धान काव्य, भाषा, अलंकार, अर्थ-गाम्भीर्य एवं रसनियोजनकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं ज्योतिषशास्त्रकी दृष्टिसे केवलज्ञानहोरा और ज्योतिर्ज्ञानविधि परिमाण और गुण दोनों ही दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण हैं।

भट्टारक-युगमें लिखे गये संस्कृत-साहित्यका तो अभी प्रकाशन हो नहीं हुआ है। सकलकीर्त्तिके श्रीपुराण, वर्धमानचरित, पाण्डवचरित आदि उल्लेखनीय हैं।

अपभ्रंश-साहित्यमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ दिगम्बर जैन कवियोंकी हैं। इनमें एक ओर विशालकाय महापुराण, हरिवंशपुराण पउमचरिउ जैसी कृतियाँ हैं तो दूसरी ओर एक व्यक्तिको भी केन्द्र मानकर लिखी गयीं पद्यबद्ध कथाकृतियाँ हैं जिन्हें चरितकाव्यमें रखा जा सकता है। अपभ्रंशकी रचनाओंकी प्रयोगविषयक प्रधान विशेषता है मात्रिकछन्दकी। इस छन्दके जितने प्रयोग अपभ्रंशके कवियोंने किये, उतने मध्ययुगीन हिन्दी कवियोंने नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपभ्रंश काव्यका मूल्य इतिवृत्त, संवाद, पात्र भावनियोजन एवं वस्तुव्यापारोंके वर्णनकी दृष्टिसे संस्कृत-काव्योंसे भी अधिक है। वन, पर्वत, सागर, राजप्रासाद, हाट, वीथी, पशु-पक्षी, ऋतुएँ, राजकुमार, वनविहार, जलकेलि, नख-शिख चित्रण एवं पुष्पावचयका ब्यौरेवार वर्णन पाया जाता है। इसी कारण अनेक कवियोंने अपभ्रंशके कवियोंकी प्रशंसा की है। यथा—

जलकीलाए सयम्भू चउमुह एवं व गोग्गहकहाए।
भद्दं च मच्छवेहे, अज्जवि कइणो न पावन्ति॥

अर्थात्—जलक्रीड़ावर्णनमें स्वयम्भूको; गोग्रहकथावर्णनमें चतुर्मुखको और मत्स्यवेध वर्णनमें भद्रको आज भी कवि नहीं पा सकते।

अपभ्रंश-कृतियोंमें अनेक कथानक-रूढ़ियोंका मनोरम प्रयोग भी पाया जाता है—यथा स्वप्नद्वारा चरितनायककी उत्पत्तिकी सूचना, दोहदकी पूर्ति हेतु अमानवीय शक्ति द्वारा साहाय्य, अचानक गुप्त धनकी प्राप्ति, भविष्यवाणी, मदान्ध गजको वश करना, बलि देनेके हेतु किसी व्यक्तिका पकड़ा जाना, निर्जन स्थान पर चैत्यालयकी प्राप्ति, जहाजके टूटनेपर काष्ठपट्टकी प्राप्ति, प्रतिनायकद्वारा अनेक प्रकारके कष्ट देनेपर भी नायकके अभ्युदयका विकास एवं विमाताके विद्वेषकी विभिन्न परिणतिओंका निरूपण आया है।

अप्रस्तुत विधानके लिए अपभ्रंश-कवियोंने सामान्य जीवनकी परिचित वस्तुओंको भी ग्राह्य किया है। अतः अपभ्रंशके काव्योंमें हृदयमें प्रविष्ट होनेवाले अभुक्त उपमान संस्कृत-काव्यकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

अप्रकाशित अपभ्रंश ग्रन्थोंमेंसे कुछ अपभ्रंश रचनाओंकी तालिका प्रस्तुत की जाती है—

रिट्ठणेमिचरिउ	स्वयम्भू	९वीं शती
हरिवंशपुराण	धवल	११वीं शती
सयलविहिविहाणकव्व	नयनन्दि	११वीं शती
पासणाहचरिउ	श्रीधर	११३९ ई०
भविसयत्तचरिउ	श्रीधर	११७३ ई०
सुकुमालचरिउ	विबुध श्रीधर	१२-१३वीं शती
पज्जुण्णचरिउ	सिद्धसिंह	१३वीं शती
चंदप्पहचरिउ	सिद्धसिंह	१३वीं शती
सुलोचणाचरिउ	गणिदेवसेन	१२वीं शती
जिणदत्तचरिउ	लक्ष्मण	१२७५ वि० सं०
णेमिणाहचरिउ	लक्ष्मणदेव	१४वीं शती
सिरिवालचरिउ	नरसेन	१४वीं शती
बाहुबलिचरिउ	धनपाल	१४वीं शती
सनमतिणाहचरिउ	शुभकीर्त्ति	१४वीं शती
संतिणाहचरिउ	शुभकीर्त्ति	१४वीं शती
वरांगचरिउ	तेजपाल	१४५० ई०
हरिवंशपुराण	यशःकीर्त्ति	१५वीं शती
पाण्डवपुराण	यशःकीर्त्ति	१५वीं शती
परमेष्ठीप्रकाशसार	श्रुतकीर्त्ति	१५वीं शती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नेमिणाहचरिउ	दामोदर	१५वीं शती
चंदप्पहचरिउ	दामोदर	१५वीं शती
अजितपुराण	बुध विजयसिंह	१५वीं शती
सिरिवालचरिउ	बुध विजयसिंह	१५वीं शती
सुकुमालचरिउ	पूर्णभद्र	१५वीं शती
अमरसेनचरिउ	माणिक्य	१५१९ ई०
नागकुमारचरिउ	माणिक्य	१६वीं शती
मृगांकलेहाचरिउ	भगवतीदास	१७वीं शती

महाकवि रइधूके लगभग दो दर्जन ग्रन्थ अप्रकाशित हैं। नयनन्दि मुनिका दोहापाहुड, लक्ष्मीचन्दका दोहाणुवेहा, ब्रह्मदीपका मनकरहारास एवं भट्टारक गुणभद्रके सवण वारसिविहास, पक्खवइ, आयासपंचमी, चंदणछट्टी, मउडसत्तमी आदि १५ कथाग्रन्थ नीति, रस, अलंकार आदि दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण हैं।

अन्य भारतीय भाषाओंमें लिखा जैन साहित्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। तमिलके पञ्चमहाकाव्योंमें जीवकचिन्तामणि, शिलप्पड्डिकारम् और वलैय्यापति ये तीन महाकाव्य जैनाचार्यों द्वारा निर्मित हैं। कुरलकाव्य तो तमिल साहित्यका पञ्चम वेद माना जाता है। नालडियार उत्तम गीतिकाव्य है। कन्नड़में कविचक्रवर्ती पम्पके चम्पूशैलीमें लिखित आदिपुराण और भारत प्रसिद्ध काव्य हैं। काव्यसुधाधाराको प्रवाहित करनेवाले ओडय्य (११७० ई०), नयसेन (१२वीं शती), जन्न (११७०–१२३५ ई०), पोन्न, कर्णपार्य, गुणवर्मा, बन्धुवर्मा, रत्नाकर वर्णी एवं मंगिरस प्रभृति कवियोंके नाम आदरपूर्वक स्मरण किये जा सकते हैं। जैन कवियोंका कन्नड़ साहित्यकी श्रीवृद्धिमें अपूर्व योगदान है। मराठीमें जिनदास, गुणदास, मेघराज, कामराज, गुणनन्दि, महेन्द्रकीर्त्ति, एवं विशालकीर्त्तिकी रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दीमें आदिकालकी प्रामाणिक सामग्रीके अतिरिक्त मध्ययुगमें लगभग तीनसौ जैन कवियोंने विविध विषयक जैन साहित्यका प्रणयन किया है। हिन्दीमें आत्मकथा और कोष ग्रन्थ लिखनेकी प्रथाका आरम्भ महाकवि बनारसीदासके 'अर्धकथानक' एवं 'नाममाला' से होता है।

भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्का मुख्य उद्देश्य दि० जैनधर्म और संस्कृतिको अधिकाधिक व्यापक एवं उपयोगी बनाना है तथा ज्ञानाराधक सरस्वती-सेवकोंकी स्थितिको उन्नत करना भी है। इस सम्बन्धमें मैं निम्नाङ्कित सुझाव विचारार्थ मान्य सदस्योंके समक्ष प्रस्तुत करता हूँ—

१. भगवान् महावीरका २५००वाँ निर्वाणोत्सव निकट है। इस अवसरपर विद्वत्परिषद्को प्रकाशन-योजना तैयार करनेका संकल्प करना चाहिये। आगामी पांच वर्षोंमें इस संस्थाके तत्त्वावधानमें कम-से-कम पच्चीस-सौ पृष्ठोंकी साहित्यिक सामग्री प्रकाशित होनी चाहिए। अतः समाज और धर्मका उत्कर्ष, उसकी संस्कृति, साहित्य एवं इतिहासके विकास और प्रसारपर ही अवलम्बित है। अतएव संस्कृति और साहित्यके विकासकी चिन्ता विद्वत्परिषद् जैसे बौद्धिक संगठनको विशेषरूपसे होना स्वाभाविक है।

प्रकाशन-व्यवस्थाकी सम्भाव्य रेखाएँ निम्न प्रकार हो सकती हैं—

क. काव्य और संस्कृतिकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण पाँच अपभ्रंश-ग्रन्थोंका एक जिल्दमें प्रकाशन किया जाय। इस जिल्दमें एक-सौ पृष्ठोंकी भूमिका तथा चार-सौ पृष्ठोंमें मूल ग्रन्थ। प्रकाशनार्थ निम्न ग्रन्थ लिये जा सकते हैं—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(i) हरिवंशपुराण	धवल
(ii) पासणाहचरिउ	श्रीधर
(iii) चंदप्पहचरिउ	सिद्धसिंह
(iv) सुलोचणाचरिउ	गणिदेवसेन
(v) बाहुबलिचरिउ	धनपाल

ख. पाँचसौ पृष्ठोंकी दूसरी जिल्दमें जैनन्यायका विषयक्रम और लेखकक्रमानुसार अनुशीलन। इस जिल्दमें २५० पृष्ठोंमें प्रमाण-प्रमेयसम्बंधी विषयोंका इतिहास तथा अवशेष २५० पृष्ठोंमें आचार्योंके परिचय, जीवनवृत्त, तिथि, रचनाएँ, रचनाओंके वर्ण्य विषय एव तुलनात्मक विवेचन अंकित किये जायें।

ग. तीसरी पाँचसौ पृष्ठोंकी जिल्दमें तत्त्वज्ञान और कर्मसिद्धान्तके विभिन्न अंग-प्रत्यंगोंका ऐतिहासिक विकासक्रमकी दृष्टिसे विषयनिरूपण तथा तद्विषयक ग्रन्थोंके लेखकोंका जीवनवृत्त एवं उनकी रचनाओंका विस्तृत परिचय लिखा जाय।

घ. चतुर्थ जिल्दमें धवलाटीकाका अनुशीलन अथवा आचारविषयक ग्रन्थोंका विषय और लेखक क्रमानुसार इतिहास लिखा जाय।

ङ. पंचम खण्डमें पद्मपुराण, हरिवंशपुराण और महापुराण इन तीन पुराण तथा काव्य-ग्रंथोंके आधारपर समाज, संस्कृति, भूगोल, ज्योतिष, आयुर्वेद एवं कला आदिका अध्ययन प्रस्तुत किया जाय।

२. समाजमें संस्कृत-महाविद्यालय चालू हैं, पर आज शिक्षार्थियोंकी संख्या अत्यल्प है। जो छात्र विद्यालयोंमें प्रविष्ट भी होते हैं, उनके मनमें भी संस्कृत-शिक्षाके प्रति अनुराग नहीं हैं; जिससे विद्वानोंकी परम्परा क्षीण होती जा रही हैं। अतएव महाविद्यालयोंकी शिक्षाको लोकप्रिय बनाने तथा विद्यार्थियोंमें सांस्कृतिक वाङ्मयके अध्ययनके प्रति अभिरुचि जागृत करनेके हेतु प्रयत्न करना आवश्यक है।

३. समाजमें स्वाध्यायकी प्रवृत्तिको चालू करनेके हेतु स्वाध्याय-शालाओंकी स्थापना तथा शास्त्र खरीदनेके प्रति आस्था जागृत करना।

४. विद्वानोंकी नयी पीढ़ी अपने प्रति समाजकी विपरीत धारणा और कठिनाइयोंका अनुभव करते हुए अपने जीवनस्तरको अर्थके आधारपर उन्नत बनानेकी दृष्टिसे आधुनिक शिक्षा-प्रणालीकी ओर आकृष्ट हो चुकी है। इसप्रकारके विद्वानोंको सिद्धांत, न्याय, व्याकरण एवं साहित्य विषयके अध्ययनार्थ प्रोत्साहित किया जाय। अध्ययनशील ऐसे विद्वान जो किसी पाठशाला या विद्यालयमें कार्य करते हैं, उन्हें ग्रन्थ सुविधा या अन्य प्रकारकी आर्थिक सुविधा प्रदानकर प्रोत्साहित किया जाय; जिससे वे कार्य करते हुए प्रौढ़ विद्वत्ता प्राप्त कर सकें। सिद्धान्त और न्याय ग्रन्थोंके विशेष अध्येताओंको छात्रवृत्तियोंका प्रबन्ध किया जाय।

५. जैन-साहित्य विश्वशान्ति और विश्वमैत्रीके आधारभूत सिद्धान्तोंका प्रतिनिधित्व करता है। भ्रष्टाचार और अनैतिकताको रोकनेके लिए इस साहित्यमें किये गये विचार और कर्त्तव्य अत्यन्त उपयोगी हैं। भूतदया: गुणवाद, प्रेम, शान्ति और ममत्वके प्रचारसे देशमें नैतिकताकी प्रतिष्ठा की जा सकती है। अतएव विद्वत्परिषद्को सार्वजनिक पत्र-पत्रिकाओंके माध्यमसे जैन विचारधाराका प्रचार करनेके लिए प्रयत्नशील होना चाहिये तथा जैन साहित्यको सार्वजनिक लेखकों तक पहुँचानेका भी प्रयास करना चाहिए।

६. प्राकृत-भाषा वाङ्मयकी मूल भाषा है, इस भाषाका उत्तरकालीन विकसित रूप अपभ्रंश है। दिगम्बर जैनाचार्योंने इन दोनों भाषाओंमें साहित्यका सृजन किया है। वर्तमानमें हमारे यहाँ प्राकृत और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपभ्रंशके अध्ययनकी ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। भाषाकी दृष्टिसे प्राकृत और अपभ्रंशके अध्ययनके अभावमें संस्कृतका अध्ययन भी अपूर्ण है। अतएव अपने यहाँके अतिरिक्त भारतीय विश्वविद्यालयोंमें संस्कृत और पालिके अध्ययनके समान ही प्राकृतके अध्ययनका भी विचार होना चाहिए। विद्वत्परिषद्को इस दिशामें विशेष प्रयास करना है।

७. दिगम्बर जैन विषयों पर अन्वेषणकार्य सम्पादनार्थ जैनेतर अनुसन्धित्सुओंको प्रतिवर्ष कम-से-कम एक 'फैलोशिपकी' व्यवस्था समाजके धनी-मानियोंसे करानी चाहिए। प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद वर्णीजी महाराज, गुरु गोपालदासजी, सेठ माणिकचन्दजी प्रभृतिके नाम पर 'फैलोशिप' चालू करनेकी आवश्यकता है।

८. वर्तमानमें मन्दिर-निर्माण और प्रतिमा-प्रतिष्ठाओंके लिए समाजद्वारा जितना धन व्यय किया जा रहा है, उतना साहित्योद्धारके लिए नहीं। इस सम्बन्धमें यह स्मरणीय है कि संस्कृतिके तीन उपकरणों— साहित्य, तीर्थभूमियाँ और चैत्यालयमें साहित्यका प्रमुख स्थान है। धर्म और समाजका मूल्यांकन साहिय द्वारा ही सम्पन्न होता है। अतएव प्रत्येक स्थानकी पंचायतको साहित्योद्धारके लिए प्रयत्नशील होना आवश्यक है।

९' वरिष्ठ व्यक्तियोंका सम्मान करनेसे संस्थाकी परम्परा सुदृढ़ होती है। अतएव विद्वत्परिषद्के मंचसे प्रतिवर्ष कम-से-कम एक वरिष्ठ विद्वान्का सम्मान अवश्य होना चाहिये।

१०. आचारके विना ज्ञानका मूल्य घट जाता है। आचारसे ही ज्ञानमें अमृततत्त्व उत्पन्न होता है। अतएव सम्मान्य सदस्योंको आचार ग्रहण करनेकी ओर भी प्रवृत्त होनेका प्रयास करना चाहिये।

११. समाजमें त्यागी, मुनि और ब्रह्मचारियोंको यथेष्ट प्रतिष्ठा मिलनी चाहिये। रत्नत्रयके विकासके कारण पवित्रात्माएँ मान्य हैं। अतएव साधनासम्पन्न व्यक्तियोंकी निर्बाध साधनाके हेतु अतिथि-संविभागव्रतके प्रचारकी परम आवश्यकता है।

वर्तमानमें जैनतीर्थों, विद्वानों एवं विद्यालयोंकी अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं। विद्वानोंके परम हितैषी पूज्यपाद वर्णीजी महाराजने इन समस्त समस्याओंको जीवनपर्यन्त सुलझाया था और पैदल भ्रमणकर ज्ञानका अलख जगाकर विद्वद्वर्ग तैयार किया था। आज उन्हींके आशीर्वादस्वरूप कई शतक ज्ञानमूर्तियाँ परिलक्षित हो रही हैं। मैं उनके चरणोंमें अपने शत-शत प्रणाम अर्पित करता हूँ और आप लोगोंको पुनः साधुवाद देता हूँ। ● ●

विद्वत्परिषद्के खतौली नैमित्तिक-अधिवेशनमें श्री डा० नेमिचन्द्रजी शास्त्रीने जो अध्यक्षीय भाषण दिया था वह इस प्रकार है—

मई सन् १९६८ में सम्पन्न हुए सागर अधिवेशनके पश्चात् मैं पुनः आपकी सेवामें उपस्थित हो रहा हूँ। उस समय मैंने अपने अभिभाषणमें दिगम्बर जैन संस्कृतिके संरक्षण और संवर्द्धनकी चर्चा की थी। आज मैं पुनः संस्कृतिके स्वरूप और उसकी प्रमुख विशेषताओंपर प्रकाश डालकर आपका ध्यान दिगम्बर जैन संस्कृतिके प्रति दायित्वकी ओर आकृष्ट करना चाहूँगा।

जीवन-मूल्यों एवं उन मूल्य-दृष्टियोंका विवेचन संस्कृति कहलाता है, जिनके द्वारा आत्मशोधन और आचार-व्यवहार संस्कृत होता है। वस्तुतः संस्कृति उन गुणोंका समुदाय है, जिन्हें मनुष्य अनेक प्रकारकी शिक्षा एवं महान् प्रयत्नोंद्वारा अर्जित करता है। संस्कृतिका सम्बन्ध मनुष्यकी बुद्धि, स्वभाव एवं मनोवृत्तियोंसे है। आचार-विचार और विभिन्न रुचियोंका परिष्करण संस्कृतिके अन्तर्गत है। मनुष्यकी समस्त भूषणभूत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चेष्टाएँ संस्कृतिमें परिगणित की जाती हैं। यतः इन चेष्टाओंद्वारा ही चेतना प्रबुद्ध होती है और जीवन-मूल्योंको समझनेके लिए प्रेरणा मिलती है। अतएव संस्कृति मानवीय व्यक्तित्वकी वह विशेषता है, जो व्यक्तिके व्यत्तित्वको सभी दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण बनाती है तथा जो व्यक्ति जीवन-दर्शनको समझना चाहता है, उसे अपने प्राकृतिक जीवनको सांस्कृतिक जीवनके रूपमें परिवर्त्तित कर देना पड़ता है। अतएव सौन्दर्य-चेतना, जीवन-मूल्य, आध्यात्मिक दृष्टि और आत्मिक विकासके लिए आवश्यक चरित्रकी गणना संस्कृतिमें की जाती है।

जीवनमेंसे मैल—कालुष्य और निर्बलताको दूर करना तथा उसके स्थानपर सर्वाङ्गीण स्वच्छता एवं सामञ्जस्यपूर्ण बल उत्पन्न करना ही जीवनकी सच्ची संस्कृति है। व्यक्तिकी सभी शक्तियाँ और प्रवृत्तियाँ आत्मोत्मोत्थानके साथ समाज-कल्याणकारी दिशामें नियोजित होनेपर ही संस्कृति चरितार्थ होती है। अतः संस्कृति ही असत्यसे सत्यकी ओर, अन्धकारसे ज्योतिकी ओर, मृत्युसे अमरतत्वकी ओर, अनैतिकतासे नैतिकताकी ओर, भौतिकतासे अध्यात्मवादकी ओर एवं परपरिणतिसे स्वपरणतिकी ओर अग्रसर करती है। मानवहृदयमें होनेवाले देवासुरसंग्राम अथवा भौतिक और अध्यात्मिक द्वन्द्वके मध्य आसुरी और भौतिक वृत्तियोंको दवाकर दैवी या आत्मिक वृत्तियोंका उद्‌बोधन संस्कृतिकी सहायतासे होता है। संस्कृति जीवनका परिष्करणकर उसमें सुविचारोंको अंकुरित करती है और ये ही अंकुर कालान्तरमें कल्पपादप बन सुस्वादुफलों या अध्यात्मरसको प्रदान करते हैं।

जैन संस्कृति मानवतावादी है, यह मनुष्यको महत्त्व देती है। ईश्वर या अन्य किसी परोक्ष सत्ताके हाथमें अपना भाग्य समर्पित नहीं करती। व्यक्ति अपने विकास या ह्रासके लिए स्वयं उत्तरदायी है। वह अपने पुरुषार्थ और आचरणसे ही अपने निजी ज्ञान, दर्शनादि गुणोंका विकास कर सकता है। वह चाहे तो स्वयं भगवान् बन सकता है और चाहे भिखारी। उसे अपने उत्थान-पतनके लिए अन्य किसी अवलम्बनकी आवश्यकता नहीं। जब तक व्यक्तिकी दृष्टि परकी ओर लगी रहती है, तब तक वह स्वावलम्बन प्राप्त नहीं कर सकता, स्वावलम्बन द्वारा ही स्वतन्त्रताकी प्राप्ति होती है और स्वतन्त्रता ही जीवनका लक्ष्य है।

जैन संस्कृतिका भव्यमण्डप स्वावलम्बन, अहिंसा, स्याद्वाद और अपरिग्रहके स्तम्भोंपर प्रतिष्ठित है। जगत्‌का प्रत्येक सत् प्रतिक्षण परिवर्तित होकर भी कभी समूल नष्ट नहीं होता। वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इस प्रकार त्रिलक्षण है। कोई पदार्थ चेतन हो या अचेतन इस नियमका अपवाद नहीं है। इस त्रिलक्षण परिणामवादकी आधार-भूमिपर ही अनेकान्तदृष्टि और स्याद्वादपद्धतिका सर्वोदयी भव्य प्रासाद स्थित है। विविध नय, सप्तभङ्गी, निक्षेप आदि भी इसीमें समाहित हैं। अतएव अनेकान्तदृष्टिद्वारा समत्व, वीतरागत्व या संयमका विकास कर कोई भी व्यक्ति महान् बन सकता है।

प्रत्येक जीव स्वरूपसे चैतन्य-शक्तिका अखण्ड शाश्वत आधार है। वह कर्मवासनाके कारण भले ही वृक्ष, कीट, पशु, मनुष्य आदि शरिरोंको क्यों न धारण करे, पर उसके चैतन्यस्वरूपका एक भी अंश नष्ट नहीं होता, कर्मवासनाओंसे विकृत भले ही हो जाय। व्यावहारिक निमित्तोंसे उत्पन्न भेद-भाव या उच्च-नीचत्व वास्तविक नहीं है।

जैन संस्कृतिकी एक विशेषता यह भी है कि पुरुषको वीतरागता और निर्मल ज्ञानकी दशामें स्वयं प्रमाण मानती है। वह आत्मशोधनके मार्गका स्वयं साक्षात्कार करता है। वह अपने धर्मपथका स्वयं ज्ञाता होता है और इसी कारण मोक्षमार्गका नेता भी है। वीतरागीकी प्रामाणिकताके लिए अन्य किसी अनादिसिद्ध श्रुति या ग्रन्थकी आवश्यकता नहीं है। शब्दके गुण-दोष वक्ताके गुण-दोषके अधीन हैं। शब्द तो एक निर्जीव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माध्यम हैं, जो वक्ताके भावका वहन करते हैं। अतः जैन संस्कृति शब्दको प्रमाण न मानकर सर्वज्ञको प्रमाण मानती है। सर्वज्ञकी वाणीका संग्रह ही 'श्रुत' कहलाता है, जो परम्पराके लिए मार्गदर्शक होता है।

जैन संस्कृतिकी अन्य विशेषता परिनिष्ठित आचारकी है। इस संस्कृतिमें तत्त्वज्ञान या दर्शनविस्तार जीवनशोधन और चारित्रवृद्धिके लिए हुआ है। जहाँ वैदिक परम्परामें तत्त्वज्ञानको मुक्तिका साधन माना गया है, वहाँ जैन संस्कृतिमें चारित्रको। वैदिक परम्परा वैराग्य आदिसे ज्ञानको पुष्ट करती है और विचारशुद्धि करके मोक्ष मान लेती है, पर जैन परम्परामें उस ज्ञान या विचारका कोई मूल्य नहीं, जो जीवनमें न उतरे, जिसकी सुवाससे जीवन सुवासित न हो। कोरा ज्ञान केवल मस्तिष्कका व्यायाम है, पर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे परिपुष्ट सम्यक् चारित्र ही मोक्षका साधन है। आशय यह है कि जैन संस्कृतिमें ज्ञानकी अपेक्षा चारित्रका अन्तिम महत्त्व है और प्रत्येक विचार या ज्ञानका उपयोग चारित्र अर्थात् आत्मशोधन या जीवनमें सामञ्जस्य स्थापित करनेके लिए होता है। जैन सन्त तप और साधनाके द्वारा वीतरागता प्राप्त करते हैं। जैन संस्कृतिका साध्य विचार नहीं, आचार है, ज्ञान नहीं, चारित्र है।

जैन संस्कृतिको विश्लेषणके हेतु निम्नाङ्कित पाँच अवयवोंमें विभक्त किया जा सकता है। इन अवयवों-के सम्यक् विचारसे संस्कृतिका स्वरूप अवगत करनेमें सरलता होगी।

१. अध्यात्मवाद
२. परिनिष्ठित आचार-विचार
३. वाङ्मय
४. तीर्थ, चैत्य एवं चैत्यालय
५. वीतरागी गुरुओंका सद्भाव

अध्यात्मवाद

जैन संस्कृतिका प्रमुख अंग अध्यात्मवाद है। आत्माके स्वरूप, गुण, शक्ति एवं उसकी पर्यायोंका सम्यक् अध्ययन, मनन और चिन्तन करना अध्यात्मवादके अन्तर्गत है। यतः धर्म और दर्शनका आधारबिन्दु मनुष्यका अध्यात्म-जीवन है। जब तक मनुष्य भौतिकवादमें भटकता रहता है, तब तक उसे सुख-शान्ति और सन्तोष प्राप्त नहीं हो सकते। अध्यात्मवादका लक्ष्य भोग नहीं, त्याग है, संघर्ष नहीं, शान्ति है, विषमता नहीं, समता है। जीवन, मुक्ति, जगत्, जीव और जगत्का सम्बन्ध, बन्ध, बन्धप्रक्रिया, निर्जरा, आदिका बोध अध्यात्मवाद द्वारा ही सम्भव है। जो आत्मा अपने भले, बुरे, भूत, भविष्य और वर्तमानका चिन्तन कर सकता है, वही विकासोन्मुख है। आत्मानुभूति कहीं बाहरसे आनेवाली नहीं है, यह तो हमारा आत्मधर्म है, हमारी चेतनाका धर्म है। केवल हमें अपनी दृष्टिको बदल कर अध्यात्मशक्ति पर विश्वास करना है। यह दर्शनका सिद्धान्त है कि आचार बनता है विचारसे और विचार बनता है विश्वास से। विश्वास, विचार और आचार ये तीनों आत्माके निज गुण है। आत्माके इन निज गुणोंका शोधन, प्रकाशन और विकास ही वस्तुतः हमारी अध्यात्म साधना है।

आत्मा एक अखण्ड-अनन्त-चैतन्य पिण्ड है। यह स्वतन्त्र और मौलिक द्रव्य है। चैतन्यपरिणति इसका सामान्य लक्षण है, यह इसका असाधारण गुण है। बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे इस चैतन्यके ज्ञान और दर्शनरूप परिणमन होते हैं। जब आत्मा 'स्व' से भिन्न किसी ज्ञेयको जानता है, तब उसकी वह चैतन्य परिणति ज्ञान कहलाती है और जब चैतन्य मात्र चैतन्याकार रहता है, उस समय वह दर्शन कहलाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मा असंख्यात प्रदेशवाला है और आदिकालसे सूक्ष्म कार्माण शरीरसे सम्बद्ध है। यह आत्मा पौद्‌गलिक कर्मोंके विलक्षण सम्बन्धके कारण परको निज मानता चला आ रहा हैं। इसी मान्यताके कारण ज्ञान-दर्शनस्वरूप सर्वपदार्थप्रकाशक आत्माने स्वकीय आत्मद्रव्यसे च्युत हो परद्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न राग-द्वेष-मोहके साथ अभेदसम्बन्ध समझ परद्रव्योंको अपना मान लिया है। यही मान्यता परसमय है और जब यह आत्मा समस्त पदार्थोंके स्वरूपको अवगत करने वाले भेदज्ञानको प्राप्त कर लेता है, तो आत्मतत्त्वके साथ एकत्वकी बुद्धि कर अपने चैतन्यस्वरूपमें स्थित हो जाता है। इसीको स्वसमय कहा गया है। स्वसमय और परसमय ये दोनों आत्माके दो पर्याय हैं। एक पर्याय पुद्‌गलके सम्बन्धसे है और दूसरा पर्याय चैतन्य स्वरूपकी अवस्थितिकी अपेक्षासे है। जब तक शरीरसम्बन्ध है, तब तक आत्माको संसारी कहा जाता है और शरीरसम्बन्धका अभाव होनेपर इसे सिद्ध। सामान्यरूपसे आत्मा न सिद्ध है और न संसारी। ये आत्माकी दोनों अवस्थाएँ हैं और ये दोनों पर्यायदृष्टि हैं। द्रव्यदृष्टिसे आत्मा नित्य है, परिणमनशील है, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त है। चैतन्यस्वरूप होनेके कारण ही यह ज्ञान-दर्शनस्वरूप है।

आत्मा दर्पणवत् है, इसकी स्वच्छतामें समस्त पदार्थ प्रतिभासित होते हैं। नानात्मक होनेपर भी यह एकात्मक है। आचार्य अमृतचन्द्र सूरिने आत्माके स्वभावका विश्लेषण करते हुए बतलाया है कि आत्माका स्वभाव तो पदार्थको जाननामात्र है, पर अनादिकालसे एक मोहकर्म इसके साथ लगा हुआ है, जो परपदार्थोंमें राग-द्वेषरूप परपरिणतिके उत्पन्न करानेमें निमित्तकारण है। इसी मोहकर्मके उदयने आत्मानुभूतिको मलिन कर दिया है और इष्ट-अनिष्टरूप भाव उत्पन्न किये हैं :—

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावादविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्त्तेर्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः॥

—समयसार कलश, पद्य ३

स्पष्ट है कि स्वानुभूतिद्वारा आत्माकी 'स्व' और 'पर' परिणतियोंका अनुभवकर चैतन्य, शुद्ध सत्तारूप और समस्त पदार्थोंके ज्ञाता-द्रष्टा आत्माको अवगतकर उसे आचरण द्वारा प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। प्रशमरतिप्रकरणमें आचार्यने स्वानुभूतिजन्य सुखको अनुपम और निरुपमेय बताया है, सांसारिक आडम्बरोंसे रहित स्वानुभवकर्ता व्यक्तिको जीवनमें जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख न तो षट्‌खण्डाधिपति चक्रवर्तीको और न त्रिखण्डाधिपति अर्धचक्रवर्तीको प्राप्त होता है। देवराज इन्द्रका सुख भी उक्त स्वानुभूतिजन्य सुखके समक्ष नगण्य है। अतः स्वानुभूतिसे उत्पन्न हुआ सुख इन्द्रियातीत और निज स्वभावरूप है। यथा—

नैवास्ति राजराजस्य तत्सुखं नैव देवराजस्य।
यत्सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य॥ —प्रशमरतिप्र० पद्य १२८

स्वानुभूतिके उत्पन्न होनेपर स्वकी प्रतीति तो होती ही है, पर भेदविज्ञानके सद्‌भावके कारण परम शान्ति भी प्राप्त होती हैं। महाकवि बनारसीदासने भेदविज्ञानका महत्त्व बतलाते हुए लिखा है—

भेदविज्ञान जग्यो जिनके घट, शीतल चित्त भयो जिमि चन्दन।
केलि करें शिवमारगमें, जगमांहि जिनेश्वरके लघुनंदन॥

अर्थात्—भेदविज्ञानीको जिनेश्वरका लघुनन्दन कहकर उसका महत्त्व सूचित किया है। अतएव पुद्‌गलका एक अणु भी आत्माका अपना नहीं है, न वह अतीत कालमें आत्माका अपना रहा है, न वर्तमानमें है और न अनागतमें ही आत्माका अपना होगा। पुद्‌गल पुद्‌गल है और आत्मा आत्मा है। आत्मा कभी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुद्गल नहीं हो सकता और पुद्गल कभी आत्मा नहीं हो सकता। इसप्रकारका बोध-व्यापार ही भेद-विज्ञान है।

शुद्ध नयकी अपेक्षा आत्मा अपने एकपनमें नियत है, स्वकीय गुण-पर्यायोंमें व्याप्त है तथा पूर्ण चैतन्य पिण्ड है। ऐसे आत्माका आत्मातिरिक्त पदार्थोंसे पृथक् अनुभव करना भेद-विज्ञान है। यह आत्मा अवद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य नियत, अविशेष और असंयुक्त है। पर व्यवहारनयके कारण इस आत्माकी नर, नरक, देव, तिर्यंच आदि अनेक अवस्थाएँ दिखलायी पड़ती हैं। अनादिकालीन कर्मसंस्कारोंके कारण ही इस आत्माकी रागादिरूप परिणति होती है। यह परिणति दो विजातीय द्रव्योंके सम्बन्धके कारण निष्पन्न हुई है। इसी कारण नाना प्रकारके बद्ध, स्पृष्टत्वादि अनेक पर्याय आत्माके दिखलायी पड़ते हैं। आत्मा परिणमनस्वभाववाला है। जब जिस भावको करता है, वही भाव उसका कर्म कहलाता है और आत्मा उस भावका कर्त्ता होता है। ज्ञानी जीवके समीचीनरूपसे स्वपरका भेदज्ञान है। इसी कारण उसके आत्मानुभूतिका उदय रहता है। अतएव ज्ञानीका वह भाव ज्ञानमय होता है और अज्ञानीके अज्ञानमय। वस्तुस्वभावके अनुसार प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने परिणमनका कर्ता है, और उसका वह परिणमन कर्म कहलाता है। आचार्य कुन्द-कुन्दने इसी भावको स्पष्ट करते हुए लिखा है :—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स॥

समयसार गाथा १२६

× × × ×

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि॥

वही, गाथा १२७

जिसप्रकार परिणमनस्वभाव होनेपर भी एक परमाणुमें अनेक अवस्थाएँ सम्भव नहीं, पर जब वही परमाणु स्कन्धरूप हो जाता है, तब उसमें शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य आदि नाना भेद उत्पन्न होते हैं। इसीप्रकार परिणमनशील आत्मामें राग द्वेषादिके रहनेपर ही नर, नरकादिपर्याएँ सम्भव होती हैं; और राग-द्वेषादिके अभावमें नहीं। अतएव निश्चयनयकी दृष्टिसे यह शुद्ध-बुद्ध अलिप्त आत्मा अनादि कालसे स्वपुरुषार्थकी हीनताके कारण रागादिरूप परिणामोंको परके कारण उत्पन्न करता आरहा है और रागादि परिणामों का निमित्त पाकर कार्माणवर्गणाओंका ज्ञानावरणादिरूप परिणमन होता आ रहा है जिससे आत्मा विभिन्न प्रकारके शरीरोंद्वारा-चतुर्गतिमें परिभ्रमण कर रहा है।

आशय यह है कि उपादानरूप आत्मदृष्टिका प्राप्त करना ही परपदार्थोंकी आसक्तिसे मुक्ति प्राप्त करनेका साधन है, जबतक मनमें रागद्वेषकी वृत्ति उत्पन्न न हो तबतक कोई भी बाह्य पदार्थ बाँध नहीं सकता है। यदि राग-द्वेषके बिना भी आत्मा बद्ध होने लगे, तो विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जायगी। यहाँ यह ध्यातव्य है कि किसी पदार्थको ज्ञानोपयोगके द्वारा जानने मात्रसे ही वन्ध नहीं होता, वन्धका कारण परदृष्टि या रागभाव है। पदार्थोंका परिज्ञान करना तो आत्माका सहज स्वभाव है। यदि आत्मा अपनी ज्ञान शक्तिसे अपनेसे भिन्न संसारके अन्य पदार्थोंको जानता-देखता है तो इससे उसका कुछ विगड़ता नहीं, विगाड़ तो राग-बुद्धिके कारण होता है। जब जाननेके साथ मनमें राग-द्वेषकी वृत्ति उत्पन्न होती है, तब अवश्य वन्ध होता है। अतः रागादियुक्त भाव ही बंधका कारण है और रागादिरहित ज्ञायकस्वभाव अवंधका।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चयतः राग-द्वेष-मोहके सम्पर्कसे उत्पन्न भाव अज्ञानमय हैं। ये अज्ञानभाव ही आत्माको कर्मबन्ध करनेके लिए प्रेरित करते हैं अर्थात् आत्मामें ऐसी विभावता उत्पन्न कर देते हैं, जिनका निमित्त प्राप्त कर पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि भावरूप परिणमनको प्राप्त हो जाता है। रागादिके भेदज्ञानसे जो भाव उत्पन्न होते हैं, वे ज्ञायकभाव हैं, ये भाव आत्माके स्वभावस्थ होनेके कारण ज्ञानावरणादि कर्मोंके बन्धक नहीं होते। अतएव अज्ञानमयभाव कर्मके कर्तृत्वमें प्रेरक होनेसे बन्धक हैं और रागादि-अमिश्रित ज्ञायकभाव स्वभावको प्रकट करनेके कारण अबन्धक हैं।

यह स्मरणीय है कि जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके साथ बन्धको प्राप्त करता है, तो उस समय उसका अशुद्ध परिणमन होता है और अशुद्ध परिणमनमें दोनों द्रव्योंके गुण अपने स्वरूपसे च्युत होकर विकृत भावको प्राप्त होते हैं। जीवद्रव्यके गुण भी अशुद्ध अवस्थामें इसी प्रकार विकारको प्राप्त होते रहते हैं। जीवद्रव्यके अशुद्ध परिणमनका मुख्य कारण उसकी वैभाविकी शक्ति है और सहायक निमित्त जीवके गुणोंका विकृत परिणमन है। जीव और पुद्गलका अशुद्धावस्थामें ही बन्ध होता है, शुद्ध अवस्था होने पर विकृत परिणमन नहीं होता। इस विकृत मरिणमनको ही बन्धका सहायक निमित्त कहा जाता है।

बन्धके दो भेद हैं १. सजातीय बन्ध और २. विजातीय बन्ध। पुद्गलके बन्धको सजातीय बन्ध कहा जाता है। जीवमें केवल विजातीय बन्ध ही होता है, पर पुद्गलमें सजातीय विजातीय दोनों प्रकारके बन्ध होते हैं। जीव और पुद्गलमें वैभाविकी शक्तिके साथ अन्य सहकारी कारण भी विद्यमान रहते हैं। जो आत्म-रसिक कर्तृत्व और बन्धभावको अवगतकर अपने विकल्प और विकारोंको दूर करनेमें प्रयत्नशील रहता है, वह साधनामार्गको प्राप्त कर लेता है और उसके रागद्वेष-विकार शान्त हो जाते हैं।

अशुद्ध आत्माकी दशा अर्धभौतिक जैसी है। इन्द्रियाँ यदि न हों तो श्रवणादिकी शक्ति होनेपर भी संवेदन नहीं होता है। विचारशक्तिके रहनेपर भी यदि मस्तिष्क ठीक न हो तो विचार या चिन्तन नहीं किया जा सकता है। अशुद्ध आत्माकी दशा और उसका सारा विकास बहुत कुछ पुद्गलके अधीन है। अतएव अध्यात्मवादकी प्रक्रिया द्वारा आत्माको शुद्ध करनेका प्रयत्न करना आवश्यक है। और यह अध्यात्मवाद निश्चय और व्यवहार दृष्टियोंका परिज्ञान प्राप्त कर लेनेपर ही संभव है। आत्मशुद्धिका सबसे प्रमुख साधन आत्मसत्ताकी आस्थाके साथ स्व-परके भेदको अवगत करना है। जब तक भेदज्ञानका प्रकाश जीवनमें उत्पन्न नहीं होता, तब तक हमारा आत्मा अन्धेरेमें भटकता रहता है। भेदविज्ञानरूपी दीपकके प्रज्वलित होते ही अन्धश्रद्धाका तिमिर नष्ट हो जाता है। साधकको आत्मानुभूति होनेके साथ स्वस्वरूपकी उपलब्धि होने लगती है और रागादिभावोंके क्षीण होनेसे आत्मामें नये विभाव उत्पन्न नहीं होते। आस्रव संवरके रूपमें और बन्ध निर्जराके रूपमें परिणत हो शुद्धोपयोगकी स्थिति प्राप्त होने लगती है।

वस्तुतः आत्मसाधनाका मूलाधार है आत्माकी आस्था, निष्ठा, श्रद्धा और विश्वास। जो आत्मदृष्टिको प्राप्त कर लेता है, उसका जीवन अमल-धवल बन जाता है। आत्मशुद्धिकी प्रयोग विधिमें इसी कारण आचार-विचारसे पहले दृष्टिकी विशुद्धिपर जोर दिया गया है। जब तक व्यक्ति अपने आपको समझनेका प्रयत्न नहीं करता है, तब तक आत्मपाठशालाका वह अन्तेवासी बननेमें असमर्थ है।

यह सार्वजनीन सत्य है कि ऐकान्तिक निश्चयके व्यामोहमें व्यवहारको सर्वथा छोड़ना एक बड़ी भूल है, पर इस विचारकी भी अवहेलना नहीं की जा सकती कि व्यवहारके फन्देमें फँसे रहकर निश्चयको छोड़ देना, उससे भी बड़ी भूल है। निश्चय और व्यवहार दोनों एक ही सिक्केकी दो पीठिकाएँ हैं, जिन्हें अनेकान्ता-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्मकदृष्टिके प्रकाशमें परखना होगा तथा वस्तुस्वरूपके अनुसार ग्रहण करना होगा। अनन्त जन्मोंमें अनन्त बार व्यवहारको पकड़नेका प्रयत्न किया, पर अपने मूल उपादानकी ओर दृष्टिपात नहीं किया। पुरुषार्थके यथार्थ स्वरूपको पहचाना नहीं। पुरुषार्थकी प्रबलता होनेपर निमित्तसामग्रीका साहाय्य प्राप्त होना स्वाभाविक है। कार्यकी उत्पत्ति अन्तरंग और बहिरंग कारणोंके मिलनेसे होती है। अतः आत्मसाधनाके लिए आवश्यक है कि आत्माके विभवद्वारको पारकर उसके स्वभावके भव्यद्वारमें प्रवेश किया जाय। इसीसे विकल्पका विप विचार-आचारके ज्ञानामृतमें परिवर्तित हो जाता है और वीतरागताकी प्राप्ति होने लगती है। अशुद्धसे शुद्ध होनेपर चेतन परम चेतन हो जाता है और कर्मबन्ध क्षीण होते हैं।

परिनिष्ठित आचार-विचार—

परिनिष्ठित आचार-विचारसे हमारा तात्पर्य संयमसे है। संयमका अर्थ राग-द्वेष-मोह त्याग कर इन्द्रिय एवं मनको नियन्त्रित कर विकाररहित होना है। संयमके द्वारा व्यक्ति निजशुद्धि कर आत्मोत्थान करता है। संयम आत्माके शुद्धिकरणकी प्रयोगविधि है। आचार्योंने इसके दो भेद बतलाये हैं—१. वीतरागसंयम, २. सरागसंयम। वीतरागसंयमका अर्थ वह संयम है जिसमें साधक इतनी ऊँचाई पर पहुँच जाता है, जिससे उसके जीवनमें किसीके भी प्रति राग-द्वेष नहीं रहता है। इसके विपरीत सरागसंयममें राग-द्वेष अल्पमात्रामें बने रहते हैं। जितने अंशमें राग है, उतने अंशमें चारित्र नहीं और इसमें जितना वीतराग भाव है, उतना ही परिनिष्ठित आचार-विचार है। परिनिष्ठित आचार-विचारके अभावमें जीवन-नौका कभी तटपर नहीं पहुँच पाती। जो संसारके भोगचक्रमें तल्लीन है और वीतराग भावसे दूर है, उसके भवबन्धन दूर नहीं हो सकते। विकारोंको दूर करनेकी एकमात्र औषधि संयम है।

यह मोह-मुग्ध आत्मा संसार-सागरकी उत्ताल तरंगोंपर उठता और गिरता है, पर जब इसे संयमका अवलम्बन प्राप्त हो जाता है, तब यह काम, क्रोध, मोहादि विकारोंसे मुक्त हो जाता है। संयम व्यक्तिकी नाना समारम्भोंसे रक्षा करता है, उसकी कामनाओंको नियन्त्रित करता है। जिस प्रकार नदीके अस्तित्वको बनाये रखनेके लिए उसके तटोंकी आवश्यकता होती है। तटोंके अभावमें नदीका पानी फैलकर सूख सकता है और नदी दूर तक प्रवाहित नहीं हो सकती, इसी प्रकार संयमके द्वारा व्यक्ति इच्छाओं और आकांक्षाओंके तट प्रदान करता है। इच्छाएँ नियन्त्रित हो जाती हैं और जीवन वेगपूर्वक शुद्धिकी ओर गतिशील होने लगता है। संयममें इच्छापूर्वक इन्द्रियों और मनको संयमित करना होता है। संयम विधि-निषेधकी रेखाओं द्वारा घिरा हुआ क्षेत्र है, जो एक सफल आकृति प्रदान करता है। असंयमको क्षेत्रहीन शून्य माना जा सकता है, जो अपने अस्तित्वके लिए अन्यकी अपेक्षा करता है। अतः विधिपक्षमें आत्माकी वीतरागी प्रवृत्ति संयम है।

संयमकी आवश्यकता आत्मशोधनके साथ समाजको नियन्त्रित करनेके लिए भी है। देखा जाता है कि संसारमें सम्पत्ति एवं भोगोपभोगकी सामग्री कम है और भोगनेवालोंकी संख्या अधिक है तथा तृष्णा और आकांक्षाएँ और भी अधिक हैं। इसी कारण समाजमें मत्स्यन्याय चलता है, छीना-झपटी आरम्भ होती है और चलता है संघर्ष। फलतः नाना प्रकारके अत्याचार और अन्याय होते हैं, जिनसे अहर्निश अशान्ति बढ़ती जाती है। परस्परमें ईर्ष्या और द्वेषकी मात्रा भी अधिक होतीहैं, जिससे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिको भौतिक उन्नति-के अवसर नहीं मिलने देता है। परिणाम यह होता है कि संघर्ष और अशान्तिकी लहरें बढ़कर विषमता उत्पन्न कर देती हैं। इस विषको दूर करनेका साधन संयम या नियन्त्रण ही है। समाजका प्रत्येक सदस्य अपनी इच्छाओं, वासनाओं और कषायोंपर नियन्त्रण रखकर ही शान्ति बनाये रखनेमें सहायक हो सकता है। अतएव संयम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिस प्रकार वैयक्तिक जीवनके लिए आत्मशोधनका कारण है, उसी प्रकार समाजव्यवस्थाके लिए भी उपयोगी है। आंशिक संयम पालनसे भी संग्रहवृत्तिका त्याग सम्भव है, असंयमीके जीवनमें कामनाओं और आकांक्षाओं-का प्राबल्य रहता है, अतः वह असंग्रही नहीं हो सकता है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्तीने संयमका स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है—

वदसमिदिकसायाणं दंडाणं तहिंदियाण पंचण्हं।
धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणिओ॥

—जीवकाण्ड, संयममार्गणा, गा० ४६४

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच महाव्रतोंका धारण करना, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग इन पाँच समितियोंका पालन; क्रोध, मान, माया और लोभ कषायोंका निग्रह करना, मन, वचन और काय रूप दण्डका त्याग एवं स्पर्शन, रसनादि पाँच इन्द्रियोंका जय करना संयम है।

जो व्यक्ति आत्मशोधनके साथ समाजमें समताभाव स्थापित करना चाहता है, उसे संयम धारण करना आवश्यक है। संयम धारण करते ही जीवन परिवर्तित हो जाता है। तिर्यञ्च संयमी बन आत्मोत्थान करता है। हाथी, सिंह जैसे प्राणी भी संयमसाधना द्वारा महान् बन जाते हैं। महाकवि भूधरदासने बताया है—

अब हस्ती संयम साधै। त्रस जीव न भूल विराधै॥
समभाव छिमा उर आनै। अरि-मित्र बराबर जानै॥
काया कसि इन्द्री दण्डै। साहस करि प्रोषध मंडै॥
सूखे तृण पल्लव भच्छै। परमर्दित मारग गच्छै॥

संयम साधना द्वारा ही मानवीय करुणा और मानवीय चेतना जागृत होती हैं। अहिंसा संयमका आधार-स्तम्भ है और मानवजातिके ऊर्ध्वमुखी विराट् चिन्तनका सर्वोत्तम विकासबिन्दु है। लौकिक और लोकोत्तर दोनों ही प्रकारके मङ्गल-जीवनका यह मूलाधार है। अधिकारलिप्सा, असहिष्णुता, सत्तालोलुपता और स्वार्थान्धताके विपाक्त संसारमें अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ विश्राम है। अहिंसाके द्वारा ही मनुष्य अपनेको समझ पाता है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहकी भावना अहिंसासे ही प्राप्त होती है। जीवनके सभी उन्नत आदर्शोंकी प्राप्तिका साधन अहिंसा है और है यह आध्यात्मिक साधनाकी आधारभूमि। मन, वाणी और इन्द्रिय-संयम अहिंसापर ही अवलम्बित हैं।

अहिंसाकी भावना विचार और जीवनके तरीकेमें क्रान्ति उत्पन्न कर देती हैं। अतः व्यक्तिगत गुण होनेके साथ अहिंसा सामाजिक गुण भी है। समाज अपने कार्योंमें अहिंसाका प्रयोग करे तो अधिक व्यवस्थित हो सकता है। अहिंसाद्वारा स्वनिरीक्षणकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है तथा वह दूसरेकी आँखका तिल बतलानेकी अपेक्षा अपनी आँखका पहाड़ देखनेके लिए प्रेरित करती है। निस्स्वार्थ प्रेम फलकी माँग नहीं करता, वह लोककल्याणको देखता है। अहिंसा-साधनासे निस्स्वार्थ प्रेमभाव उत्पन्न होता है तथा व्यक्ति और समाज दोनोंका स्तर उन्नत हो जाता है। अतः सामाजिक दृष्टिसे अहिंसाका सम्बन्ध प्राणिमात्रके प्रति सद्भाव, प्रेम, सहानुभूति और दयासे है।

शास्त्रीय दृष्टिसे राग, द्वेष, मोह, छल, कपट, घृणा आदि सभी विकार हिंसा हैं और इनका त्याग अहिंसा है। आगममें द्रव्यहिंसाकी अपेक्षा भावहिंसाके त्यागपर विशेष जोर दिया है। यतः भावहिंसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से किसी अन्यका अहित होनेके पूर्व अपना ही अहित होता है। जब क्रोध, मान, माया आदि विकार उत्पन्न होते हैं, तो वे आत्माके निजी गुणोंका घात करते हैं, जिससे आत्मा अनादि कर्मसंततिको अर्जित करता चला जाता है।

संयमी व्यक्तिको आचार-विचारकी शुद्धिके लिये भी प्रयत्नशील रहना है। विचारकी शुद्धि स्याद्वाद-द्वारा होती है। मानसिक अहिंसाकी स्थायी प्रतिष्ठा वस्तुस्वरूपके यथार्थ दर्शनके बिना सम्भव नहीं। शारीरिक हिंसाके रोकनेपर भी वचन-व्यवहार और चित्तगत विचार विषम और विसंवादी होनेपर अहिंसाकी सर्वाङ्गीण प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है। विश्वका प्रत्येक जड़-चेतन तत्त्व अनन्तधर्मोंका भण्डार है। उसके विराट स्वरूपको साधारण मानव पूर्णरूपमें नहीं जान सकता। मनुष्यका आंशिक ज्ञान वस्तुके एक-एक अंशको जानकर अपनेमें पूर्णताका अभिमान कर बैठता है। विवाद वस्तुमें नहीं हैं, विवाद देखनेवालोंकी दृष्टिमें है। अतः पक्षपातपूर्ण नीतिका उन्मूलनकर अनेकतामें एकता, विचारोंमें उदारता एवं जीवनमें सहिष्णुता उत्पन्न करना संयमसाधनाके अन्तर्गत है। एकाङ्गी ज्ञान होनेके कारण विचारभिन्नताका उत्पन्न होना स्वाभाविक है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिके विचार अपनी योग्यता, परिस्थिति, समझ एवं आवश्यकताके अनुसार बनते हैं। अतएव अनेकान्तात्मक दृष्टिके व्यवहार द्वारा विचारोंका समन्वय उत्पन्न करनेकी चेष्टा करनी चाहिए।

आचारको अहिंसक बनानेके लिए आहार-पानकी शुद्धि भी अपेक्षित है। अमर्यादित और विकारोत्पादक भक्ष्य पदार्थोंका सेवन भी त्याज्य है। मिथ्या आहार-विहार करनेवाला व्यक्ति आत्मशोधनके लिए आवश्यक अहिंसाका पालन नहीं कर सकता है। तत्त्वज्ञानी होनेपर भी अनशन, ऊनोदर आदि द्वादश व्रतोंके पालनके साथ शुद्ध आहार-जलका ग्रहण करना आवश्यक है। भोजनशुद्धिका सम्बन्ध भी आत्मविकासके साथ है, यतः आहार-विहारका प्रभाव मनुष्यके अन्तरंगपर भी पड़ता है।

मेरी दृष्टिसे संयमसाधनाके तीन अङ्ग हैं—

१. चित्तविषयोंके प्रति अनासक्ति—निवृत्तिमूलक प्रवृत्ति
२. चित्तवृत्तियोंके प्रति जागरूकता—शुभ प्रवृत्ति
३. चित्तसाक्षीकी स्मृति—ध्यान

चित्तविषयोंके प्रति अनासक्तिसे तात्पर्य राग-द्वेष-मोहको दूर करनेके हेतु स्वाश्रयकी दृष्टिसे है। इस दृष्टिके प्राप्त होते ही पुरातन कर्मसंस्कार विगलित होने लगते हैं और नवीन संस्कारोंका उत्पन्न होना भी अवरुद्ध हो जाता है। चित्तवृत्तियोंके प्रति जागरूकतासे राग-द्वेषादि विकारोंका विसर्जन आरम्भ होता है। शास्त्रीय परिभाषामें प्रथमको संवर और द्वितीयको निर्जरा माना जा सकता है। संयमका अन्तिम चरण वैराग्य-जन्य ध्यान है। ध्यानके अवसरपर समस्त चित्तवृत्तियोंकी तटस्थरूपमें स्मृति विद्यमान रहती है, पर संयम विभिन्न चित्तवृत्तियोंके उत्पन्न होनेपर भी उदासीन बना रहता है। न तो किसी वृत्तिसे राग करता है और न किसीसे द्वेष। उसकी जागरूकता प्रतिक्षण बढ़ती जाती है और परपरिणति दूर होती है।

वाङ्मय—

वाङ्मय संस्कृतिका प्रधान अङ्ग है। वैदिक परम्परामें जिस प्रकार अपौरुषेय वेद सर्वोपरि प्रमाणभूत है, उसी प्रकार जैन परम्परामें सर्वज्ञ, वीतरागी एवं हितोपदेशी व्यक्तिके वचनोंसे उत्पन्न ज्ञान। व्यक्तिके निर्दोष और पूर्ण ज्ञानी होनेसे उसके द्वारा प्रतिपादित वचनरूप वाङ्मय भी प्रमाण है। यह अमृतके समान हितकारी है, विषयवेदनासे सन्तप्त प्राणियोंके लिए परम औषधि है। आचार्य कुन्दकुन्दने बताया है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं ।
जरमणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ।।

दंसणपाहुड गा० १७

वाङ्मयद्वारा समस्त द्रव्य और पर्यायोंका ज्ञान प्राप्त होता है । स्याद्वादमय श्रुतज्ञान और केवलज्ञानमें विषयवस्तुको ग्रहण करनेकी दृष्टिसे अन्तर नहीं; अन्तर केवल प्रत्यक्ष और परोक्षकी अपेक्षासे है । वाङ्मय और केवलज्ञानको समान महत्त्व देते हुए बताया है—

सुद केवलं च णाणं दोण्ण वि सरिसाणि होंति बोहादो ।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं ।।

गोम्मटसार जीव० गा० ३६८

केवलज्ञानसे स्याद्वादरूप आगमकी उत्पत्ति होती है और स्याद्वादरूप आगमके अभ्याससे केवलज्ञान-की । श्रुतज्ञानके पाठीको समस्त ज्ञेयोंको जाननेके कारण श्रुतकेवली कहा गया है ।

वाङ्मयके स्वाध्यायद्वारा निजस्वरूपको प्रतिदिन अवगत करनेका अवसर प्राप्त होता है । वस्तु-स्वरूपकी जानकारी होनेसे आत्माका मनन, चिन्तन और अनुभव भी होता है । इसी कारण "पढमं णाणं तओ दया" अर्थात् प्रथम ज्ञान और पश्चात् दयाका स्थान है । भेदविज्ञानकी प्राप्ति भी स्वाध्यायसे सम्भव है ।

वाङ्मय पतंगकी डोरके समान है । पतंग उड़ानेवालेके हाथमें पतंगका सूत्र रहता है, जिसके सहारे पतंग ऊपर दूर तक आकाशमें उड़ती रहती है । यदि डोर हाथमें है तो पतंगको जिधर चाहें उधर ऊपर-नीचे कर सकते हैं । हाथसे पतंगकी डोर छूट जानेपर पतंगकी स्थिति क्या हो सकती है, यह कहा नहीं जा सकता ? वह अनन्त आकाशमें निराधार एवं लक्ष्यभ्रष्ट हो उड़ती जायगी और कहीं भी गिरकर नष्ट हो जायगी । इसी प्रकार स्वाध्यायद्वारा प्राप्त तत्त्वचिन्तनके पतंगको वाङमयके सूत्रके सहारे ही हम स्थिर करते हैं । यदि हमारा चिन्तन वाङ्मयके सूत्रसे सम्बद्ध न रहे तो चिन्तनकी पतंग कहीं भी पथभ्रष्ट हो सकती है । अतएव आचार्योंद्वारा प्रतिपादित वाङ्मयकी डोरका हमारे हाथमें रहना आवश्यक है, इसीकेद्वारा तत्त्व-चिन्तन और आत्मानुभूतिकी पतंग निश्चित मार्गमें उड़ पाती हैं । वाङ्मयके स्वाध्याय द्वारा तत्त्वचिन्तनको पुष्ट किया जाता है और स्वाध्यायजन्य ज्ञान ही चारित्रकी प्राप्तिमें सहायक होता है । यही अन्धकारसे प्रकाश-में जानेका मार्ग है । अहंता, ममता और आसक्तिका त्याग इसीके द्वारा सम्भव है ।

समत्वयोगकी साधना भी स्वाध्यायद्वारा प्राप्त होती है । साधक जो कुछ पाना चाहता है, उसे स्वाध्यायद्वारा प्राप्त कर लेता है । "अज्झयणमेव झाणं"—अध्ययन ही ध्यान है इस आगमवाक्यसे स्वा-ध्यायका महत्त्व स्वतः सिद्ध हो जाता है ।

तीर्थ एवं चैत्य-चैत्यालय—

जैन संस्कृतिका चतुर्थ अवयव तीर्थ एवं चैत्य-चैत्यालय हैं । इनकी भक्ति-भावनासे विषय-विकारोंपर विजय प्राप्त होती है । आगममें षट् आवश्यकोंमें वन्दनको स्थान दिया गया है । वन्दन मन, वचन और काय-का वह व्यापार है, जिससे पूज्योंके प्रति बहुमान प्रकट किया जाता है । तीर्थ एवं चैत्य आत्मोत्थानके विश्रान्त पर्व हैं, इन्हें समवशरणका प्रतीक माना गया है । जिस प्रकार समवशरणके द्वारपर पहुँचते ही अहंकार विग-लित हो जाता है, लोकैषणाएँ विलीन होने लगती हैं, उसी प्रकार तीर्थ और चैत्यालयोंमें प्रवेश करते ही सांसारिक वासनाएँ क्षीण होने लगती हैं और आत्मबोधकी किरणें आलोक विकीर्ण करने लगती हैं । अतएव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीर्थ, चैत्यालय एवं चैत्यके दर्शनसे निजात्माकी शक्तिकी आस्था उत्पन्न होती है। चैत्योंके दर्शनसे आत्मामें अर्हन्तके समान ही अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख एवं अनन्तवीर्य अवस्थित है, इस आस्थाकी प्रतीति होती है।

चैत्य या देवप्रतिमा सर्वज्ञ, वीतरागी और हितोपदेशी ध्यानावस्थित अर्हन्तका प्रतीक हैं। यह साभिप्राय प्रतीक है, जो समवशरणमें स्थित धर्मोपदेश देनेवाले तीर्थङ्करका प्रतिनिधित्व करता हैं और अर्हन्त-उस स्थितिको उपस्थित करता है, जिस स्थितिमें कर्मकालिमासे लिप्त जीवोंको पुरुषार्थ जागृतिके लिए प्रेरणा प्राप्त होती है। जिस प्रकार श्रोता, समवशरणमें उपस्थित हो, तीर्थंकरकी दिव्यध्वनिका श्रवणकर आत्मास्था उत्पन्न करते हैं, इसी प्रकार दर्शक चैत्यालय या तीर्थमें पहुँचकर वीतरागी प्रतिमाका दर्शन और पूजन-कर सम्यकत्व लाभ करता है। इस पञ्चमकालमें सम्यकत्वप्राप्ति एवं आत्मकालुष्यको दूर करनेके लिए जिनचैत्य आवश्यक साधन है। दूसरे शब्दोंमें यों कहा जा सकता है कि जिनचैत्यालय और तीर्थ-स्थान स्वको समझनेके लिए ऐसी पाठशाला हैं, जिनमें अध्यात्मवादकी मूक शिक्षा प्राप्त होती है। चैत्योंको दर्पणकी उपमा दी जाती है, जिस प्रकार हम दर्पणमें अपने मुखमें लगी कालिमा देखकर उसे साफ कर देते है, उसी प्रकार जिनमूर्त्तिके साक्षात्कारसे हम अपने राग-द्वेषको पहचानते हैं और उन्हें दूर करनेका प्रयास करते हैं। आशाधरजीने बताया है कि शास्त्रज्ञोंकी बुद्धि भी देववन्दनके बिना मिथ्या हो सकती है। अतः चैत्या-लय संस्कृतिके आवश्यक अंग हैं।

धिग्दुःषमाकालरात्रिं यत्र शास्त्रदृशामपि।
चैत्यालोकादृते न स्यात्प्रायो देवविशा मतिः॥

सागार० २।३६

वीतरागी गुरुओंका सद्भाव—

संस्कृतिका पञ्चम अवयव वीतरागी दिगम्बर गुरु हैं। निर्ग्रन्थ गुरु स्वयं मूर्तिमान् संस्कृति हैं। गुरु सर्वसावद्यसे विरत होनेके कारण आत्मालोक प्रदान करते हैं। अच्छे संस्कारोंका आरम्भ गुरुओंके सान्निध्यसे होता है। देव, गुरु और शास्त्रको समान महत्त्व दिया गया है। जिनेन्द्रमुद्रांकित, सम्यक्चरित्रनिष्ठ, अष्टा-विंशति मूलगुणयुक्त संयम-स्वाध्यायपरायण गुरुओं द्वारा संसारी जीवोंका महान् कल्याण होता है। वास्तवमें दिगंम्बर गुरु साक्षात् धर्मस्वरूप हैं। वे स्वयं सम्यक्चारित्रका पालन करते हैं और भव्यजीवोंके हृदय एवं व्यवहारमें उस आचरणके प्रति आस्था उत्पन्न करते हैं। यही कारण है कि कवि भूधरदासने संसार-समुद्रसे पार होनेके लिए गुरुको जहाजका रूपक दिया है। यथा—

ते गुरु मेरे मन बसो, जे भव-जलधि जहाज।
आप तिरें, पर तारहिं ऐसे श्री गुरुराज॥

वीतरागी गुरुओंकी पञ्चपरमेष्ठीमें गणना की जाती हैं। गुरुके लिए तप, ज्ञान, और चारित्र-सम्पन्न होना आवश्यक है। 'गुरु' शब्दमें दो वर्ण हैं—गु और रु। 'गु' का अर्थ अन्धकार और 'रु' का अर्थ विनाशक है। अतः अज्ञान-अन्धकार विनाशकको गुरु कहा है—

'गु'. शब्दस्त्वन्धकारे च रु-शब्दस्तन्निवर्तकः।
अन्धकारविनाशित्वाद् 'गुरु'रित्यभिधीयते॥

महाकवि वादीभसिंहने बतलाया है कि रत्नत्रयसे विशुद्ध, धर्मसंबर्धन हेतु भव्यजीवोंपर स्नेह करनेवाला, मोक्षरूप परमपुरुषार्थमार्गमें संलग्न और दशलक्षण-अहिंसा परमधर्मका पालन करनेवाला गुरु भवसिन्धुमें डूबते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुए भव्योंके लिए तरण-तारण हैं। गुरु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके नायक और मोक्षमार्गके उपदेष्टा हैं। अतएव वैयावृत्य, आहारदानादि क्रियाओं द्वारा वीतरागी गुरुओंका संवर्धन करना प्रत्येक श्रावकका कर्त्तव्य है। वर्त-मान साधु-संस्थाको स्वस्थ, सबल और उपयोगी बनाना सभीका दायित्व है।

विद्वत्परिषद्के मान्य सदस्यगण

अब तक मैंने जैन संस्कृतिके स्वरूप, वैशिष्टच एवं उसके अंगोंपर प्रकाश डाला है। विद्वत्परिषद्को इस संस्कृतिका प्रचार करना है। वर्तमानमें हमारे समक्ष कई सांस्कृतिक समस्याएँ हैं, इन समस्याओंकी ओर भी आप सभीका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा।

अध्यात्मवादका प्रचार हो रहा है। पर उपादान, निमित्त, निश्चय और व्यवहारको लेकर मतभेद दिखलायी पड़ रहा है। प्रत्येक पक्षके विद्वान् अपने विचारोंको शास्त्रसम्मत बतलाते हैं और इतर पक्षके विचारोंको शास्त्रमान्यतासे रहित। अतः हम उभय पक्षके चिन्तकोंसे विनीत प्रार्थना करेंगे कि वे निष्पक्ष हो स्याद्वादनीतिका अनुसरणकर अपने विचारोंके समान अन्यके विचारोंका भी आदर करें तथा समन्वय-मार्ग-द्वारा मतभेदका शमन करें।

आज तीर्थों, पुरातन मूर्त्तियों एवं प्राचीन मन्दिरोंके संरक्षणका प्रश्न उपस्थित है। सम्मेदशिखर जैसे पावन क्षेत्रपर विवाद वर्तमान है, हमारे छोटे-बड़े अनेक तीर्थोंपर मुकद्दमे चल रहे हैं। हमारी प्राचीन मूर्तियों-की चोरी हो रही है। अनेक मूर्तियोंको खण्डित किया जाता है, और उन शिरोंको विदेशोंमें अधिक मूल्यपर बेचा जाता है। अतएव संस्कृतिके इस अंगकी रक्षा अवश्य होनी चाहिए। नये मन्दिर बनानेके स्थानपर पुरातन जीर्ण-शीर्ण मन्दिरोंका जीर्णोद्वार एवं उनके पूजन-प्रक्षालकी व्यवस्था करना नितान्त आवश्यक है। अच्छा तो यह है कि अभी हम दो-तीन वर्षों तक पञ्चकल्याणकप्रतिष्ठाएँ रोककर अपने तीर्थों और चैत्य-चैत्यालयोंकी रक्षामें उक्त धनका व्यय करें। अब नये मन्दिर बनवानेका समय नहीं है।

वाङ्मय संस्कृतिका आधार है। इस समस्याकी ओर भी मैं विद्वानोंका ध्यान विशेषरूपसे आकृष्ट करना चाहता हूँ। समाजके धनी-मानी श्रीमन्त मन्दिर बनवाने. पञ्चकल्याणकप्रतिष्ठाएँ कराने एवं अन्य उत्सव-विधानोंमें प्रतिवर्ष लाखों रुपये व्यय करते हैं और जनसामान्यका ध्यान भी मन्दिर, मूर्त्ति-प्रतिष्ठा, आहारदान, वैयावृत्य आदिकी ओर यत्किंचित् है, पर वाङ्मयके प्रकाशन और प्रसारणकी ओर बहुत कम व्यक्तियोंका ध्यान है। आज समाजमें अध्यात्म, पूजापाठ या अन्य दूसरे प्रकारके कुछ ग्रन्थ अवश्य प्रकाशित किये जाते हैं। पर साहित्यिक, दार्शनिक या अन्य प्रकारके सांस्कृतिक ग्रन्थोंका प्रकाशन अत्यल्प परिमाणमें हो रहा है। अभी भी ग्रन्थागारोंमें सहस्रों अप्रकाशित ग्रन्थ विद्यमान हैं, जिनके प्रकाशनकी व्यवस्था आवश्यक है।

प्राचीन ग्रन्थोंके प्रकाशनके साथ आधुनिक परिवेशमें नये साहित्यका निर्माण भी अपेक्षित है। हमारे समाजमें सृजनात्मक साहित्यकी ओर अभी विद्वज्जगत्का भी ध्यान नहीं गया है। प्रायः देखा जाता है कि जैनाचार्योंने प्रत्येक युगमें जैन कथानकोंको लेकर युगानुकूल ग्रन्थोंका प्रणयन किया है। वर्त्तमानमें सभी जन-पदीय भाषाओंमें काव्य, नाटक, कथा, आख्यान, प्रभृति विधाओंमें साहित्य-रचनाकी आवश्यकता है। हम टीका, अनुवाद एवं सम्पादनमें ही साहित्यकी समाप्ति न समझें, बल्कि प्रेरणाकर सुरुचि सम्पन्न साहित्यकी रचना अन्य लेखकोंसे करायें और स्वयं भी नये साहित्यका निर्माण करें।

स्वाध्याय या नये प्रकाशित ग्रन्थोंके अध्ययनकी रुचि भी उत्पन्न करनी है। आज सत् साहित्य प्रकाशित होता है पर उसके पाठक नहीं, जिससे किसी भी ग्रन्थकी पांचसौ प्रतियाँ भी कई वर्षोंमें बिक पाती हैं। अधिकांश ग्रन्थ भेंटमें दिये जाते हैं या उनकी बिक्री बहुत सीमित रूपमें होती है। ऐसा शायद ही कोई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थ होगा, जिसे द्वितीय संस्करणका अवसर मिला हो। अतएव हमें समाजमें पाठक भी उत्पन्न करने हैं तथा श्रीमन्तोंका ध्यान भी इस ओर आकृष्ट करना है कि वे कम-से-कम दस-दस प्रतियाँ प्रत्येक जैन ग्रन्थकी खरीदकर जिज्ञासुओंको भेंट करें तथा प्रत्येक मन्दिरमें प्रत्येक नया ग्रन्थ खरीदा जाय। यदि हमारे समाजके मन्दिर भी ग्रन्थ खरीदने लगें तो प्रकाशनकी समस्या सुलझ सकती है। विक्रीके अभावमें अच्छे साहित्यका प्रकाशन नहीं हो पाता है। अतएव भाद्रपदमें दशलक्षणपर्वके अवसरपर प्रत्येक मन्दिरका बजट बनाते समय नयें साहित्यके खरीदनेके लिए कुछ रकम अवश्य रखनी चाहिए। व्यक्तिगतरूपसे भी ग्रन्थ खरीदनेकी अभिरुचि उत्पन्न करनी चाहिये। यह सर्वमान्य सत्य है कि जैन ग्रन्थोंकी विक्री जैनतर संस्थाओं या व्यक्तियों द्वारा नही होती या बहुत कम होती हैं। जैन ग्रन्थोंकी विक्रीका क्षेत्र जैन समाज हैं, अतः समाजके प्रत्येक सदस्यको जिनवाणीके संवर्धन और संरक्षण हेतु इस दिशामें प्रयत्नशील होना अपेक्षित हैं। जिस प्रकार हम अपने अन्य आवश्यक कार्योंमें खर्च करते हैं, उसी प्रकार साहित्य खरीदनेमें भी कुछ व्यय करना आवश्यक है। यहाँ यह स्मरणीय है कि वाङ्मयकी अर्हताके आधारपर ही कोई भी धर्म या संस्कृति चिरस्थायी होती है। संस्कृतिका जीवन्तरूप साहित्य हैं, यही किसी देश, धर्म या जातिकी यथार्थ सम्पत्ति हैं।

जैन साहित्य विश्वशान्ति और विश्वमैत्रीके आधारभूत सिद्धान्तोंका प्रतिनिधित्व करता है। इसका मुख्याधार सप्तभङ्गी पद्धति है, जो विभिन्न दृष्टिकोणोंसे सत्यको उपस्थित करती है। विचार-वैविध्यको एक धरातलपर प्रतिष्ठितकर समन्वयात्मक जीवनमूल्योंका विश्लेषण ही इस पद्धतिकी विशेषता है। साहित्य-स्रष्टाओंके उदार विचार अनेकान्त सिद्धान्तके आलोकमें ही विकसित हुए हैं। अतः विद्वत्परिषद्के मान्य सदस्योंको साहित्योद्धारकी दिशामें विशेषरूपसे प्रयत्नशील होना है। भारत सरकार साहित्य-प्रकाशनके लिए अनुदान देती है। अतः विद्वत्परिषद्को प्रकाशनहेतु अनुदान-प्राप्तिके लिए भारत-सरकारके साथ सम्बन्ध स्थापित करना भी परम आवश्यक हैं।

प्राकृत और अपभ्रंश भाषाके अध्ययनकी दिशामें भी जागरूकता प्राप्त करनेकी आवश्यकता है। भाषा और साहित्यकी दृष्टिसे दोनों भाषाएं इतनी समृद्ध एवं पूर्ण हैं कि इनके सम्यक् अध्ययनके अभावमें संस्कृतका अध्ययन भी अपूर्ण माना जाता है। अतएव अपने यहाँके अतिरिक्त प्रत्येक भारतीय विश्वविद्यालयमें उक्त दोनों भाषाओंके अध्ययन हेतु व्यवस्था करानेके लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। विश्वविद्यालयोंके कुलपतियोंके साथ विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोगके साथ भी पत्राचार करना आवश्यक हैं। विद्वत्परिषद्को इस दिशामें विशेष प्रयत्न करना हैं।

जैनविद्यापर शोधकार्य करनेकी दिशामें इधर पर्याप्त विस्तार हुआ हैं। भारतके अधिकांश विश्वविद्यालयोंमें जैन विद्याके विभिन्न अंगोंपर शोधार्थी शोधकार्यमें संलग्न हैं। पर इस क्षेत्रमें भी कुछ कठिनाइयाँ हैं। पहली कठिनाई तो यह है कि सोमदेव जैसे विश्रुत कविपर कई अनुसन्धित्सुओंने शोधप्रबन्ध प्रस्तुत किये हैं, जिससे पुनरावृत्तियोंकी भरमार है। दर्शन, अध्यात्म, लोकविद्या, आचार जैसे विषयोंपर कार्य करनेवालों का अभाव दिखलायी पड़ता हैं। यदि इन विषयोंपर शोधकार्य सम्पादित करनेके हेतु छात्रवृत्तियोंकी व्यवस्था-हो तो जैन विद्यापर और अच्छा कार्य सम्भव हो सकता है। 'धवला' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थपर आजतक शोध-कार्य नहीं हो पाया। इस महाग्रन्थपर कम-से-कम दस शोधप्रबन्ध विभिन्न दृष्टिकोणोंसे तैयार किये जा सकते हैं। अतः 'धवला'पर कार्य करनेवालोंको आर्थिक सहायता दिलानेकी व्यवस्था करना अपेक्षित है। विद्वत्परिषद् के मान्य सारस्वतोंको 'धवला'पर एक समीक्षात्मक ग्रन्थ प्रकाशित करनेके लिए प्रयासशील होना चाहिए।

मैंने अपने सागर अधिवेशनवाले भाषणमें प्रातः स्मरणीय पूज्य वर्णीजी महाराज, गुरु गोपालदासजी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बैरया, पूज्य ब्र० शीतलप्रसादजी, स्व० सेठ माणिकचन्द्रजी 'पूज्य पं० चैनसुखदासजी, साहित्यमहारथी पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार प्रभृतिके नामोंपर 'फैलोशिप' दिये जानेका निवेदन किया था, पर अभी तक उक्त सुझावपर कुछ कार्य नहीं हो सका है।

वर्तमानकी समस्याओंमें जन-गणनाकी समस्या महत्त्वपूर्ण है। यतः जनसंख्याके आधारपर ही राजनीतिक स्वत्व उपलब्ध होते हैं और शासनसे साहाय्य भी जनसंख्याके अनुसार प्राप्त होता है। जैन समाज व्यापारियोंका समाज माना जाता है और व्यापारी शान्तिप्रिय होते हैं। अतः जो हमारा वास्तविक प्राप्य है, वह भी नहीं मिल पाता। अतएव आगामी जनगणनाके अवसरपर हमारा यह कर्त्तव्य है कि जैन समाजके सभी वर्ग-उपवर्ग पारस्परिक भेदभाव भूलकर 'जैन लिखाओ' आन्दोलनको गतिशील बनायें। भारतसरकारकी ओरसे जनगणना सन् १९७१ के फरवरी मासके द्वितीय सप्ताहमें होने जा रही है, इसका प्रथम चरण जनवरी सन् १९७० में पूरा हो चुका है। अतएव विद्वत्परिषद् 'जैन लिखाओ' आन्दोलनको पूर्णतया सफल बनानेके लिए सभी प्रकारका प्रयास करे। इस आन्दोलनमें भाग लेनेवाली सभी संस्थाओं और व्यक्तियोंके साथ पूर्ण सहयोग भी दिया जाय। बड़े आश्चर्यकी बात है कि अभी तक हमारी संख्या पन्द्रह-बीस लाख ही बतलायी जाती है, जबकि हम एक करोड़से अधिक हैं। अतः यथार्थ जनसंख्या ज्ञात हो सके और सही रूपमें हम धर्मके कालममें जैन लिखायें इसके लिए पूर्ण सतर्क और प्रयासशील रहना है।

भगवान् महावीरका २५ सौवाँ निर्वाणोत्सव अब निकट है। जैन समाजकी अनेक संस्थाएँ इस उत्सवको अपने-अपने ढंगसे सम्पन्न करनेके लिए प्रयत्नशील हैं। भारत जैनमहामण्डलके प्रयाससे बम्बईमें निर्वाणोत्सव-समिति संगठित की गयी है, जिसके तत्त्वावधानमें 'युग युगमें जैनधर्म' शीर्षक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। इस ग्रन्थके सम्पादक-मण्डलमें विद्वत्परिषद्के सदस्य भी सम्मिलित हैं। अ० भा० दि० जैन नि० समिति दिल्लीकी ओरसे भी इस निर्वाणोत्सवको सम्पन्न करनेकी योजना चल रही है। विद्वत्परिषद् इन सभी कार्योंमें यथेष्ट सहायता तो करेगी ही, किन्तु श्रुतज्ञानका दायित्व दि० जैन समाजके सारस्वतोंपर विशेष रूपसे है, अतः मेरी दृष्टिसे इस संस्थाद्वारा निम्नलिखित साहित्यिक कार्य अवश्य होने चाहिए।

(१) भगवान् महावीरके जीवनसे सम्बद्ध प्राचीन भाषाओंमें प्रणीत चरित, काव्य और कथाग्रन्थोंका प्रकाशन पच्चीससौवें निर्वाणोत्सव तक परम आवश्यक है। अभी तक मेरी जानकारीमें अपभ्रंश भाषामें पाँच वर्द्धमानचरित अप्रकाशित हैं—

(अ) वड्ढमाणजिण चरिउ—विबुध श्रीधर (इस ग्रन्थकी पाण्डुलिपि दूबी भण्डार जयपुरमें है)

(आ) वड्ढमाणचरिउ—जयमित्र हल (इस ग्रन्थकी पाण्डुलिपियाँ जयपुर, ब्यावर आदि ग्रन्थागारोंमें हैं)

(इ) सम्मइजिणचरिउ—रइधू—(इसकी पाण्डुलिपि जयपुरमें है और श्री डॉ० राजारामजी कार्य कर रहे हैं)

(ई) वड्ढमाणकव्वं—हरिश्चन्द्र (इसकी पाण्डुलिपि जैनसिद्धान्त भवन, आरामें है)

(उ) वड्ढमाणकहा—नरसेन (पाण्डुलिपि जयपुरमें है)

संस्कृतमें कवि पद्मनन्दिका वर्द्धमानचरित प्राप्य है। इसकी पाण्डुलिपिका प्रतिलिपिकाल वि० सं० १५०० है। अतएव यह रचना अनुमानतः १२-१३ वीं शतीकी है। हिन्दी भाषामें कवि केशरी सिंहद्वारा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रचित वर्द्धमानचरित भी प्रकाशनीय है। इसका रचनाकाल वि० सं० १८६१ है। काव्यकी दृष्टिसे यह चरितकाव्य महत्त्वपूर्ण है।

उक्त काव्य ग्रन्थोंके अतिरिक्त संस्कृत और हिंदीमें लिखित भगवान् महावीर सम्बन्धी आठ-दस पूजाएँ भी है। इनका संकलन भी अलग प्रकाशित होना चाहिए।

भगवान् महावीर सम्बन्धी लगभग तीस स्तोत्र प्राप्त हैं। इनका एक संकलन भी निर्वाणोत्सवके अवसर पर निकलना आवश्यक है।

अतएव वर्तमानमें जैनतीर्थों और मूर्त्तियोंकी रक्षाके साथ तत्त्वज्ञानकी जिज्ञासाके समान ही आचारके प्रचारकी आवश्यकता है। प्राय: देखा जाता है कि जितना तत्त्वज्ञानका प्रचार हुआ है, उतना ही चारित्र शिथिल होता जा रहा है। अतएव ज्ञानके साथ चारित्रका उत्थान होना बहुत आवश्यक है। स्वाध्यायशालाओं-की वृद्धिके साथ पाठक तैयार करना भी विद्वत्परिपद्का दायित्व है। ● ●

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् का पन्द्रहवाँ अधिवेशन सन् १९८५ में फिरोजाबाद में सम्पन्न हुआ जिसकी अध्यक्षता पण्डित भंवरलालजी न्यायतीर्थ, जयपुर द्वारा की गई।

परिषद् का सोलहवाँ अधिवेशन सन् १९९० में सतना (म. प्र.) में सम्पन्न हुआ जिसकी अध्यक्षता पण्डित माणकचन्दजी चंवरे कारंजा द्वारा की गई।

सन् १९९३ में खुरई (म. प्र.) में परिषद् का सत्रहवाँ अधिवेशन सम्पन्न हुआ जिसकी अध्यक्षता डॉ. देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री, नीमच द्वारा की गई।

उक्त तीनों ही अधिवेशनों में अध्यक्षीय भाषण का पठन नहीं किया गया अत: उन्हें यहाँ प्रकाशित करंने में असमर्थ हैं।

● सम्पादक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

डॉ. दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य, बीना (शिवपुरी-१६७३, द्वादशम् अधिवेशन के अध्यक्ष) का भाषण सार

> *आज भी कुछ सैद्धान्तिक मतभेद की समस्यायें हैं, जिनका होना अस्वाभाविक नहीं है। आचार्यों तक में सैद्धान्तिक मतभेद रहा है। आचार्य वीरसेन ने ऐसे अनेक आचार्य मतभेदों का धवला में समुल्लेख किया है किन्तु दुर्भाग्य से आज कुछ खिचाव पाया जाता है। वह नहीं होना चाहिये।*

धर्मतीर्थंकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये।।

भट्टाकलंकदेव, लधीयस्त्रय १।

वन्दनीय त्यागीगण, समादरणीय स्वागताध्यक्ष तथा स्वागत समिति के सदस्यगण, सम्मान्य विद्वद्वृन्द, साधर्मी बन्धुओ और वात्सल्यमूर्ति धर्मबहिनो !

इस पावन श्री महावीरजिनबिम्ब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के मंगलमय अवसर पर अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् के बारहवें रजतजयन्ती अधिवेशन का आपने मुझे अध्यक्ष चुना, इसके लिये आपका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। लगता है कि आपने मेरी कमियों की ओर दृष्टिपात नहीं किया और केवल स्नेहवश इस दायित्वपूर्ण पद पर बिठा दिया है। इसे मैं आप सबका आशीर्वाद मानकर स्वीकार कर रहा हूँ। विश्वास है इस जोखिम भरे पद के निर्वहण में आप सभी का पूरा सहयोग मिलेगा।

दिवंगत संयमियों और विद्वानों को श्रद्धाञ्जलि –

पिछला अधिवेशन सन् १६६८ में सागर (म. प्र.) में और नैमित्तिक अधिवेशन सन् १६७० में खतौली (उ. प्र.) में हुआ था। इन पांच वर्षों में हमारे बीच से अनेक पूज्य संयमियों तथा प्रतिष्ठित विद्वानों का वियोग हो गया है। उनके वियोग से समाज की महती क्षति हुई है। संयमियों में क्षुल्लक पूर्णसागरजी महाराज और क्षुल्लक दयासागरजी महाराज की स्मृति अमिट रहेगी। पूर्णसागरजी महाराज ने दिगम्बर जैन संस्कृति और तत्त्वज्ञान के संरक्षण एवं सम्यग्ज्ञान हेतु दिल्ली में दिगम्बर जैन केन्द्रीय महासमिति की स्थापना में अथक प्रयत्न किया और उनके प्रवर्तन में निरन्तर अनेक वर्षों तक शक्तिदान किया था। क्षुल्लक दयासागरजी महाराज बहुत ही अच्छे वक्ता, लेखक और विचारक थे। लोकहित के लिये उनके हृदय में अपार करुणा थी। वियुक्त विद्वानों में अन्तिम क्षण तक वांगमय सेवा में निरत, इतिहास लेखक, महान ग्रन्थ समीक्षक पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार "युगवीर" सरसावा, सिद्धान्तमहोदधि, तर्क रत्न, न्यायाचार्य पण्डित माणिकचन्जी कौन्देय फिरोजाबाद (उ. प्र.) महामनस्वी, सूक्ष्म चिन्तक पण्डित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, जयपुर (राज.), सिद्धान्त मर्मज्ञ पण्डित इन्द्रलालजी शास्त्री जयपुर अत्यन्त नैष्ठिक, सहृदय पण्डित अजितकुमारजी शास्त्री दिल्ली, यावज्जीवन समाजसेवी महोपदेशक पण्डित मक्खनलालजी प्रचारक दिल्ली, जैन संघ मथुरा के यशस्वी प्रचारक पण्डित इन्द्रचन्दजी शास्त्री मथुरा और सदा समाजसेवा व्रती पण्डित रामरतनजी शास्त्री , एम. ए. दमोह (म. प्र.) समाज के अनुपम विद्वत्‌रत्न थे। इन मनीषियों ने अपने विचारों, लेखों, भाषणों और ग्रन्थों द्वारा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाज की जड़ता को दूर कर ज्ञानदान के स्तुत्य प्रयास किये हैं। हम इन वियुक्त पूज्य संयमियों और सारस्वतों के प्रति कृतज्ञभाव से नम्र श्रद्धाञ्जलि उनकी स्मृति स्वरूप अर्पित करते हैं।

पिछले अधिवेशन और कार्यों पर एक विहंगम दृष्टि

विद्वत्परिषद् के जन्म से ही मेरा सम्बन्ध रहा है। इसके जन्म की महत्वपूर्ण घटना है। सन् १९४४ में कलकत्ता में वीर शासन महोत्सव का विशाल आयोजन था। इस आयोजन के कार्यक्रमों में अंग्रेजी भाषा के विशेषज्ञों को ही प्राथमिकता दी गई थी। आयोजन में सम्मिलित समाज के विद्वानों का योगदान नहीं लिया गया था। यद्यपि वहाँ बहुसंख्यक मूर्धन्य विद्वान थे। इससे विद्वानों के स्वाभिमान को चोट पहुँची। उधर हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में आयोजित अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन के जैन विद्या विभाग से पठित भाषण में कुछ ऐसी स्थापनायें की गईं थीं, जो दिगम्बर जैन मान्यताओं के प्रतिकूल थीं। इन दो कारणों से वहाँ एकत्रित नये पुराने सभी विद्वानों ने एक स्वर से अनुभव किया कि दिगम्बर जैन सिद्धान्तों के संरक्षण और विद्वानों में परस्पर सौहार्द एवं ऐक्य स्थापन के लिये उनका एक संगठन होना आवश्यक है। फलतः ज्ञानवृद्ध एवं वयोवृद्ध स्वर्गीय पण्डित श्रीलालजी पाटनी अलीगढ़ की अध्यक्षता में "अखिल भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्" की स्थापना की गई। उल्लेखनीय है कि परिषद् का शुभारम्भ कलकत्ता में ही जैन भवन में आहूत उस बैठक से हुआ, जो महोत्सव में पधारे उक्त भाषणकर्ता के साथ उनकी स्थापनाओं पर चर्चा करने के लिये आयोजित की गई थी। उपस्थित विद्वानों में अपूर्व उत्साह एवं उल्लास देखा गया था और सभी ने परिषद् की सार्थकता तथा आवश्यकता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया था।

इसका प्रथम अधिवेशन सन् १९४५ में कटनी में हुआ था, जिसमें जैन संस्कृति के संरक्षण तथा जैनधर्म के सम्यग्ज्ञान हेतु आत्मसमर्पक सुयोग्य विद्वानों का एक "वीर संघ" बनाने का निश्चय हुआ था।

दूसरा अधिवेशन सन् १९४६ में मथुरा में किया गया। इस अधिवेशन में जैन साहित्य और इतिहास से अपरिचित लेखकों के गलत उल्लेखों एवं भूलों भ्रान्तियों का निरास करने के लिये एक विभाग की स्थापना का निर्णय हुआ था।

तीसरा अधिवेशन सन् १९४७ में सोनगढ़ (सौराष्ट्र) में हुआ था। इसमें तत्कालीपन चर्चा के विषय जीवट्ठाण संतपरूवणा के ९३वें सूत्र में "संजद" पद के औचित्य निर्णयार्थ विद्वत्सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया, जो उसी वर्ष सागर में सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ था।

चौथे अधिवेशन की जो सन् १९४८ में बरुआसागर (झांसी) में बुलाया गया था, उपलब्धि केन्द्रीय छात्रवृत्ति फण्ड स्थापित करने के लिये निश्चय की है, जिसमें विदेशों में जाकर शिक्षा लेने वाले और वहाँ जैनधर्म का प्रचार करने वाले प्रतिभाशाली छात्रों को छात्रवृत्ति दी जा सके।

पांचवां अधिवेशन सोलापुर (महाराष्ट्र) में १९४९ में किया गया था। इस अधिवेशन में जैन झण्डे के स्वरूप पर विचार करके उसका रंग केशरिया आकार आयत चतुरस्र और प्रतीक लाल रंग से लिखा हुआ स्वस्तिक निर्धारण किया गया था।

छठे अधिवेशन में जो १९५३ में खुरई (म. प्र.) में हुआ था, पारित प्रस्ताव नं. ६ के द्वारा महर्षि कुन्दकुन्द, गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र जैसे महानाचार्यों की कृतियों को काट छांटकर उन्हें भ्रष्ट रूप में छपाने की मुनि क्षीरसागर की प्रवृत्ति पर क्षोभ प्रकट करते हुए समाज से इसप्रकार के साहित्य का प्रकाशन करने के लिये अनुरोध किया गया था। इस प्रस्ताव का समाज पर सार्थक प्रभाव पड़ा था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रोणगिरि (म. प्र.) में १९५५ में हुए सातवें अधिवेशन में सम्मिलित रथों को चलाने वालों के लिये सिंघई या सेठ पदवी देने पर रोक लगाई गई थी, जिसके फलस्वरूप वहाँ रथ चलाने वालों को कोई पद प्रदान नहीं किया गया था।

आठवां अधिवेशन सन् १९५८ में मढ़िया जी – जबलपुर (म. प्र.) में सम्पन्न हुआ था। इस अधिवेशन में नूतन मन्दिरों की अनावश्यक निर्माण प्रवृत्ति पर चिन्ता व्यक्त करते हुए समाज से पुराने मन्दिरों मूर्तियों की रक्षा तथा जीर्णोद्धार में द्रव्य का उपयोग करने का अनुरोध किया गया था। साथ ही ज्ञान दान, शास्त्र प्रकाशन आदि उपयोगी पुण्य कार्यों में द्रव्य को लगाने की प्रेरणा की गई थी।

नवमें अधिवेशन में जो ललितपुर (उ. प्र.) में १९५९ में हुआ था, त्यागी व्रतियों से धन संग्रह की प्रवृत्ति से दूर रहने का अनुरोध, वेदिका शुद्धि आदि धार्मिक क्रियाओं की एक प्रामाणिक पुस्तक के निर्माण और परिषद् के रजिस्ट्रेशन का निश्चय किया था। परिषद् के सुयोग्य एवं कर्मठ मंत्री पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य द्वारा स्वयं उक्त पुस्तक निर्मित होकर दो बार श्री गणेशप्रसादजी वर्णी जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित हो गई। परिषद् का रजिस्ट्रेशन भी मध्यप्रदेश शासन से गत १९७० में हो चुका है।

दशम अधिवेशन १९६५ में सिवनी में हुआ था। इस अधिवेशन में गुरु गोपालदासजी वरैया स्मृति ग्रन्थ की योजना, मौलिक या सम्पादित कृति पर एक हजार रुपये के पुरस्कार की योजना और संस्कृत तथा अंग्रेजी दोनों भाषाओं के ज्ञाताओं को सदस्य बनाने के प्रस्ताव पारित किये गये थे। प्रसन्नता की बात है कि ये तीनों प्रस्ताव क्रियात्मक रूप पा चुके हैं। वरैया स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन तो इतना सुरूप और आकर्षक हुआ है कि सब ओर से उसका समादर हुआ है और दिल्ली में मनाई गई गुरुजी की जन्म शताब्दी चिरस्मरणीय रहेगी। पुरस्कार योजना के अन्तर्गत चार विद्वान और उनकी सर्वश्रेष्ठ कृतियां पुरस्कृत हो चुकी हैं। पांचवें विद्वान को उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति पर इसी रजत जयन्ती अधिवेशन में पुरस्कृत किया जा रहा है। इस योजना को मूर्तरूप देने का श्रेय श्रावक शिरोमणि दानवीर साहू शान्तिप्रसादजी जैन और उनकी धर्मपरायणा धर्मपत्नी श्रीमती रमारानीजी अध्यक्षा भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली को है। उन्हीं के अकल्प औदार्य से यह योजना सफल हो सकी है।

१९६८ में सागर (म. प्र.) में हुए ग्यारहवें अधिवेशन की कई उपलब्धियां हैं। प्रस्ताव नं. ३ के द्वारा जैन पुरातत्त्व के संरक्षण और प्रकाशन का संकल्प लेते हुए उसे क्रियात्मक रूप देने के लिये दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्रों और सिद्धक्षेत्रों और वहां की प्रामाणिक सामग्री का सचित्र विवरण प्रकाशित करने का निश्चय किया गया था। प्रसन्नता की बात है कि यह कार्य भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा द्रुतगति से हो रहा है। इसी अधिवेशन में प्रस्ताव नं. ५ के द्वारा भगवान महावीर के २५००वें निर्वाणोत्सव के अवसर पर २५ पृष्ठों की सांस्कृतिक सामग्री के प्रकाशन का भी निश्चय किया गया था। इसके लिये बनाई गई उपसमिति के प्रधान लेखक डॉ. नेमीचन्दजी शास्त्री ने "तीर्थंकर महावीर" नाम से उक्त सामग्री को तैयार कर पुस्तक का रूप भी दे दिया है, जो शीघ्र ही प्रेस को दे दी जावेगी।

विद्वत्परिषद के विगत अधिवेशनों के महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय कतिपय कार्यों का यह संक्षिप्त विहंगावलोकन है। इनके अलावा शंका समाधान, तत्त्वगोष्ठियां, शिक्षण शिविर, शिक्षा सम्मेलन, श्रुत सप्ताह जैसे अन्य कार्य भी विद्वत्परिषद द्वारा सम्पन्न हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि विद्वत्परिषद के जन्म से लेकर अब तक गत २७ वर्षों में हुए सांस्कृतिक कार्यों की एक गौरवपूर्ण लम्बी श्रृंखला है, जिनपर हमें गर्व है और जिनका उल्लेख इस रजत जयन्ती के उत्सव पर आवश्यक होने से किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्वान और समाज

विद्वान समाज का एक विशिष्ट अंग है। शरीर में जो स्थान शिर (उत्तमांग) का है वही समाज में विद्वानं (ज्ञानवान) का है। यदि शरीर में शिर न हो या रुग्ण हो तो शरीर शरीर न रहकर धड़ हो जायेगा या उससे सार्थक जीवन क्रिया नहीं हो सकेगी। सारे शरीर की शोभा भी शिर से ही है। अतः शिर और उसके उपांगों आंख, नाक, कान आदि की रक्षा एवं चिन्ता सदा की जाती है। विद्वान समाज के धर्म, दर्शन, इतिहास और श्रुत का निर्माण एवं संरक्षण करके उसे तथा उसकी संस्कृति को सप्राण रखता है। यदि विद्वान न हो या वह चिन्ताग्रस्त हो तो स्वस्थ समाज और उसकी उच्च्व संस्कृति की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। पर दुर्भाग्य से इस तथ्य को समझा नहीं जाता। यही कारण है कि समाज में विद्वान की स्थिति चिन्तनीय और दयनीय हैं। किसी विद्यालय या पाठशाला के लिये विद्वान की आवश्यकता होने पर उससे व्यवसाय की मनोवृत्ति से बात की जाती है। संस्था संचालक उसे कम से कम देकर अधिक से अधिक काम लेना चाहता है। कुछ महीने पूर्व एक संस्था संचालक महानुभाव ने हमें विद्वान के लिये उसकी वांछनीय योग्यताओं का उल्लेख करते हुए लिखा। हमने उन्हें उत्तर दिया कि यदि उक्त योग्यता सम्पन्न विद्वान के लिये कम से कम तीन सौ रुपये मासिक दिया जा सके तो विद्वान भेज देंगे। परन्तु उन्होंने तीन सौ रुपये मासिक देना स्वीकार नहीं किया। फलतः वही विद्वान छह सौ रुपये मासिक पर अन्यत्र चला गया। कहा जाता है कि विद्वान नहीं मिलते । विचारणीय है कि जो किसी धार्मिक शिक्षण संस्था में दश वर्ष धर्म दर्शन का शिक्षण लेकर विद्वान बनें और बाद में उसे श्रुत सेवा के उपलक्ष्य में सौ डेढ़ सौ रुपये मासिक सेवा पारिश्रमिक दिया जाये तो वह आज के समय में उससे कैसे निर्वाह करेगा ? काश ! वह सद्गृहस्थ हो और दो चार बाल बच्चे हों तो वह श्रुत सेवा कर सकेगा या आर्थिक चिन्ता में ही घुलता रहेगा। अतः आज हमें इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर गंभीरता से विचारकर श्रुत सेवकों की परम्परा को हर प्रयत्न से जीवित रखना है। यदि हमने इसकी उपेक्षा की तो अगले दश वर्ष में ये टिमटिमाते दीपक भी बुझ जावेंगे और इस दिशा में कोई भी आना पसंद नहीं करेगा, जबकि उन्हें लौकिक विद्या के क्षेत्र में विविध मार्गों में प्रवेश कर भरपूर आर्थिक लाभ होगा। इससे संस्कृति की जो क्षति होगी उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

विद्वान का दायित्व –

विद्वान को यह सदा ध्यान रखना आवश्यक है कि वह समाज से अलग नहीं है – वह उसका ही अभिन्न अंग है। बिना शिर के जैसे शरीर संज्ञा हीन धड़ कहा जाता है उसीप्रकार बिना धड़ के शिर भी चेतनाशून्य होकर अपना अस्तित्व खो देता है। अतः दोनों का अभिन्नत्व भी जीवनक्रिया का सम्पादक है। ठीक इसीप्रकार बिना विद्वान के समाज और बिना समाज के विद्वान भी अपना अस्तित्व नहीं रख सकते हैं। फिर जिस समाज में उसने जन्म लिया है उसके प्रति उसका कृतज्ञ भाव से बहुत बड़ा कर्तव्य है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, और न उसे भुलाया ही जा सकता है। संस्कृति, धर्म, दर्शन और साहित्य के संरक्षण का जिस तरह समाज का परमावश्यक कर्तव्य है उसी तरह विद्वान का भी उनके संरक्षण का परम दायित्व है। इस सत्य को हमें नहीं भूलना है। हम पर उस श्रेष्ठ परम्परा को आगे बढ़ाने का दायित्व है, जिस परम्परा को आचार्यों के बाद आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजी, पण्डित जयचन्दजी, गुरु गोपालदासजी, वर्णी गणेशप्रसादजी जैसे विद्वद्रत्नों ने जीवनव्यापी कष्टों को सहते हुए त्यागवृत्ति के साथ हम तक पहुंचाया है। बिना त्याग के श्रुत सेवा की ही नहीं जा सकती।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमारा विश्वास है कि श्रुतसेवा का लक्ष्य और उसकी ओर प्रवृत्ति रहने पर विद्वान धनी न बन सके, तो भूखा भी नहीं रह सकता। जो श्रुत केवलज्ञान दाता और परमात्मपद दाता है उसके उपासक आर्थिक कष्ट से सदा ग्रस्त नहीं रह सकते। सारस्वत का ध्येय स्वामी समन्तभद्र के शब्दों में "लोक में व्याप्त जड़ता और मूढ़ता को दूर कर जिनशासन का प्रकाश करना" है। भौतिक उपलब्धियां तो उसे अनायास प्राप्त होंगी। सरस्वती का उपासक यों अपरिग्रह में ही सरस्वती की अधिक सेवा करता और आनन्द उपलब्ध करता है।

समस्याएँ –

यों तो जीवन ही समस्याओं से घिरा हुआ है। कोई न कोई समस्या जीवन में खड़ी हुई मिलती है। किन्तु धीर और बुद्धिमान उन समस्याओं पर काबू पा लेता है। आज देश के सामने कितनी समस्यायें हैं पर राष्ट्रनेता उन्हें देर सबेर हल कर लेते हैं। हमारी समाज में भी अनेक समस्यायें हैं। उनमें तीर्थक्षेत्रों की समस्या प्रमुख है। यदि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों समाजें जो भगवान महावीर और उनके पूर्ववर्ती ऋषभादि तेईस तीर्थंकरों की उपासिका हैं, आगामी भगवान महावीर के २५००वें निर्वाणोत्सव के उपलक्ष्य में समानता के आधार पर तीर्थक्षेत्रों की समस्या को सुलझा लें तो दोनों में घृणा और भय का भाव दूर होकर पारस्परिक सौहार्द सम्भव है और उस दशा में तीर्थों का विकास तथा समृद्धि की सम्भावना है, जहां विश्व के लोग भारत भ्रमण पर आने पर जा सकते हैं और विश्व को उनका परिचय दे सकते हैं।

यहां हमें मुख्यतया विद्वानों की समस्याओं का उल्लेख अभीष्ट है। उनकी समस्यायें साम्पत्तिक या आधिकारिक नहीं है। वे केवल वैचारिक हैं। तीन दशक पूर्व दस्सा पूजाधिकार, अन्तर्जातीय–विजातीय विवाह जैसी समस्यायें थीं, जो समय के साथ हल होती गयी हैं। दस्साओं को समान रूप से मन्दिरों में पूजा का अधिकार मिल गया है। अन्तर्जातीय और विजातीय विवाह भी जो शास्त्र सम्मत हैं और अनार्यप्रवृत्ति नहीं है, होने लगे हैं और जिन पर अब कोई रोक नहीं रही। स्वामी सत्यभक्त (पण्डित दरबारीलालजी) वर्धा द्वारा की गई जैनधर्म के सर्वज्ञतादि सिद्धान्तों की मीमांसा भी दिगम्बर जैन संघ द्वारा प्रकाशित 'विरोध परिहार'जैसे ग्रन्थों के द्वारा उत्तरित हो चुकी है। डॉ. हीरालालजी द्वारा उठाये गये प्रश्न भी 'अनेकान्त' (मासिक) आदि द्वारा समाहित किये गये हैं।

हमें स्वर्गीय पण्डित देवकीनन्दजी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा सुनाये गये उस युग की याद आती है जब गुरु गोपालदासजी को समाज के भीतर और बाहर जानलेवा जबर्दस्त टक्कर लेना पड़ती थी, जिसे वे बड़ी निर्भयता और ज्ञानवैभव से लेते थे। उस समय संकीर्णता और अज्ञान ने समाज को तथा घृणा और असहनशीलता ने आर्य समाज को बलात जकड़ रखा था। गुरुजी ने दोनों मोर्चों पर शानदार विजय प्राप्त की थी। शास्त्रार्थ संघ अम्बाला का, जो अब दिगम्बर जैन संघ मथुरा के नाम से प्रसिद्ध है, उदय संकीर्णता, अज्ञान, घृणा, असहनशीलता जैसी कुण्ठाओं के साथ संघर्ष करने के लिये ही हुआ था और इस दिशा में उसने महत्वपूर्ण कार्य किया है। वेद विद्या विशारद पण्डित मंगलसेनजी अम्बाला, विचक्षण मेधावी पण्डित राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ जैसे समर्थ विद्वान सेनानियों ने आर्य समाज के साथ शास्त्रार्थ करके जैनधर्म के सिद्धान्तों की रक्षा ही नहीं की, स्वामी कर्मानन्दजी जैसे आर्यसमाजी महाशास्त्रार्थी विद्वान की अवस्था को जैनधर्म में परिणत भी किया था।

आज भी कुछ सैद्धान्तिक मतभेद की समस्यायें हैं, जिनका होना अस्वाभाविक नहीं है। आचार्यों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तक में सैद्धान्तिक मतभेद रहा है। आचार्य वीरसेन ने ऐसे अनेक आचार्य मतभेदों का धवला में समुल्लेख किया है किन्तु दुर्भाग्य से आज कुछ खिचाव पाया जाता है। वह नहीं होना चाहिये। वाणी और लेखनी दोनों में संयम वांछनीय है। वीतराग कथा में असंयम का स्थान तो है ही नहीं। जब हम अपनी शास्त्र सम्मत बात को दूसरे के गले में उतारने का प्रयास करें तो आग्रह और आग्रह से चिपटे रोष, अहंकार एवं असद्भाव से मुक्त होकर ही उसकी चर्चा करें। दोनों पक्ष स्याद्वादी हैं उन्हें निरपेक्ष आग्रह तो होना ही नहीं चाहिये। यह गौरव और प्रसन्नता की बात है कि ये दोनों पक्ष विद्वत्परिषद में समाहित हैं। और दोनों ही उसका समादर करते हैं हमारा उनसे नम्र निवेदन है कि वे विद्वत्परिषद का जिसप्रकार गौरव रखकर आदर करते हैं उसीप्रकार वे समग्र श्रुत की उपादेयता का भी गौरव के साथ सम्मान करें। श्रुत चार अनुयोगों – प्रथमानुयोग, द्रव्यानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोग – में विभक्त हैं। समन्तभद्रस्वामी ने इनका समान रूप में विवेचन किया है और चारों की आस्था – भक्ति को सम्यग्ज्ञान का तथा सम्यग्ज्ञान को मुक्ति का कारण बतलाया है। ऐसी स्थिति में अनुयोग विशेष पर बल देकर दूसरे अनुयोगों की उपेक्षा या अनादेयता नहीं ही होनी चाहिये। यह बात अलग है कि अमुक अनुयोग की अपेक्षा से विवेचन करने पर उसकी प्रधानता हो जाय और अन्य की अप्रधानता। पर उनकी उपेक्षा न की जाय – विवेचन में उन्हें भी स्थान मिलना चाहिये। इसीलिये ज्ञेयतत्त्व को समझने के लिये प्रमाण के अतिरिक्त द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिक नयों और निक्षेपों का तथा उपादेय को ग्रहण करने के लिये व्यवहार और निश्चश्य नयों का आगम में प्रतिपादन है। प्रथम को दर्शन शास्त्र का और दूसरे को अध्यात्मशास्त्र का प्रतिपादन कहा गया है। महर्षि कुन्दकुन्द ने इन दोनों शास्त्रों का निरूपण किया है। उनके पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड़ और प्रवचनसार मुख्यतः दर्शन शास्त्र के ग्रन्थ हैं तथा नियमसार एवं समयसार अध्यात्म शास्त्र के। द्वादशांग श्रुत इन दोनों का समुच्चय है। दर्शनशास्त्र जहां साधन है वहां अध्यात्म शास्त्र साध्य है और साध्य की उपलब्धि बिना साधन के संभव नहीं है। हाँ, साध्य के उपलब्ध हो जाने पर साधन का परित्याग या गौणता हो जाय, यह अलग बात है। अग्निज्ञान हो जाने पर धूमज्ञान अनावश्यक हो ही जाता है। पर अग्निज्ञान के लिये धूमज्ञान की अनिवार्यता अपरिहार्य है।

जैनधर्म वीतराग विज्ञान धर्म है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। किन्तु वह अपने इस नाम से लक्ष्य निर्देश भर की अभिव्यक्ति करता है। उसमें लक्ष्य प्राप्ति के उपकरणों का समावेश नहीं है, ऐसा न कहा जा सकता है और न माना जा सकता है। किसी ग्रन्थ का नाम 'मोक्षशास्त्र' है। वह केवल मोक्ष का ही प्रतिपादक नहीं होता। उसमें उसके विरोधी–अविरोधी सभी आवश्यक ज्ञेय और उपादेय तत्त्वों का विवेचन होता है। स्वयं 'समयसार' में शुद्ध आत्मा का प्रतिपादन करने के लिये ग्रन्थकार कुन्दकुन्द महाराज ने बंध, आस्रव, संवर, निर्जरा आदि का भी निरूपण किया है। इन्हीं बन्धादि का विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन 'षट्खण्डागम' में आचार्य भूतबली–पुष्पदन्त और 'कषायप्राभृत' में आचार्य गुणधर ने किया है तथा उन्हीं के आधार से गोम्मटसारादि ग्रन्थ रचे गये हैं।

धर्म का आधार मुमुक्षु और सद्गृहस्थ दोनों हैं तथा सद्गृहस्थों के लिये संस्कृति और तत्त्वज्ञान आवश्यक है और इन दोनों की स्थिति के लिये वांगमय, तीर्थ, मन्दिर, मूर्तियां, कला, पुरातत्त्व और इतिहास अनिवार्य है। इनके बिना समाज की कल्पना और समाज के बिना धर्म की स्थिति सम्भव ही नहीं। मुमुक्षु धर्म भी गृहस्थधर्म पर उसीप्रकार आधारित है जिसप्रकार खम्भों पर प्रासाद निर्भर है। मुमुक्षु को मुमुक्षु तक पहुंचाने के लिये आरम्भ में दर्शनशास्त्र का विमर्श आवश्यक है। उसके बिना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसकी नींव मजबूत नहीं हो सकती। यह भी हमें नहीं भूलना है कि लक्ष्य को समझने और पाने के लिये उसकी ओर ध्यान और प्रवृत्ति रखना नितान्त आवश्यक है। दर्शन शास्त्र को सहस्रों बार ही नहीं कोटि–कोटि बार भी पढ़ा–सुना है फिर भी लक्ष्य नहीं पा पाये। तात्पर्य यह है कि दर्शन शास्त्र और अध्यात्म शास्त्र दोनों का चिन्तन जीवन शुद्धि के लिये परमावश्यक है। इनमें से एक की भी उपेक्षा करने पर हमारी वही क्षति होगी, जिसे आचार्य अमृतचन्द्र ने निम्न गाथा में उद्धरणपूर्वक बतलाया है –

जइ जिणमयं पवज्जह तो मा ववहार-णिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।।

– *आत्मख्याति, स. सा., गाथा १२*

'यदि जिनशासन की स्थिति चाहते हो, तो व्यवहार और निश्चय दोनों को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहार के छोड़ देने पर धर्मतीर्थ का और निश्चय को छोड़ने से तत्त्व (अध्यात्म) का विनाश हो जायेगा।'

यह सार्थ चेतावनी ध्यातव्य है। स्वामी अमृतचन्द्र ने उभयनय के अविरोध में ही समयसार की उपलब्धि का निर्देश किया है –

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव।। ४।।

'उभयनय के विरोध को दूर करने वाले 'स्यात्' पद से अंकित जिनशासन में जो ज्ञानी स्वयं निष्ठ हैं वे अनव –नवीन नहीं, एकान्त पक्ष से अखण्डित और अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप समयसार को शीघ्र देख (पा) ही लेते हैं।'

अमृतचन्द्र से तीनसौ वर्ष पूर्व भट्ट अकलंकदेव ने ऋषभ को आदि लेकर महावीर पर्यन्त चौबीसों तीर्थंकरों को धर्मतीर्थकर्ता और स्याद्वादी कहकर उन्हें विनम्रभाव से नमस्कार किया था तथा उससे स्वात्मोपलब्धि की अभिलाषा की है। जैसाकि भाषण के आरम्भ में किये गये मंगलाचरण से जो उन्हीं के लघीयस्त्रयका मंगलश्लोक है, स्पष्ट है। इससे हम सहज ही जान सकते हैं कि स्याद्वाद तीर्थंकर वाणी है–उन्हीं की वह देन है। वह किसी आचार्य या विद्वान का आविष्कार नहीं है। वह एक तथ्य और सत्य है, जिसे इंकारा नहीं जा सकता। निश्चयनय से आत्मा का प्रतिपादन करते समय उस परद्रव्य का भी विश्लेषण करना आवश्यक है, जिससे उसे मुक्त करना है। यदि बद्ध परद्रव्य का विवेचन, जो षट्खण्डागमादि आगम ग्रन्थों में उपलब्ध है, न किया जाय और केवल आत्मा का ही कथन किया जाय, तो जैनदर्शन के आत्म प्रतिपादन में और उपनिषदों के आत्म प्रतिपादन में कोई अन्तर नहीं रहेगा।

एक बार न्यायालंकार पण्डित वंशीधरजी ने कहा था कि एक वेदान्ती विद्वान ने गुरुजी से प्रश्न किया था कि आपके अध्यात्म में और वेदान्त के अध्यात्म में कोई अन्तर नहीं है ? गुरुजी ने उत्तर दिया था कि जैनदर्शन में आत्मा को सदा शुद्ध नहीं माना, संसारावस्था में अशुद्ध और मुक्तावस्था में शुद्ध दोनों माना गया है। पर वेदान्त में उसे सदा शुद्ध स्वीकार किया है। जिस माया की उस पर छाया है वह मिथ्या है। लेकिन जैनदर्शन में आत्मा जिस पुद्गल से बद्ध, एतावता अशुद्ध है वह एक वास्तविक द्रव्य है। इससे संयुक्त होने से आत्मा में विजातीय परिणमन होता है। यह विजातीय परिणमन ही उसकी अशुद्धि है। इस अशुद्धि का जैन दर्शन में विस्तार से विवेचन है। उससे मुक्त होने के लिये ही, संवर, निर्जरा आदि तत्त्वों का विवेचन है। तात्पर्य यह है कि जिन शासन जब स्वयं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्याद्वादमय है, तो उसमें प्रतिपादित आत्मस्वरूप स्याद्वादात्मक होना ही चाहिये। इस तरह दोनों नयों से तत्त्व को समझने और प्रतिपादन करने से ही तत्त्वोपलब्धि एवं स्वात्मोपलब्धि प्राप्य है।

साहित्यिक प्रवृत्तियां और उपलब्धियां

आज से पचास वर्ष पूर्व जैन साहित्य सबको सुलभ नहीं था। इसका कारण जो भी रहा हो। यहां साम्प्रदायिकता के उन्माद ने कम उत्पात नहीं किया। उसने बहुमूल्य सहस्रों ग्रन्थों की होली खेली है। उन्हें जलाकर पानी गर्म किया है और समुद्रों एवं तालाबों में उन्हें डुबा दिया गया है। सम्भव है उक्त भय से हमारे पूर्वजों ने बचे-खुचे वांगमय को निधि की तरह छिपाया हो या दूसरों के हाथ पड़ने पर अविनय का उन्हें भय रहा हो। प्रकाशन के साधन उपलब्ध होने पर संभवतः उसी भय के कारण उन्होंने छापने का भी विरोध किया जान पड़ता है, परन्तु युग के साथ चलना भी आवश्यक होता है। अतएव कितने ही दूरदर्शी समाज सेवकों ने उस विरोध का सामना करके ग्रन्थ प्रकाशन का कार्य किया। फलतः आज जैन वांगमय के हजारों ग्रन्थ प्रकाश में आ गये हैं। षट्खण्डागम, कषायप्राभृत, धवला-जयधवलादि टीकायें जैसे सिद्धान्त ग्रन्थ भी छप गये हैं और जनसामान्य भी उनसे लाभ ले रहा है। इस दिशा में श्रीमन्त सेठ शितावराय लक्ष्मीचन्द जैन साहित्योद्धारक फण्ड द्वारा डॉ. हीरालालजी उनके सहयोगी पण्डित फूलचन्दजी शास्त्री, पण्डित हीरालालजी शास्त्री और पण्डित बालचन्दजी शास्त्री के सम्पादन अनुवादादि के साथ षट्खण्डागम के १६ भागों का प्रकाशन उल्लेखनीय है। सेठ माणिकचन्दजैन ग्रन्थमाला से स्वर्गीय पण्डित नाथूरामजी प्रेमी ने कितने ही वांगमय का प्रकाशन कर उद्धार किया है। जीवराज ग्रन्थमाला से डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने तिलोयपण्णत्ति आदि अनेक ग्रन्थों को प्रकाशित कराया है। स्वर्गीय पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार के वीर सेवा मन्दिर दिल्ली और वीर सेवा मन्दिरं ट्रस्ट वाराणसी से कई महत्व के ग्रन्थ प्रकट हुए हैं। श्री गणेशप्रसादजी वर्णी ग्रन्थमाला का योगदान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। जिस प्रकाशन संस्था से सर्वाधिक जैन वांगमय का प्रकाशन हुआ , वह है भारतीय ज्ञानपीठ की मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला। इस ग्रन्थमाला से सिद्धिविनिश्चय जैसे अनेक दुर्लभ ग्रन्थ सामने आये हैं और आ रहे हैं। इसका श्रेय जहां स्वर्गीय पण्डित महेन्द्रकुमारजी, पण्डित कैलाशचन्दजी, पण्डित फूलचन्दजी, पण्डित हीरालालजी आदि उच्च विद्वानों को प्राप्त है वहां ज्ञानपीठ के संस्थापक साहू शान्तिप्रसादजी और अध्यक्ष श्रीमती रमारानीजी को भी है। उल्लेख्य है कि श्री जिनेन्द्रवर्णी द्वारा संकलित-सम्पादित जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष (२ भाग) का प्रकाशन भी स्वागत योग्य है। इसप्रकार पिछले पचास वर्षों में साहित्यिक प्रवृत्तियां उत्तरोत्तर बढ़ती गई हैं, जिसके फलस्वरूप बहुत सा जैन वांगमय सुलभ एवं उपलब्ध हो सका है।

इधर डॉ. नेमीचन्दजी शास्त्री विद्यादान और साहित्य सृजन में जो असाधारण योगदान कर रहे हैं वह मुक्तकण्ठ से स्तुत्य है। लगभग डेढ़ दर्जन शोधार्थी विद्वान आपके निर्देशन में जैन विद्या के विभिन्न अंगों पर पी. एच. डी. कर चुके हैं और लगातार क्रम जारी है। लोकविजय यंत्र, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान जैसे अनेक ग्रन्थ रत्न आपकी रत्नगर्भा सरस्वती ने प्रसूत किये हैं। पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य की भारती ने तो भारत के प्रथम नागरिक सर्वोच्च पदासीन राष्ट्रपति श्री बराह बेंकट गिरि तक को १भावित कर उन्हें राष्ट्रपति सम्मान दिलाया और भारतीय वांगमय को समृद्ध बनाया है। आदिपुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, उत्तरपुराण, गद्यचिन्तामणि, जीवन्धरचम्पू, पुरुदेवचम्पू, तत्त्वार्थसार, समयसार,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रत्नकरण्डश्रावकाचार आदि अर्धशती ग्रन्थ राशि आपके द्वारा अनुदित एवं सम्पादित हुई हे। डा/ देवेन्द्रकुमारजी रायपुर का 'अपभ्रंश' भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियां, डॉ. हीरालाल जैन का 'णायकुमारचरिउ', डॉ. ए. एन. उपाध्ये का गीतवीतराग, पण्डित कैलाशचन्दजी शास्त्री का 'नयचक्र', पण्डित अमृतलालजी शास्त्री का 'चन्द्रप्रभचरित', डॉ. कस्तुरचन्दजी कासलीवाल का 'राजस्थान के जैन संत : कृतित्व और व्यक्तित्व', श्री श्रीचन्दजी जैन उज्जैन का 'जैन कथानकों का सांस्कृतिक अध्ययन' आदि नव्य भव्य रचनाओं ने जैन वांगमय के भण्डार की अभिवृद्धि की है। डॉ. हरीन्द्रभूषणजी उज्जैन के निर्देशन में दो विद्वानों ने जैन विद्या पर पी. एच. डी. की है। हमें आशा है जैन विद्या और जैन वांगमय के आदर का क्षेत्र उत्तरोत्तर बढ़ता जायेगा।

जैन शिक्षण संस्थायें

आज से पचास वर्ष पूर्व एकाध ही शिक्षण संस्था थी। गुरु गोपालदासजी वरैया औश्र पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी के धारावाही प्रयत्नों से सौ से भी अधिक शिक्षण संस्थाओं की स्थापना हुई। मोरेना विद्यालय और काशी का स्याद्वाद महाविद्यालय उन्हीं में से है। मोरेना से जहां आरम्भ में सिद्धान्त के उच्च विद्वान तैयार हुए वहां काशी से न्याय, साहित्य, धर्म और व्याकरण के ज्ञाता तो हुए ही, अंग्रेजी के भी विद्वान निकले हैं। यह गर्व की बात है कि आज समाज में जो बहुसंख्यक उच्च विद्वान हैं वे इसी विद्यालय की देन है। वस्तुतः इसका श्रेय पण्डित कैलाशचन्जी शास्त्री को है। जो विद्यालय के पर्यायवाची माने जाते हैं। सागर के गणेश विद्यालय की भी समाज को कम देन नहीं हैं। इसने सैंकड़ों बुझते दीपकों में तेल और बत्ती देकर उन्हें प्रज्वलित किया है।

पर आज ये शिक्षण संस्थायें प्राणहीन सी हो रही हैं। इसका कारण मुख्यतः आर्थिक है। यहां से निकले विद्वानों की खपत समाज में अब नहीं के बराबर है और है भी तो उन्हें श्रुतसेवा का पुरस्कार अल्प दिया जाता है। अतः छात्र अब समाज के बाजार में उनकी खपत कम होने से दूसरे बाजारों को टटोलने लगे हैं और उनमें उनका माल ऊँचे दामों पर उठने लगा है। इससे विद्वानों का ह्रास होने लगा है। फलतः समाज और संस्कृति को जो क्षति पहुंचेगी उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। अतः समाज के नेताओं को इस दिशा में गम्भीरता से विचार करना चाहिये। यदि तत्परता से तुरन्त विचार न हुआ तो निश्चय ही हमारी हजारों वर्षों की संस्कृति और तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिये संकट की स्थिति आ सकती है।

विद्वत्परिषद का भावी कार्यक्रम

विद्वत्परिषद् के साधन सीमित हैं और उसके चालक अपने–अपने स्थानों पर रहकर दूसरी सेवाओं में संलग्न हैं। उन आवश्यक सेवाओं से बचे समय और शक्ति का ही उत्सर्ग वे समाज, साहित्य और संगठन में करते हैं। अतः हमें अपनी परिधि के भीतर आगामी कार्यक्रम तय करना चाहिये।

हमारा विचार है कि परिषद को निम्न तीन कार्य हाथ में लेकर उन्हें सफल बनाना चाहिये।

१. जैन विद्या फण्ड की स्थापना।

२. भगवान महावीर की २५००वीं निर्वाण शती पर सेमिनार।

३. ग्रन्थ प्रकाशन।

१. पूज्य वर्णीजी के सभापत्य में १६४८ में परिषद ने एक केन्द्रीय छात्रवृत्ति फण्ड स्थापित करने का प्रस्ताव किया था, जहां तक हमें ज्ञात है, इस प्रस्ताव को क्रियात्मक रूप नहीं मिल सका है। आज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
इसप्रकार के फण्ड की आवश्यकता है। प्रस्तावित फण्ड को 'जैन विद्या फण्ड' जैसा नाम देकर उसे चालू किया जाये। यह फण्ड कम से कम एक लाख रुपए का होना चाहिये। इस फण्ड से –

(क) आर्थिक स्थिति से कमजोर विद्वानों के बच्चों को सम्भव वृत्ति दी जाये।

(ख) उन योग्य शोधार्थियों को भी वृत्ति दी जाये जो जैन विद्या के किसी अंग पर किसी विश्व विद्यालय में शोध कार्य करें।

(ग) शोधार्थी के शोध प्रबन्ध के टंकन या शुक्ल या दोनों के लिये सम्भव मात्रा में आर्थिक साहारूय किया जाये।

२. भगवान महावीर की २५००वीं निर्वाण शती सारे भारतवर्ष में व्यापक पैमाने पर मनाई जायेगी। इसमें विद्वत्परिषद् के सदस्य व्यक्तिशः योगदान करेंगे ही, परिषद् भी एक साथ अनेक स्थानों पर अथवा भिन्न–भिन्न समयों में अनेक विश्वविद्यालयों में सेमिनारों (संगोष्ठियों) का आयोजन करे। इन सेमिनारों में जैन एवं जैनेतर विद्वानों द्वारा जैन विद्या की एक निर्णीत विषयावलि पर शोधपूर्ण निबन्ध पाठ कराये जायें। इन सेमिनारों का आज अपना महत्व है और उनमें विद्वान रुचिपूर्वक भाग लेंगे।

३. आगामी तीन वर्षों की अवधि के लिये एक ग्रन्थ प्रकाशन की योजना बनायी जाय। इस योजना के अन्तर्गत 'तीर्थंकर महावीर' ग्रन्थ का तो प्रकाशन हो ही, उसके अतिरिक्त तीन अप्रकाशित संस्कृत–प्राकृत–अपभ्रंश के ग्रन्थों या भगवान महावीर सम्बन्धी नयी मौलिक रचनाओं का प्रकाशन किया जाये।

यदि अगले तीन वर्षों में परिषद ये तीन कार्य कर लेती है तो वह संस्कृति की एक बहुत बड़ी सेवा कही जायेगी।

शिवपुरी और उसकी गरिमा

विद्वत्परिषद् का रजत जयन्ती अधिवेशन जिस शिवपुरी में श्री महावीर जिन बिम्ब पंचकल्याण १तिष्ठा महोत्वस के पुण्यावसर पर हो रहा है उसकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक गरिमा है। भारतीय स्वतंत्रता के अमर सेनानी वीर तात्या टोपे को यहीं फांसी हुई थी। उनके अमर बलिदान का यह पुण्य स्थल है। खण्डेलवालवंशीय दानवीर सिंघई मोहनदास और उनके परिवार ने १७०३ में बावन कुण्डों से युक्त नन्दीश्वरद्वीप की रचना करके इसकी सांस्कृतिक गरिमा भी स्थ्झापित की और अब भाई नेमीचन्दजी गोंदवालों तथा उनके परिवार द्वारा महावीर जिनालय एवं सम्बद्ध अन्य संस्थान निर्मित होकर उस गरिमा में चार चांद लगा रहे हैं। उल्लेखनीय है कि म.प्र. की सरकार द्वारा जो प्राचीन मूर्ति संग्रहालय स्थापित है उसमें बहुत सी जैन मूर्तियां संग्रहीत एवं सुरक्षित हैं। इसके लिये म.प्र. शासन निश्चय ही बहुमूल्य पुरातत्व संरक्षण के लिये धन्यवादार्ह है। यहां के पूर्व कलेक्टर श्री रामबिहारीलालजी भी कम बधाई के योग्य नहीं हैं, जिन्होंने अपने निसर्गज पुरारतत्व प्रेम से एस संग्रहालय को जन्म दिया। यहां का मनीकुण्ड, भदैया कुण्ड और कोलारस की प्राचीन विशाल खड्गासन मूर्तियां शिवपुरी आने वालों के लिये आकष्रण की वस्तुयें हैं। विद्वत्परिषद् के आकर्षण के लिये ये वस्तुयें तो रहीं हैं, भाई नेमीचन्दजी और सुहृदय पण्डित परमेष्ठीदासजी प्रेरणा और सौहार्द भी आकर्षक रहे हैं। विद्वत्परिषद् इन सबसे लाभान्वित हुई है।

अन्त में आप सबके प्रति नम्रतापूर्वक आभार प्रकट करता हूं, जो आपने धैर्यपूर्वक मेरे भाषण को सुना।

'जयतु जैनं शासनम्'

❑❑❑

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पण्डित नाथूलालजी शास्त्री, प्रतिष्ठाचार्य, इन्दौर
(बीना-१९७८, त्रयोदश अधिवेशन के अध्यक्ष) का
भाषण सार

समाज की वर्तमान समस्याओं में तेरापंथ बीसपंथ के समान सोनगढ़ संबंधी पक्ष-विपक्ष भी है। समाज की कई पत्र-पत्रिकाओं और शास्त्र प्रवचनों ने इस विवाद को बढ़ाने में अग्नि में घृताहुति का सा काम किया है। हमारे यहां यह विवाद प्रायः घर-घर में पहुंच चुका है। यदि सहिष्णुता न रखी जावे तो पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई में भयंकर संघर्ष हो सकता है। जिस प्रकार घर में शांति के लिये अपने विचारों व व्यवहार में समन्वय, सहिष्णुता या अनेकान्त का हम उपयोग करते हैं; जैसाकि बीसपंथ-तेरापंथ का निर्वाह एक साथ पति-पत्नी व पिता-पुत्र अपने गृह चैत्यालय में करते हैं। वैसा समाज में प्रयोग क्यों न किया जावे ? समाज को जीवित और निरापद रखने तथा विघटन से बचाकर संगठित रखने का दूसरा मार्ग कौनसा मिलेगा ? समाज में सोनगढ़ का अध्यात्म ज्ञान प्रसार व दिगम्बर मुनिराजों की व्रताचार परंपरा दोनों ही मौजूद हैं। जब ज्ञान और आचार दोनों ही धर्म के अंग हैं तो इनमें परस्पर संघर्ष कैसा ? इनके नाम पर उत्पन्न हुये आग्रह, पक्षपात व एक दूसरे की निन्दा-आक्षेप से बचते हुये उदार बनकर स्वयं अपनी त्रुटियों व बिखराव के कारणों को दूर करने में ही हम सबका हित है।

श्रीमत्परमगंभीर स्याद्वादामोघलाञ्छनम्।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्।।

मंगलमय अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधु—पंचपरमेष्ठी, जिनधर्म, जिनागम, जिनायतन और जिन चैत्य को नमस्कार कर मैं वर्तमान जैनशिक्षा एवं जैन विद्यालयों के प्रवर्तक स्व. गुरुणांगुरु पं गोपालदासजी बरैया एवं पूज्यपाद श्री गणेशप्रसादजी वर्णी का स्मरण करता हूं और स्याद्वादविद्या के अग्रगण्य दिवंगत विद्वान न्यायाचार्य पं. मणिकचन्दजी, सिद्धांतमहोदधि पं. बंशीधरजी, व्याख्यानवाचस्पति पं. देवकीनंदनजी, न्यायशास्त्र के उद्भट विद्वान पं. जीवंधरजी आदि के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन कर दि. २–११–१९४४ को कलकत्ता में स्थापित भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद् के उद्देश्य (जैन शासन का संरक्षण, प्रचार और विद्वानों की सामयिक उन्नति) की सफलता हेतु अपने को समर्पित करने वाले वर्तमान वरिष्ठ विद्वद्गण की सेवाओं का हार्दिक अभिनन्दन करता हूं। आशा है जैन संस्कृति के गौरव पूर्ण अतिशय क्षेत्र बीना (बारहा) में हो रही श्री पंच कल्याणक जिनबिम्ब प्रतिष्ठा और गजरथमहोत्सव के अवसर पर विद्वत्परिषद् के १३ वें अधिवेशन का यह भव्य आयोजन आप सर्व उपस्थित धर्मवत्सल महानुभावों की सहानुभूति एवं सहयोग से सफलता पूर्वक संपन्न होगा और लगभग ६०० विद्वानों का यह विशाल संगठन सबल और सुदृढ़ बना रहेगा।

भारतीय संस्कृति और उसका महत्व

हमें गौरवान्वित होना चाहिए कि अन्य संस्कृतियाँ उषा की तरह आई और संध्या की तरह चली गई, किन्तु आँधियों और तूफानों के बीच गुजरती दुनिया में भारतीय संस्कृति और उसकी श्रमण धारा आज भी अटल है। इस संस्कृति के आध्यात्मिक आदर्श को कायम रखने वाले भगवान ऋषभदेव से भगवान महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर और आचार्य कुन्दकुन्द, समंतभद्र आदि दि. जैन श्रमण हैं, जिन्होंने प्राणीमात्र के कल्याण के लिये अहिंसा, अनेकाँत, स्याद्वाद और अपरिग्रह का मार्ग बतलाया। उन्होंने केवल मनुष्य जाति के ही नहीं, वरन् समस्त प्राणियों के विकास का माध्यम अहिंसा मानकर उसे स्वयं आरंभ कर परिवार, जाति, समाज और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राष्ट्र को विश्व के रूप में विस्तृत कर सब के हृदय में आत्मीयता को जाग्रत किया और उससे विश्व के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया।

यह समन्वय, समभाव और सहिष्णुता का परिणाम है कि संघर्ष के बावजूद वैदिक और जैन सभी इस देश में एक साथ रह रहे हैं। जैन दर्शन में जनसाधारण को जीवहिंसा से बचाने के लिये शरीरिक धरातल पर आचार के अन्तर्गत अहिंसा और चिन्तकों एवं विचारकों को हिंसा कार्य से विरत करने के लिये विचार के अंतर्गत अनेकाँत का महत्व प्रदर्शित किया गया है। भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण–महोत्सव के अवसर पर इनकी खूब चर्चा हो चुकी है।

धर्म प्रचार की जिम्मेवारी

तीर्थंकरोपदिष्ट सिद्धान्तों को जीवन में उतारते हुये देश विदेश में आधुनिक साधनों द्वारा इनका अधिकाधिक प्रचार करने की जिम्मेवारी वर्तमान में जैन विद्वानों की है, जिन्हें भगवान महावीर की विराट विरासत को लेकर स्व. बेरिस्टर चंपतरायजी के समान सुयोग्य और संयमी बनते हुये यह कार्य करना है। इस समय आधुनिक प्रगतिशील विद्वानों की कमी नहीं है, जो विश्वविद्यालयों और कालेजों में ऊंचे वेतन पर कार्यरत हैं। देश के अतिरिक्त विदेश में भी कतिपय विद्वान जैन सिद्धांतों के प्रचार प्रसार हेतु भ्रमण करने में सक्षम हैं। अभी ऐसे एक दो विद्वानों ने कुछ उत्साह दिखलाया है।

पंडित वर्ग की कमी और उपाय

वर्तमान में यदि कोई कमी हुई तो जैन सिद्धांत के मर्मज्ञ पंडित वर्ग की, जो समाज के अंतर्गत शिक्षा संस्थाओं में अध्यापन, उपदेश एवं क्रियाकांड में निष्णात था। अब संस्थाओं में ऐसे पंडित वर्ग का जो पद रिक्त होता है उसकी पूर्ति नहीं हो पाती। इन पदों की पूर्ति के लिये मध्यप्रदेश महावीर ट्रस्ट की ओर से नये विद्वान तैयार करने की घोषणा करने और उचित छात्रवृत्ति देने पर भी सफलता न मिलने के कारण समाज के मन में और बजट में अत्यल्प वेतन देने की भावना है। इन शिक्षा संस्थाओं में ३५–४० वर्ष पूर्व जैसा जैन सिद्धांत, न्याय, व्याकरण और साहित्य का अध्ययन अध्यापन होता था, अब नहीं होता। शोचनीय आर्थिक स्थिति वाले छात्र छात्रालयों में अनपेड रूप से प्रविष्ट होकर आजीविका पाने के उद्देश्य से लौकिक स्कूल कालेजों में शिक्षण लेते हुये, बिना रुचि विद्यालयों में संस्कृत विषयों का अध्ययन करते हैं। इसका यह परिणाम है कि पूर्व पंडितगण के समान वर्तमान पंडित तैयार नहीं होते। पूर्व विद्वानों के सेवा निवृत हो जाने से उनके स्थानों की पूर्ति न होकर आर्थिक दृष्टि से भी सामाजिक संस्थाओं का संचालन मुश्किल हो गया है। क्योंकि आर्थिक सहायता इन विद्वानों के प्रभाव से प्राप्त होती थी। समाज में पंडितगण के प्रभाव की चिंता तो की जानी है, क्योंकि पर्व समारोह और प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रसंग पर वे ढूंढने से नहीं मिलते। किन्तु इस चिंता से मुक्त होने के लिये वर्तमान संस्कृत शिक्षण पर असंतोष व्यक्त न कर नये विद्वानों की आजीविका हेतु उनके वेतनमान का आकर्षण क्यों नहीं किया जाता। इस वेतनमान के विषय में तो विद्वत्परिषद को भी अपने प्रभाव का उपयोग करना होगा। ताकि नये विद्वानों का समाज के बाहर अधिक वेतन पाने का विचार उत्पन्न न हो और शिक्षण में अरुचि न रहे। समाज में छात्रालयों और विद्यालयों की स्थापना में पूज्यवर्णीजी के प्रयत्न, दानवीर सेठ माणिकचन्दजी एवं रावराजा श्रीमंत सर सेठ हुकमचन्दजी आदि के अर्थिक योगदान तथा छात्रवृति में साहू शांतिप्रसादजी आदि की उदारता से जो वृक्ष फूलफल रहा है उसे सूखने न देने के लिये शिक्षा संस्थाओं के संचालकों से अनुरोध है कि वे इस पर गंभीरता पूर्वक विचार करें। मेरी मान्यता है कि प्रायः इन जैन शिक्षा संस्थाओं से तैयार हुए विद्वान असदाचारी नहीं होते। विशेष यह है कि वर्तमान शिक्षण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पद्धति में कुछ परिवर्तन लाना होगा।

विद्वता का महत्व और जिम्मेवारी –

समाज में ही नहीं, विश्व में विद्वता (ज्ञान संस्कार) का बड़ा सन्मान है। इहलोक परलोक में सफलता और स्वपर कल्याण विद्वता द्वारा ही संभव है। जो विद्वान या पंडित हैं, उन्हें स्वयं को गौरवशाली मानकर निष्ठापूर्वक कर्त्तव्य परायण रहना चाहिए। समाज में विद्वान की प्रतिष्ठा कम तभी होती है जब व्यवहार में अनैतिकता, याचना या दैन्य का भाव हो। समाज में सुधार या संगठन के विषय में विद्वानों का परामर्श और मार्ग दर्शन लिया जाता है। अखिल भारतीय संस्थाओं, शिक्षा संस्थाओं, प्रचलित रीति रिवाजों और धार्मिक पूजा प्रतिष्ठाओं में विद्वद्वर्ग का अधिक सहयोग रहता है। इनकी सफलता असफलता में विद्वानों की जिम्मेवारी कम नहीं है।

वर्तमान समस्याओं में विद्वानों का दायित्व

समाज की वर्तमान समस्याओं में तेरापंथ बीसपंथ के समान सोनगढ़ संबंधी पक्ष–विपक्ष भी है। समाज की कई पत्र–पत्रिकाओं और शास्त्र प्रवचनों ने इस विवाद को बढ़ाने में अग्नि में घृताहुति का सा काम किया है। हमारे यहां यह विवाद प्रायः घर–घर में पहुंच चुका है। यदि सहिष्णुता न रखी जावे तो पिता–पुत्र, पति–पत्नी, भाई–भाई में भयंकर संघर्ष हो सकता है। जिस प्रकार घर में शांति के लिये अपने विचारों व व्यवहार में समन्वय, सहिष्णुता या अनेकान्त का हम उपयोग करते हैं; जैसाकि बीसपंथ–तेरापंथ का निर्वाह एक साथ पति–पत्नी व पिता–पुत्र अपने गृह चैत्यालय में करते हैं। वैसा समाज में प्रयोग क्यों न किया जावे ? समाज को जीवित और निरापद रखने तथा विघटन से बचाकर संगठित रखने का दूसरा मार्ग कौनसा मिलेगा ? समाज में सोनगढ़ का अध्यात्म ज्ञान प्रसार व दिगम्बर मुनिराजों की व्रताचार परंपरा दोनों ही मौजूद हैं। जब ज्ञान और आचार दोनों ही धर्म के अंग हैं तो इनमें परस्पर संघर्ष कैसा ? इनके नाम पर उत्पन्न हुये आग्रह, पक्षपात व एक दूसरे की निन्दा–आक्षेप से बचते हुये उदार बनकर स्वयं अपनी त्रुटियों व बिखराव के कारणों को दूर करने में ही हम सबका हित है।

विद्वत्परिषद या अन्य संस्थाओं में दोनों ही पक्ष के समर्थक हैं। हमारे पूज्य दिगम्बर साधुओं और व्रती–त्यागी वर्ग में भी इस विषय में जो विचार भेद हैं उसे पत्र–पत्रिकाओं के पाठक भली भांति जानते हैं। सन्मति वाणी मासिक के संचालन में व हमारे प्रवचन के श्रोताओं में दोनों ही पक्ष के सज्जन विद्यमान है। यदि हम निर्णयात्मक बुद्धि रखकर संतुलन और विवेक से काम न लें तो अशांति हुये बिना न रहे। विद्वद्गण दूरदर्शिता, विवेक और माध्यस्थ्य भाव से सामाजिक शांति का दायित्व ग्रहण करें तो यह समस्या सहज हल हो जाये, क्योंकि पत्र पत्रिका संपादन और प्रवचन आदि में उन्हीं का प्रमुख हाथ है।

जब विद्वत्परिषद में शास्त्री परिषद् के और शास्त्री परिषद् में विद्वत्परिषद् के सदस्य सम्मिलित हैं तो दूसरों को वात्सल्य और सद्भाव का उपदेश देने के पूर्व हम इन सद्गुणों को स्वयं अपनाकर यश के भागी क्यों न बनें ? विद्वानों का संगठन अलग–अलग होकर भी हम यदि सम्मिलित होकर कोई योजना बनावें तो उसका प्रभाव अधिक बढ़ जायगा।

विद्वानों के लिये विविध कार्य –

उच्चतम लौकिक शिक्षण प्राप्त युवा विद्वानों द्वारा पी. एच–डी. निमित्त से जैन पुराण एवं काव्य के विविध अंगों पर तथा प्राचीन जैन ग्रंथकारों पर सराहनीय कार्य हुआ है। अभी प्राचीन इतिहास एवं दर्शन आदि पर बहुत सा काम होना शेष है। अंग्रेजी स्कूल कालेजों के लिये नैतिक शिक्षण के नाम पर जैन धर्म का ज्ञान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कराने वाली पाठ्यपुस्तकों की रचना भी नहीं हो पाई है, जिनकी कई वर्षों से मांग है। विद्वन्मंडल उक्त कार्य के सिवाय बाल विकास साहित्य की रचना बाल संस्कार केन्द्र की स्थापना व उनका संचालन करे जिसकी रूपरेखा उसे सार्वजनिक संस्था संचालन के अनुभवी श्री बाबूलालजी पाटोदी इन्दौर द्वारा प्राप्त हो सकेगी। वर्तमान में देश में अनेक बालमंदिर चलते हैं जिनमें मान्टेसरी शिक्षण पद्धति प्रमुख है, लेकिन संस्कार की दृष्टि से यह आवश्यक है कि भौतिक शिक्षण के साथ आध्यात्मिकता की ओर झुकाव हो–उनमें विश्वबंधुता और सेवा की भावना जाग्रत हो और भारतीय तत्वज्ञान युक्त सुसंस्कृत मस्तिष्क बने।

समाज की या बाहर की पत्र–पत्रिकाओं में जो जैन विद्वान कार्यरत हैं वे परस्पर निन्दा प्रशंसा में न पड़ते हुए सदाचार व सत्साहित्य का प्रचार–प्रसार करें और अपने अर्जित ज्ञान का सदुपयोग कर समाज के नैतिक एवं आर्थिक स्तर को ऊंचा उठाने का प्रयत्न करें। विद्वत्परिषद द्वारा आयोजित मथुरा व सागर के शिक्षणशिविर बीना की तत्वचर्चा के आयोजन सफल रहे हैं। उनमें प्रशिक्षण प्राप्त विद्वान प्रतिष्ठाचार्य, ज्योतिषी व व्याख्याता बनकर लाभ उठा रहे हैं। हम समय का त्यागकर इन योजनाओं को चालू रखें और प्रतिष्ठा, चिकित्सा, प्रवचनकला, ज्योतिष या समाज सेवा आदि का प्रशिक्षण तथा शंका समाधान द्वारा प्रगतिशील बनें। इस प्रकार परस्पर सम्मिलन एवं सहयोग से वर्तमान के अनेक विवाद भी सहज हल हो जायेंगे और हमारा संगठन दृढ़ होगा।

वर्तमान विज्ञान के युग में जब मानव चन्द्र तक पहुंचा है तो हम इसे असंभव बताने के बजाय अपने भूगोल को आज की भौगोलिक स्थिति के साथ तुलना करने का प्रयत्न करें, जबकि हमारे यहां बहुभाषाविद विद्वान हैं, जो विदेशों में जा सकते हैं। प्रो. लक्ष्मीचन्द जैन खंडवा का गणित विषयक तुलनात्मक अध्ययन सराहनीय है। अपने यहां की ऐसी प्रतिभाओं को प्रोत्साहित क्यों नहीं किया जाता?

जिन प्रांतों में दि. जैन धर्म प्रचलित है वहां विशेष संपर्क करके उनके संस्कार सुधारने व उनमें धर्म की पुनर्जागृति करने का काम विद्वद्गण का है। सराक, कलार आदि जातियों के लाखों की संख्या में लोग हैं, जिनका संपर्क टूट गया है उनके निवास क्षेत्र में जाकर उनका स्थितिकरण किया जावे।

इन दिनों मंदिरों में मूर्ति, यंत्र सिंहासन, कलश आदि लाखों रु. मूल्य के उपकरण चोरी जाने की घटनायें हो रही हैं। इसका कारण दरिद्रता, बेराजगारी, विलासिता और चलचित्रों द्वारा दुराचरण का प्रचार तथा दुर्व्यसनों की ओर लोगों का झुकाव है। मंदिरों में सोना, चांदी की बहुमूल्य वस्तुयें रखने का समय अब नहीं रहा है। हमें ऐसे सामान का प्रदर्शन बिल्कुल बन्द करा देना चाहिए। मंदिरों में वीतरागता की शिक्षा ग्रहण करने भक्तजन जाते हैं। यदि उन्हें प्रलोभन की सामग्री दिखलाई पड़ती है तो मूर्च्छा (लालसा) का भाव उत्पन्न हो जाना आश्चर्यप्रद नहीं है। विद्वद्वर्ग का कर्तव्य है कि अपने यहां के मन्दिरों में पाषाण की विशाल मनोज्ञ प्रतिमा के अतिरिक्त शेष सर्वधातु, चान्दी, स्फटिक, हीरा, मूंगा आदि लघु अवगाहना की प्राचीन मूर्तियां चारों ओर पेटीनुमा मजबूत सींकचे या शटल द्वारा सुरक्षित करा देवें। नवीन प्रतिमायें आगे प्रतिष्ठाचार्य प्रतिष्ठा हेतु स्वीकृत न करे। प्रतिष्ठा कार्य में भगवान के माता पिता बनाना और जन्म कल्याणक में स्त्रियों से अभिषेक कराना तथा अभिषेक पीना उचित नहीं है। ऐसे काम जिनसे हमारे सम्मान और परम्परा को हानि पहुंचे न किये जावें। नवीन मंदिरों या वेदियों में तो इसका अवश्य ध्यान रखा जावे। चांदी के सिंहासन, यंत्र आदि बहुमूल्य नये उपकरणों का निर्माणबंद कराकर पाषाण के छत्र, भामंडल और मंदिर के अन्य शिखरों पर पाषाण के कलशोंका अरोहण किया जावे। बड़े शिखर पर सुवर्ण कलश के नीचे व मध्य में सफेद मसाले की सीमेंट भरकर सुदृढ़ता करा देवें ताकि बिना खोदे कलश न निकल सके। प्रतिमा की सातिशयता के लिये यथाविधि प्रतिष्ठा सम्बन्धी मंत्र संस्कार करके हमेशा विनयपूर्वक पूजा का ध्यान रखा जावे अन्यथा अतिशय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बना नहीं रहता। अतिशय पूजक के व्यक्तित्व पर निर्भर है। हमें शासन पर निर्भर न रहकर अपने धर्मायतन की रक्षा स्वयं करना होगी।

गौरवशाली विद्वान् –

हमारे सहपाठी स्व. न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमार जी कहा करते थे कि जब से मैंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में कार्य करना प्रारम्भ किया तभी से मुझे सम्यग्दर्शन हो गया। जिस प्रकार सम्यग्दृष्टियों को अपूर्व आत्मानुभूति, आत्मगौरव और आत्मानन्द होता है उसी प्रकार समाज के आधीन न रहकर आजीविका प्राप्त करने और फिर निःस्पृह होकर समाज सेवा में अपूर्व आनन्द और गौरव का अनुभव हो रहा है। श्री पं. गोपालदासजी बरैया का आदर्श हमारे समक्ष है, जो स्वतन्त्र आजीविका कर समाज की निस्वार्थ सेवा करते थे। सामाजिक शिक्षा संस्था में रहकर वर्तमान में हमारे अग्रगण्य विद्वान श्री पं. जगन्मोहनलाल जी सिद्धान्त शास्त्री और सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्रजी आदि हमारे लिये आदर्श हैं, जो अपनी निःस्पृह सेवा और प्रभाव द्वारा समाज से आर्थिक सहायता प्राप्त कर शिक्षासंस्था का सुचारु संचालन करने के पश्चात् अब निवृत्त होकर भी संस्था के लिये कुछ न कुछ लाते ही रहते हैं। इस प्रसंग पर स्व. विद्वान् पन्नालालजी वाकलीवाल, ब्र. शीतलप्रसादजी, पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार और पं. चैनसुखदासजी आदि की समाज एवं साहित्य सेवायें अविस्मरणीय हैं।

हमने जिस पवित्र ज्ञान का अर्जन किया है क्यों न हम अपने को पुण्यशाली मानते हुए उसका आनन्द प्राप्त करें ? यद्यपि यह अर्थयुग है, सबकी परिस्थिति भिन्न–भिन्न है, पर उससे विचलित या निराश न होते हुए कर्त्तव्यनिष्ठ बने रहना जीवन की सफलता है। हम किसी से प्रभावित न हों, उज्ज्वल आचार विचार और त्यागमय जीवन व्यतीत करते हुए जिनशासन की प्रभावना में सतत जागरुक रहें यही शुभ कामना है।

आँधी तूफान व मध्य प्रदेश में ओला वृष्टि से भयंकर क्षतिग्रस्त जनता के प्रति हमारी सहानुभूति है। विद्वानों का कर्तव्य है कि इसमें यथाशक्ति सहायता करें।

परिषद् की विशेषता

इस परिषद् की यह विशेषता है कि इसके सदस्यगण विचार वैषम्य को गौण कर विचार साम्य की बातों को महत्व देकर एक सूत्र में संगठित रहने में अपना हित मानते हैं। निवेदन है कि पूर्व पारित प्रस्ताव कितने क्रियान्वित हुए हैं इसे देखकर आगे कोई ठोस काम हो सके ऐसे निर्विवाद महत्वपूर्ण प्रस्ताव ही अधिवेशन में प्रस्तुत किये जावे। सहस्त्रों की संख्या में उपस्थित धर्मबन्धु हमसे आत्महित का उपदेश श्रवण करना चाहते हैं। हमें इस विशाल जनमेदिनी में व्यक्तिगत कमजारियों का दिग्दर्शन कर विद्वानों की छवि को धूमिल न बनाते हुए वात्सल्यमय वातावरण से सबको सन्तुष्ट करना है। अन्त में विद्वत्परिषद् के मन्त्री श्री डा. पन्नालालजी साहित्याचार्य का, जिन्हें इस परिषद् को स्मृतिग्रंथ, विद्वत्सन्मान, विद्वत्सहायता, पुरस्कार, आदि योजनाओं द्वारा सफल एवं प्रगतिशील बनाते हुए विद्वानों को एक संगठन में लाने का श्रेय प्राप्त है, तथा समस्त विद्वत्मंडल का आभारी हूँ, जो परिषद् में वरिष्ठ एवं मूर्धन्य विद्वानों के रहते हुए मुझ अकिंचन को अध्यक्ष पद पर बैठाकर उसके निर्वाह हेतु सहयोग प्रदान किया। इस महोत्सव में श्री १०८ आचार्य विद्यासागरजी महाराज का पदार्पण हुआ उन्हें मेरा नमोऽस्तु।

□□□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

डॉ. पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर (खजुराहो-१९८१, चतुर्दश अधिवेशन के अध्यक्ष) का भाषण सार

समाज में चल रही जैन संस्थाएँ धीरे-धीरे समाप्त हो रही हैं। उनमें अध्ययन करने वाले छात्रों को वहाँ के पाठ्यक्रम से संतोष नहीं हो रहा है। आज के छात्र और उनके अभिभावक पारमार्थिक शिक्षा के साथ जीवनोपयोगी शिक्षा भी चाहते हैं। समाज के प्रचलित विद्यालयों में जीवनोपयोगी पाठ्यक्रम का अभाव है, यही कारण है कि उनमें छात्र संख्या कम होती जा रही है। अतः आवश्यक है कि विद्वान् लोग एक ऐसा पाठ्यक्रम बनाकर देवें जो सब दृष्टियों से छात्र का बौद्धिक और आर्थिक विकास करने में सक्षम हो। इस पाठ्यक्रम को चलाने के लिये परीक्षालय की आवश्यकता का अनुभव हो तो वह भी खोला जा सकता है।

वीतरागाय नमः

स्वदोषशान्त्या विहितात्म शान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम्।
भूयाद्भवक्लेश भयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो में भगवान् शरण्यः।।

जैनशासन के परमप्रभावक आचार्य विद्यासागरजी, दक्षिण और उत्तर भारत को एक श्रृंखलाबद्ध करने के इच्छुक पूज्य भट्टारकजी, आत्माराधना में निरत पूज्य त्यागीगण, विद्वद्वृन्द, श्रीमन्त, सज्जनों, माताओ और बहिनों!

कलाप्रेमी श्री चन्देल राजा के शासनकाल में धर्मप्रेमी पाहल श्रेष्ठी के द्वारा निर्मापित श्री पार्श्वनाथ मन्दिर से विभूषित एवं सर्वविघ्नविनाशक श्री शान्तिनाथ भगवान् की अतिशयपूर्ण विशाल प्रतिमा से समलंकृत खजुराहोकी पावन भूमि में लगभग १०० वर्ष बाद आयोजित पंचकल्याणक जिनबिम्ब प्रतिष्ठा और गजरथ महोत्सव के समय अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् का अधिवेशन आप लोगों ने आमन्त्रित किया, इसकी प्रसन्नता है।

विद्वत्परिषद् की स्थापना भगवान् महावीर के शासन महोत्सव के २५०० वीं जयन्ती के समय सन् १९४४ ई, में कलकत्ता में हुई थी। विद्वत्परिषद् विद्वानों का स्वशासित सक्रिय संगठन है। इसके अधिवेशन प्रायः भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में हो चुके हैं। शिवपुरी में इसका रजत जयन्ती महोत्सव डा. श्री दरबारीलालजी कोठिया की अध्यक्षता में संपन्न हुआ था। विद्वत्परिषद् ने स्वर्गीय श्री गोपालदासजी वरैया ओर दिवंगत श्री गणेशप्रसादजी वर्णी के शताब्दी समारोह बड़े उत्साह से मना कर गोपालदास वरैया स्मृतिग्रन्थ और गणेशप्रसाद वर्णी स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। साथ ही भगवान् महावीर के सार्धसहस्रद्वय निर्वाण महोत्सव के समय स्वर्गीय डा. नेमिचन्द शास्त्री, आराके द्वारा लिखित 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' के दो हजार पृष्ठ प्रमाण चार भाग प्रकाशित कर जिनशासन की प्रभावना बढ़ायी है। इन महनीय ग्रन्थों का समाज में अच्छा आदर प्राप्त हुआ और उसके फलस्वरूप अल्प समय में ही इनके संस्करण समाप्त हो गये। विभिन्न–विभिन्न अवसरों पर विद्वत्परिषद् ने अनेक शिक्षण शिविर, चर्चागोष्ठियों और विद्वत्सम्मेलनों का आयोजन किया है।

गुरुजनों के रहते हुए इस विशाल संस्था के गौरवशाली अध्यक्ष पद पर मेरा निर्वाचन कर आप लोगों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ने मुझे संकोच में डाल दिया है। मैं इसे गुरुजनों का हार्दिक स्नेह ही मानता हूँ कि जिससे प्रेरित हो उन्होंने मुझ जैसे तुच्छ व्यक्ति को यहाँ लाकर बैठा दिया है। गुरुजनों का आशीर्वाद और आप सब लोगों की शुभ कामनाएँ ही मुझे वह बल प्रदान करेंगी जिससे मैं इस गुरुतर भार का निर्वाह कर सकूँगा।

विद्वान् एक प्रकाशस्तम्भ –

भोगाकांक्षा रूप मोह यामिनी के सघन तिमिर में विद्वान् एक प्रकाश स्तम्भ के समान हैं। संसार में ओर भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त करने की आपाधापी चल रही है। पैसा को परमेश्वर मानकर छोटे से लेकर बड़े राष्ट्र तक उसी के संचय में लीन हैं। न्याय, अन्याय का विकल्प छोड़ सर्वत्र उसी के संचय करने की होड़ लग रही है। इस स्थिति में साधारण को आत्महित का मार्ग दिखलाने वाले विद्वान् प्रकाश स्तम्भ का काम करते हैं। स्वनाम धन्य पण्डित टोरडरमलजी, सदासुखरायजी, जयचन्दजी छाबड़ा, कविवर बनारसीदासजी तथा भैया भगवतीदासजी आदि विद्वानों ने अपने काल में आगम ग्रन्थों की हिन्दी वचनिकाएँ आदि लिखकर तथा जगह–जगह स्वाध्याय की शैलियाँ स्थापितकर जिनवाणी की जो सेवा की थी उसी के फलस्वरूप आज समाज में स्वाध्याय की प्रवृत्ति चल रही है और सच पूछा जाय तो गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार, तथा त्रिलोकसार आदि करणानुयोग सम्बन्धी गहन ग्रन्थों का अध्ययन इन्हीं टीकाओं के बल पर प्रचलित हुआ है।

एक समय ऐसा आ गया था जब जैन समाज में तत्त्ववेत्ता विद्वानों की अत्यन्त विरलता हो गई थी। व्यापार प्रधान जैन समाज अपने बालकों की संस्कृत–प्राकृत पढ़ाना अनावश्यक समझती थी और आर्य समाज की ओर से जैन समाज को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा जाता था। इस स्थिति में स्वर्गीय गोपालदासजी बरैया और स्वर्गीय गणेशप्रसादजी वर्णी का इस ओर ध्यान गया। फलस्वरूप मोरेना में जैन सिद्धान्त विद्यालय, बनारस में स्याद्वाद महाविद्यालय और सागर में सत्तर्कसुधा तरंगणी पाठशाला (जो आज गणेश दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध है) स्थापित की गई। इन विद्यालयों में संस्कृत–प्राकृत का सांगोपांग अध्ययनकर अनेक विद्वान् तैयार हुए। पं. माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, पं. मक्खनलालजी, पं. बंशीधरजी, पं. देवकीनंदनजी , पं. जीवन्धरजी, पं. फूलचन्दजी, पं. कैलाशचन्दजी, पं. जगन्मोहनलालजी तथा पं. दयाचन्दजी आदि ऐसे उदभट् विद्वान् तैयार हुए जिन्होंने जिनवाणी की अपूर्व सेवा की है। न केवल पठन–पाठन के द्वारा किन्तु षट्खण्डागम, कषायपाहुड़, महाबन्ध और त्रिलोक–प्रज्ञप्ति आदि गहन ग्रन्थों की आधुनिक हिन्दी टीकाएँ लिखकर जन साधारण को उनके स्वाध्याय का अवसर दिया है। जब मैं आगम ग्रन्थों का स्वाध्याय करता हूँ और उनके गहन स्थलों पर पं. फूलचन्दजी के विशेषार्थ देखता हूँ तब पं. फूलचन्दजी की प्रतिभा पर सहज आकर्षण होता है। स्व. श्री रतनचन्दजी मुख्तार भी करणानुयोग संबन्धी विशिष्ट प्रतिभा के धनी थे। किसी शिक्षा संस्था में क्रमबद्ध अध्ययन न कर मात्र स्वाध्याय के द्वारा ग्रन्थों की गणित सम्बन्धी गुत्थियों को सरलता से सुलझा देना आपकी विशेषता थी। पं. राजेन्द्रकुमारजी मथुरा, पं. अजितकुमारजी मुलतान, पं. मंगलसेनजी अम्बाला आदि ने आर्य समाज के शास्त्रार्थ को स्वीकृतकर उन्हें परास्त किया और आर्य समाज के कट्टर शास्त्रार्थी कर्मानन्दजी को जैनधर्म में दीक्षित कर शास्त्रार्थ की परम्परा को समाप्त कर दिया।

कहना चाहिये कि समाज ने शिक्षा संस्थाएं स्थापित कर उसके संचालन में जितना व्यय किया था उससे असंख्य गुणित लाभ उन संस्थाओं से उत्पन्न विद्वानों ने समाज को प्रत्यार्पित किया है। उन विद्वानों में जिनवाणी के प्रति अपूर्व निष्ठा थी इसलिए वे अपने निर्वाह की परवाह न कर सेवा में जुटे रहे और उस पीढ़ी के जो विद्वान आज अवशिष्ट हैं वे अब भी जुटे हुए हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यद्यपि संस्थाएँ आज भी वही हैं और पूर्व की अपेक्षा वृहत् साधनों से सम्पन्न हैं तो भी उच्चकोटि के विद्वान् तैयार नहीं हो रहे हैं। इसका एक कारण यही दृष्टि में आता है कि इस समय जीवनोपयोगी वस्तुओं में अत्यन्त मँहगाई छाई हुई है, उस मँहगाई में जैन शिक्षा संस्थाओं से प्राप्त होने वाले अल्पतम वेतनमानों से विद्वान् का निर्वाह नहीं होता अतः वह साथ में इंगलिश आदि का अध्ययन कर अपना कार्यक्षेत्र अन्यत्र बना लेता है। सरकारी संस्थाओं में समयानुकूल वेतन प्राप्त होता है इसलिये विद्यार्थी के हृदय में इंगलिश आदि के प्रति विंशेष आकर्षण हो जाता है और संस्कृत प्राकृत आदि के प्रति उसकी दृष्टि गौण हो जाती है। इस स्थिति में समाज का कर्त्तव्य है कि वह अपनी संस्थाओं में समयानुकूल वेतन देने की उदार भावना अपनावे और विद्वान् का भी कर्तव्य है कि वह कार्यक्षेत्र दूसरा होने पर भी अपनी धर्मनिष्ठा को गौण न करे जिनवाणी की सेवा तथा समाज के मार्गदर्शन में तत्पर बना रहे।

स्वाध्याय ही ज्ञानवृद्धि का परम उपाय है –

जिस प्रकार एक सैनिक को अपने अस्त्र–शस्त्र सदा ठीक रखना आवश्यक है, उनकी देखभाल करते रहना अनिवार्य है, उसी प्रकार विद्वान को भी अपने अर्जित ज्ञान को ठीक रखना आवश्यक है, उसकी वृद्धि करते रहना अनविार्य है। आजकल स्वाध्याय की परम्परा का प्रचार बढ़ रहा है। जगह–जगह द्रव्य गुण पर्याय और गुणस्थानों की चर्चाएँ सुनने में आती हैं परन्तु अधिकांश विद्वान्, खासकर नव पीढ़ी के विद्वान् इन चर्चाओं से अछूते रहते हैं। यह बात शोभास्पद नहीं है। विद्वानों को चाहिये कि वे जहाँ भी रहें वहीं स्वाध्याय मण्डल की स्थापना कर स्वयं स्वाध्याय करें और अपने ज्ञानार्जन का फल दूसरों के लिये भी प्रदान करें। अध्ययन करते समय जो कमी रह जाती है उसकी पूर्ति स्वाध्याय के द्वारा ही होती है।

निश्चय–व्यवहार, निमित्त–उपादान, भेद रत्नत्रय, अभेद रत्नत्रय और व्रत विधान तपश्चरण आदि विषयों का अवगमनयदृष्टि को समझकर करना चाहिये। जिनागम में एकान्तवाद को कोई स्थान नहीं है। निश्चयैकान्त, व्यवहारैकान्त और उभयैकान्त को आचार्यों ने क्रमशः निश्चयाभास, व्यवहाराभास और उभयाभास कहा है। इनका यथार्थ स्वरूप न समझने के कारण समाज में विसंवाद की स्थिति बन रही है। इस स्थिति का निराकरण स्याद्वाद का आश्रय लेने से ही हो सकता है।

कुन्दकुन्द स्वामी तथा अमृतचन्द्र आचार्य ने जगह–जगह दोनों नयों का प्रतिपादन कर वस्तु स्वरूप को स्पष्ट किया है। अमृतचन्द्र आचार्य ने तो स्पष्ट घोषणा की है –

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिन वचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्ण मीक्षन्त एव।।

अर्थात् जो पुरुश स्वयं मिथ्यात्व को, अनादिकालीन दुराग्रह को उगलकर दोनों नयों के विरोध को ध्वस्त करने वाले जिन वचन में रमण करते हैं वे शीघ्र ही अनाद्यनन्त एवं नय पक्षों से अक्षुण्ण उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप समयसार को नियम से देखते हैं। इन्हीं अमृतचन्द्र ने अनेक नयपक्षों का वर्णन करते हुए कहा है कि जो इन नयपक्षों से परे होते हैं वे ही साक्षात् अमृत का पान करते हैं। नय वस्तु स्वरूप को समझने और समझाने के साधन मात्र हैं, साध्य नहीं है अतः आगे चलकर एक ऐसी भूमिका आती है जहाँ नय, प्रमाण और निक्षेपोंका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि निश्चय और व्यवहार के यथार्थ स्वरूप को समझकर मध्यस्थ रहने वाला व्यक्ति ही जिनेन्द्रदेव की देशना का पूर्ण फल प्राप्त कर सकता है। कहा है –

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यनहार निश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः।।

व्यवहार और निश्चय का यथार्थ स्वरूप समझकर जो निश्चयाभास को निश्चय और व्यवहाराभास को व्यवहार मान बैठता है वह प्रवृत्तिरूप चारित्र को नष्ट कर देता है।

'निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करण चरणं स बहिः करणालसो बालः।।'

एक प्राचीन गाथा परम्परा से चली आ रही है –

'जइ जिणमअं पवज्जइ तो मा ववहार णिच्छयं मुइयह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं।।'

गाथा में कहा गया है –

यदि जिनमत की प्रवृत्ति चाहते हो तो व्यवहार और निश्चयनय को मत छोड़ो क्योंकि एकके बिना अर्थात् व्यवहार के बिना तीर्थ नष्ट हो जाता है और एक के बिना अर्थात् निश्चय के बिना तत्त्व नष्ट हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि व्यवहार और निश्चय दृष्टि का यथार्थ स्वरूप विद्वान् ही समझ सकता है अतः उसे स्वयं समझकर दूसरों को समझाना चाहिये। विद्वान् को पक्ष–विपक्ष की भूमिका में न पड़कर शुद्ध वस्तु तत्त्व का विश्लेषण करना चाहिये।

विद्वान् का लक्ष्य विसंवाद को दूर करना होना चाहिये। मिथ्यात्वका निराकरण करने में जहाँ साहस की आवश्यकता है वहाँ सत्य तत्त्व को स्वीकृत करने का साहस होना भी आवश्यक है। विद्वान् का दायित्व है कि वह निष्ठापूर्वक समाज में आगत बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न करे। उसे अपने इस अभियान में सफलता तब ही मिल सकती है जब वह अपने आपको तथाकथित बुराइयों से अछूता रक्खे। समुचित आचार विचार का धनी विद्वान् आज भी समाज में अपना गौरवपूर्ण स्थान रखता है। पं. दौलतरामजी के कथनानुसार मनुष्य पर्याय, सुफल और जिनवाणी के श्रवण–मनन का अवसर बार–बार प्राप्त नहीं होता। सौभाग्य से यदि इनकी प्राप्ति हुई है तो उसका लाभ प्राप्त करना चाहिये।

विद्वत्परिषद् का विशाल दायित्व

सांसारिक प्रपंचों में पड़ी हुई साधारण जनता के बीच विद्वान् का स्थान गरिमापूर्ण है। विद्वान् का कर्त्तव्य है कि वह अपनी गरिमा को सुरक्षित रखता हुआ साधारण जनता के लिये आत्महित का मार्ग प्रदर्शित करता रहे। आज समाज में चारित्रिक स्तर गिरता जा रहा है, उसे सम्भालने का प्रयत्न होना आवश्यक है। बालकों को प्रारम्भ से धार्मिक संस्कार प्राप्त नहीं होता और युवा होने पर कुंसगति में पड़ जाना, यह चारित्रिक स्तर के गिरने का कारण है अतः बालकों को स्कूल और कालेजों में भेजने के पूर्व ही उनमें अच्छे संस्कार डालने का प्रयत्न होना चाहिये। संपन्न लोग जहाँ अपनी संतान की सुख सुविधा के लिये अनर्गल रूप से खर्च करते हैं वहाँ अच्छे संस्कार डालने के साधनों में खर्च करते हुए अरुचि दिखाते हैं। सच कहा जाय तो सम्पन्न घराने के अनुशासनहीन बालकों से ही चारित्रिक पतन के काम शुरू होते हैं साधारण घरों के बालक तो उन्हीं की संगति से पतन का मार्ग अपनाते हैं। प्रत्येक नगर में ऐसी रात्रिशालाओं का होना आवश्यक है, जिनमें हमारे बालक जैनधर्म के अच्छे संस्कार सीखें। बाल्यावस्था के अच्छे संस्कार जीवन भर काम आते हैं। रात्रिशालाओं का संचालन विद्वान् सरलता से कर सकते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साहित्य सत्कार और लेखकों को प्रोत्साहित करना –

मौलिक साहित्य का निर्माण तथा प्राचीन साहित्य का समुद्धरण, ये दो कार्य ऐसे हैं जो विद्वानों के सिवाय दूसरों के द्वारा संभव नहीं है अतः विद्वानों को इस ओर लक्ष्य देना चाहिये। विद्वत्परिषद् ने प्रतिवर्ष एक हजार के पुरस्कार से विद्वान् लेखकों को पुरस्कृत करने की योजना बनाई है और इस योजना के अनुसार अब तक अनेक विद्वानों को पुरस्कृत कर चुकी है। भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से इस कार्य के लिये विद्वत्परिषद् को एक हजार का अनुदान प्राप्त होता है। इसलिये उसके संचालक धन्यवाद के पात्र हैं। अभी विद्वत्परिषद मौलिक रचना पर गोपालदास बरैया पुरस्कार और प्राचीन ग्रन्थों के अनुवादादि पर गणेशप्रसाद वर्णी पुरस्कार प्रदान करती है। यदि भारतीय ज्ञानपीठ के अनुसार समाज के अन्य दानी महानुभाव भी इस ओर ध्यान देवें तो पं. देवकीनन्दनजी, पं. माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, पं. बंशीधरजी न्यायालंकार, पं. दयाचन्द्रजी और पं. मक्खनलालजी के नामपर भी पुरस्कार स्थापित किये जा सकते हैं। ये वे विद्वान् हैं जिन्होंने जैन समाज और जैन साहित्य की सेवा में अपना जीवन अर्पित किया है। उनकी स्मृति में यह कार्य होना ही चाहिये।

सहकार और सहयोग की नीति

शिवपुरी में सम्पन्न होने वाले रजत जयन्ती अधिवेशन में उसके अध्यक्ष श्री डा. दरबारीलाल जी कोठियाने विद्वत्परिषद् के लिये एक हजार का दान देकर महावीर विद्यानिधि की स्थपना की थी। इस निधि के द्वारा साधनहीन विद्वानों और उनके परिवार को सहायता दी जाती है। इस निधि में धीरे–धीरे दश हजार रुपये एकत्रित हो गये थे उसके ब्याज से प्रतिवर्ष एक हजार रुपये सहायता में वितरण किये जाते हैं। प्रसन्नता है कि सागर कार्यकारिणी में विद्वत्परिषद् ने इस महानिधि में (१५०००) पन्द्रह हजार रुपये और मिलाकर पच्चीस हजार का फण्ड स्थापित कर दिया है अतः अब अधिक मात्रा में सहयोग किया जा सकेगा। समाज के उदार दानी इस निधि को वृद्धिंगत कर सकते हैं। इसके सब रुपये पंजाब नेशनल बैंक की सागर शाखा में जमा हैं। इसी निधि से विद्वत्परिषद् ने पूज्य वर्णीजी की साधनाभूमि में मड़ावरा में चलने वाले वर्णी विद्यालय के लिये ३६०) वार्षिक का स्थायी अनुदान स्वीकृत किया है।

विद्वत्परिषद् की एक योजना यह भी है कि यदि कोई विद्वान् वृद्वावस्था में आजीविका से दुखी हो गया है तो उसे विद्वत्परिषद् सन्मानपूर्वक अच्छी सहायता पहुँचाती है और इस योजना के अनुसार वह अब तक दो विद्वानों को एक–एक हजार रुपये की भेंट देकर सम्मानित कर चुकी है।

साधनहीन होनहार विद्यार्थी अपनी प्रगति कर सके इस उद्देश्य से विद्वत्परिषद् ने शोध अनुदान की भी एक योजना बीना–बारहा अधिवेशन में बनायी थी और उस योजना के अनुसार अब तक विभिन्न विद्यार्थियों एवं विद्वानों को शोध प्रबन्धों को टाईप कराने के लिये (३०००) तीन हजार की सहायता प्रदान कर चुकी है।

विद्वत्परिषद का उद्देश्य अपने सब सदस्यों के साथ भ्रातृभाव स्थापित करना भी है और इसी भावना से वह विद्वानों की स्थिति का ध्यान रखती है। तथा संकट के समय उनके काम आती है। कितने ही सदस्यों की औषधि के लिये विद्वत्परिषद् की ओर से (५००) तक सहायता भेजी गयी है। विशेषता यह है कि सहायता के ये सब कार्य गुप्तरूप से संपन्न किये जाते हैं जिससे सहायता लेने वाले को हीनता का भाव उत्पन्न नहीं हो। इस विभाग का संचालन करने के लिये चार सदस्यों की एक उपसमिति है उसकी समिति से यह कार्य सम्पन्न होते हैं।

कार्यक्षेत्र विस्तृत है उनके अनुरूप विद्वत्परिषद् के पास पर्याप्त साधन नहीं हैं। समाज को इस ओर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लक्ष्य करना चाहिये।

बाल साहित्य का निर्माण –

प्रसन्नता है कि विद्वानों ने उच्चतम साहित्य का निर्माण कर एक बड़ी कमी की पूर्ति कर दी है। परन्तु बाल साहित्य का एकदम अभाव हो रहा है। बालकों में अच्छे संस्कार डालने वाली छोटी–छोटी सचित्र पुस्तकों के प्रकाशन की अत्यन्त आवश्यकता है। बालकोपयोगी एक मासिक भी प्रकाशित करने की आवश्यकता है। विद्वत्परिषद् की शक्ति सीमित है अतः वह स्वयं कार्य प्रारम्भ न कर विद्वान् लेखकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट कर रही है। अभी हाल पूज्य श्री आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी ने इस ओर लक्ष दिया है। उन्होंने बाल विकास नामक चार भाग लिखकर जहाँ बालकों के धार्मिक ज्ञान को बढ़ाने का प्रयास किया है वहाँ पौराणिक कहानियों को आधुनिक नाम देकर अनेक पुस्तकों को पाकेट साईज में प्रकाशित किया है। माताजी का यह कार्य विद्वानों के लिये अनुकरणीय है। इस समय महिला जगत् में आर्यिकारत्न ज्ञानमतीजी, आर्यिका विशुद्धमतीजी, आर्यिका सुपार्श्वमतीजी और आर्यिका जिनमतीजी प्रबुद्ध महिलाएँ हैं। इन्होंने अष्टसहस्री, त्रिलोकसार, और प्रेमयकमलमार्तण्ड जैसे न्याय के कठिन ग्रन्थों पर हिन्दी टीकाएँ लिखकर विद्वानों के सामने आदर्श उपस्थित किया है।

व्यवस्थित पठनक्रम और परीक्षालय

समाज में चल रही जैन संस्थाएँ धीरे–धीरे समाप्त हो रही हैं। उनमें अध्ययन करने वाले छात्रों को वहाँ के पाठ्यक्रम से संतोष नहीं हो रहा है। आज के छात्र और उनके अभिभावक पारमार्थिक शिक्षा के साथ जीवनोपयोगी शिक्षा भी चाहते हैं। समाज के प्रचलित विद्यालयों में जीवनोपयोगी पाठ्यक्रम का अभाव है. यही कारण है कि उनमें छात्र संख्या कम होती जा रही है। अतः आवश्यक है कि विद्वान् लोग एक ऐसा पाठ्यक्रम बनाकर देवें जो सब दृष्टियों से छात्र का बौद्धिक और आर्थिक विकास करने में सक्षम हो। इस पाठ्यक्रम को चलाने के लिये परीक्षालय की आवश्यकता का अनुभव हो तो वह भी खोला जा सकता है। सन् १९४४ में सागर में एक एज्युकेशन बोर्ड की स्थापना कर उसके माध्यम से हमने विद्यालय में हिन्दी, गणित, अंग्रेजी तथा सामाजिक अध्ययन जैसे लौकिक विषयों का भी समावेश कराया था। उन विषयों की परीक्षा का भार दि. जैन महासभा परीक्षालय इन्दौर के तात्कालिक व्यवस्थापक स्व. पं. मुंन्नालालजी काव्यतीर्थ ने संभाला था। प्रसन्नता है कि उक्त परीक्षालय के वर्तमान व्यवस्थापक संहितासूरि श्री पं. नाथूलालजी भी परिश्रम पूर्वक इस भार को संभालते आ रहे हैं परन्तु महासभा की ओर से आर्थिक सहयोग न मिलने के कारण वे हतोत्साह हो रहे हैं। यदि महासभा ने अपने इस प्राचीनतम विभाग पर दृष्टि नहीं दी तो एक पृथक परीक्षालय की आवश्यकता होगी। उस आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही जयपुर की कार्यकारिणी में विद्वत्परिषद् ने एक 'वर्धमान परीक्षालय' की योजना बनाई थी। तथा तदनुरूप पाठ्यक्रम का निर्माण किया था।

साप्ताहिक पत्र की आवश्यकता

समाज में चल रहे पत्र दिन प्रतिदिन क्षीण हो रहे हैं। इस मँहगाई के काल में उनकी पृष्ठ संख्या कम हो गयी है। फिर वे अपनी–अपनी संस्थाओं के उद्देश्य की पुष्टि में निरत हैं। अपना पक्ष पोषण के विरुद्ध यदि कोई प्रत्युत्तर का लेख उन पत्रों में प्रकाशन के लिये भेजता है तो वह प्रकाशित नहीं होता। विद्वत्परिषद के कार्यालय में कितनी ही शास्त्रीय शंकाएं आती हैं, उनके समाधान भी प्रकाशित नहीं हो पाते अतः कार्यालय से भेजा हुआ उत्तर शंकाकार तक ही रह जाता है, साधारण जनता उससे लाभान्वित नहीं हो पाती। इस स्थिति में उचित होगा कि विद्वत्परिषद् की ओर से स्वस्थ विचारधारा का एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया जाय। वर्तमान में कुछ समाज सेवी विद्वान् रिटायर्ड हुए हैं उन्हें यह कार्य सौंपकर उनके अनुभवों से लाभ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उठाया जा सकता है। विद्वत्परिषद् के ६०० सदस्य हैं, यदि वे स्वयं ग्राहक हो जाते हैं और कम–से–कम दो ग्राहक बनाकर देते हैं तो पत्र का संचालन कठिन नहीं होगा। स्वस्थ पत्र के प्रति जनता के हृदय में आज भी अभिरुचि विद्यमान है।

विद्वत्परिषद् की कार्य प्रणाली

विद्वत्परिषद् विविध विचार वाले विद्वानों का एक संगठन है। उसकी नीति है कि मंचपर वे ही कार्य उपस्थित किये जाये जिसमें सबका मतैक्य हो। विभिन्न मतवाले कार्यों को व्यक्तिगत रूप से अथवा अन्य मंच से कर लिया जाय। इस नीति के कारण सब विचारधारा के सदस्य विद्वत्परिषद् में संगठित है। शासकीय स्कूलों तथा कालेजों में काम करने वाले उभय भाषा के विज्ञाता अनेक विद्वान् भी विद्वत्परिषद् के सदस्य है। बैंकों तथा अन्य शासकीय संस्थाओं में काम करने वाले विद्वान् भी सम्मिलित हैं। विद्वत्परिषद् अपनी इस नीति में सफल है इसीलिये सब प्रान्तों तथा सब विचारों के लोग इसमें संगठित हैं।

विद्वत्परिषद् और शास्त्रि परिषद्

विद्वत्परिषद् के अनेक सदस्य शास्त्रिपरिषद् में और शास्त्रिपरिषद् के अनेक सदस्य विद्वत्परिषद् में सम्मिलित हैं। यहाँ तक कि कार्यकारिणी के सदस्य भी हैं और वे अपनी–अपनी परिषद् की मर्यादा की रक्षा करते हुए बैठकों में सम्मिलित होते हैं। यह सब है, फिर भी विद्वानों की पृथक् दो संस्थाओं का होना जनसाधारण के लिये रुचिकर नहीं लगता। काश, दोनों संस्थाएँ एक हो सकें तो यह प्रसन्नता की बात होगी। दोनों संस्थाएँ एकजुट होकर कार्य करें तो समाज का कायापलट कर दें। एकीकरण के लिये किसी संस्था से अस्तित्व को समाप्त करने की आवश्यकता नहीं है। मेरे विचार से विद्वत्परिषद् एक साधारण सभा रहे क्योंकि उसमें छोटे बड़े सभी प्रकार के सदस्य हैं और शास्त्रिपरिषद् उस साधारण सभा के द्वारा चुने हुए उन २१ विद्वानों की हो जो सचमुच ही शास्त्री तथा जिनागम के मर्मज्ञ हैं। शास्त्रीय निर्णय या शास्त्रीय व्यवस्था का देना इस शास्त्रिपरिषद् के अधीन रहे।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा गजरथ और विद्वत्परिषद् अधिवेशन –

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा एक धार्मिक महोत्सव है। कहीं–कहीं इस महोत्सव के साथ गजरथ का भी आयोजन होता है। यह कार्य जैन समाज में बड़े उत्साह के साथ किये जाते हैं। पहले किसी एक व्यक्ति के द्वारा कराये जाते थे परन्तु अब परस्पर सहयोग से सम्पन्न होते हैं। इन उत्सवों में, खासकर गजरथ महोत्सव में जैन जनता के सिवाय अजैन जनता भी लाखों की संख्या में उपस्थित होती है। विद्वत्परिषद् कार्यकारिणी में एक बार ऐसा विचार आया था कि इन महोत्सवों के अवसर पर विद्वत्परिषद् के अधिवेशन न बुलाये जावें क्योंकि इससे उन समारोहों को विद्वत्परिषद् समर्थन प्राप्त होता है। गजरथ विरोध का आन्दोलन भी समाज में एकबार उठा था परन्तु समाज की गतिविधि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। सब समारोह चलते इतना अवश्य हुआ कि विद्वानों के बिना उन समारोहों की सार्थकता नहीं हो सकी। इसलिये पूर्वा पर विचारकर विद्वत्परिषद् ने इन समारोहों पर अधिवेशन के निमन्त्रण को स्वीकृत करना उचित समझा। फलस्वरूप द्रोणगिरि, जबलपुर, रेशन्दीगिरि, बीना बारहा, सागर, धौलपुर, आदि स्थानों पर पंचकल्याणक तथा गजरथ समारोहों के समय विद्वत्परिषद् के अधिवेशन, नैमित्तिक अधिवेशन या कार्यकारिणी के अधिवेशन सम्पन्न हुए हैं। सरलता से जनता को धार्मिक लाभ पहुँचाना विद्वत्परिषद् उद्देश्य है।

अतिशय क्षेत्र खजुराहो –

खजुराहो, कला की दृष्टि से देश विदेश में प्रसिद्ध है। यहाँ जैनेतर समाज के अनेक दर्शनीय मंदिर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। उनसे कुछ दूरी पर पहल श्रेष्ठी के द्वारा निर्मापित पार्श्वनाथ जिन मन्दिर है। इसी प्रांगण में १००८ भगवान् शान्तिनाथ की विशाल प्रतिमा है जो अपने अतिशय के लिये प्रसिद्ध है इनके सिवाय और भी मन्दिर हैं। पार्श्वनाथ मंदिर की शिखर कलापूर्ण है। ऐसा लगता है कि जैनेतर मंदिरों के कलाकारों द्वारा ही इस मन्दिर के शिखर का निर्माण हुआ है। खजुराहो के समीपवर्ती ग्रामों में जैन वसति कम है इसलिये यह क्षेत्र उपेक्षित सा पड़ा रहा। जैनेतर मंदिरों को देखने के लिये आने वाले पर्यटक जैन मंदिर के प्रांगण में भी आते हैं परन्तु यहाँ की व्यवस्था समयोचित न होने से उनका आकर्षण नहीं हो पाता। प्रसन्नता है कि पन्ना तथा छतरपुर के कुछ महानुभावों का ध्यान इस क्षेत्र के जीर्णोद्धार की ओर गया। श्री स्व. साहू शान्तिप्रसादजी का भी क्षेत्र पर शुभागमन हुआ तथा उन्होंने संग्रहालय के निर्माण की आवश्यकता देख एक लाख का दान घोषित किया। उत्साही कार्यकर्ताओं ने तन, मन, धन से क्षेत्र के नवीनीकरण में श्रम किया है। मैंने यहाँ की जो स्थिति २० वर्ष पूर्व देखी थी, उससे आज बहुत ही सुधार हुआ है। धर्मशाला के कमरों का निर्माण आधुनिक ढंग से हुआ है और मन्दिरों की वेदियों का भी नवनिर्माण हुआ है। मन्दिरों के आगे बगीचे का निर्माण हुआ है जिससे प्रांगण की शोभा बढ़ गई है।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा और गजरथ समारोह समिति ने श्री अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद् के अधिवेशन के लिये उत्कण्ठापूर्वक निमन्त्रण दिया जिसे कार्यकारिणी ने स्वीकृत किया। विद्वत्परिषद् के इस चतुर्दश अधिवेशन में समाज के गण्यमान्य अनेक विद्वान् पधारे हैं। उनके द्वारा समाज को मार्गदर्शन मिलेगा तथा विद्वानों के मार्गदर्शन से क्षेत्र के विकास में पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा। हम सब विद्वानों के साथ अयोजक महानुभावों के आभारी हैं। क्षेत्र निरन्तर समुन्नत हो तथा आयोजित समारोह निर्विघ्न समाप्त हो, यह कामना करते हैं।

विद्वानों की क्षति –

खेद है कि इस वर्ष जैन समाज को अनेक प्रबुद्ध विद्वानों की क्षति उठानी पड़ी है। अन्तस्तत्व की प्रेरणा से दिगम्बर धर्म को स्वीकृत कर अध्यात्म धारा को प्रवाहित करने वाले, श्री कानजी स्वामी अब नहीं रहे। करणानुयोग के मर्मज्ञ ब्र. पंडित रतनचन्द्रजी मुख्त्यार का देहावसान हो गया। श्री गोपालदासजी बरैया की शिष्य परम्परा के प्रमुख शिष्य, जैन समाज के प्राभृत विद्वान् न्यायालंकार पं. मक्खनलालजी मुरेना दिवंगत हो गये। मूडबिद्री के महाविद्वान् पण्डित के भुजबली शास्त्री, वीरसेवा मंदिर दिल्ली की जीवनभर सेवा करने वाले पं. परमानंदजी शास्त्री, बड़वानी की संस्थाओं की सेवा में जीवन अर्पित करने वाले पण्डित क्षेमंकरजी न्यायतीर्थ और बरुआसागर के विद्यालय की निष्ठापूर्वक सेवा करने वाले श्री मनोहरलालजी शास्त्री आदि विद्वान् हमारे बीच से उठ गये हैं। ये सभी विद्वत्परिषद् के स्नेही विद्वान् थे। इनके प्रति हमारा पूर्ण आदर भाव है। दिवंगत आत्माओं को शान्तिलाभ की कामना करते हुए उनके शोक संतप्त परिवारों के प्रति समवेदना प्रदर्शित करते हैं।

अन्त में आप लोगों ने मुझ अल्पज्ञ को अध्यक्ष जैसे गुरुत्तर पद पर आसीन कर जो सन्मान दिया है उसके लिये मैं आभारी हूँ और सब सदस्यों से अनुरोध करता हूँ कि विद्वत्परिषद के कार्य कलापों में पूर्ण सहयोग प्रदान करें। आप सबके सहयोग से ही विद्वत्परिषद् कलकत्ता में प्रस्फुटित यह अंकुर वट वृक्ष जैसा विस्तृत हो सका है।

शान्तिनाथ भगवान की जय

□□□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

डॉ. राजाराम जैन, आरा (बिहार) द्वारा (दिल्ली १९९८ अठारहवें अधिवेशन के अध्यक्ष) का

भाषण सार

सौभाग्य से आज विश्व के कोने-कोने में जब जैनियों का निवास हो गया है तो अब उनका यह विशेष कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उसके प्रचार-प्रसार का कार्य करें। उन्हें चाहिए कि वे अपने ग्रामों-नगरों में जैन पाठशालाएँ खोलें, इनके साथ-साथ अपने-अपने यहाँ के विश्व विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में भी प्राकृत भाषा एवं जैनधर्म के अध्ययन एवं शोध की व्यवस्था कर अपने-अपने बच्चों को भी उसका अध्ययन करावें। इस व्यवस्था से सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि विदेशों में सुरक्षित जैन पाण्डुलिपियों एवं पुरातात्विक सम्पत्ति का सूचीकरण एवं उनका सही मूल्यांकन भी हो सकेगा।

णमो लोए सव्व साहूणं

एवसग्गहरं पासं पासं वंदामि कम्मघणमुक्कं।
विसहर-विस-णिण्णसं गंगल कल्लाण-आवासं।।
चिट्ठदु दूरे मंतो तुम्झ पणामो वि बहुफलों होदि।
णर-तिरिएसु वि जीवा पावंति ण दुक्ख दोगच्चं।।

परमपूज्य त्यागीगण, स्वागताध्यक्ष महोदय, उपस्थित विद्वद् वृन्द, इस समारोह के आयोजकगण तथा जिज्ञासु भाइयों एवं बहिनो।

देश–विदेश में विख्यात १३वीं सदी के महान् सार्थवाह तथा जिनवाणी के परमभक्त साहू नट्टल की इस ऐतिहासिक महानगरी दिल्ली में आप सभी सज्जनोत्तमों के मध्य उपस्थित होने में मैं अत्यन्त गौरव का अनुभव कर रहा हूँ। अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद के पिछले गुप्त मतदान के द्वारा परिषद् के स्थायी सदस्यों ने मुझे बहुमत से अध्यक्ष के रूप में निर्वाचित कर मेरे प्रति जो अनन्य आशा एवं विश्वास व्यक्त किया है, इसके लिए मैं उन सभी के प्रति अपना सादर आभार व्यक्त करता हूँ और आशा करता हूँ कि विद्वत्परिषद द्वारा आयोजित सभी प्रकार के आगामी कार्यक्रमों में उनका रचनात्मक सहयोग मुझे प्राप्त होता रहेगा।

मैं तो अपने को प्रारम्भ से ही जैन समाज का एक अत्यन्त विनम्र सेवक, मुनि सेवक, गुरुभक्त तथा जैनधर्म एवं साहित्य की ऐतिहासिक मूल्य की जीर्ण–शीर्ण प्राचीन दुर्लभ पाण्डुलिपियों का साधारण विद्यार्थी मानकर चलता आया हूँ। प्रारम्भिक शिक्षा एक वन्य प्रान्त में स्थित गुरुकुल में होने के कारण स्वभावतः ही विनम्र एवं अपने विद्यागुरुओं के प्रति श्रद्धाभिभूत रहता आया हूँ।

बचपन से ही इस विद्वत्परिषद् की स्थापना के स्वप्नदृष्टा तथा उसकी स्थापना काल से ही अपने शुभाशीर्वादों की वर्षा करने वाले प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद पण्डित गणेशप्रसादजी वर्णी के चरण स्पर्श करने का अनेक बार सुअवसर मिला था और समाज एवं जिनवाणी सेवा के लिए उनका वरद शुभाशीर्वाद भी मिला था। उनके पावन सम्पर्क से प्रेरणा लेकर मैं जैन समाज के विख्यात पण्डितजनों के चरण स्पर्श के सुअवसर खोजता रहता था और मेरे सौभाग्य से व्याख्यान वाचस्पति पं. देवकीनन्दन जी सि.शा.,पं.वंशीधर जी, पं. माणिकचन्द जी, पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, पं. चैनसुखदासजी, पं.दयाचन्द्र जी (सागर), पं. पन्नालाल जी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

काव्यतीर्थ, पं.नाथूरामजी प्रेमी, पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार, पं. जगन्मोहनलालजी शास्त्री, पं. नाथूलालजी, पं. माणिकचन्दजी चवरे (तात्या जी) पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य, प्रो. डॉ ए.एन.उपाध्ये जी के अनेक बार चरण स्पर्श करने तथा उनसे शुभाशीर्वाद लेने के सुअवसर मिलते रहे।

श्रद्धेय पूज्य पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, पं. फूलचन्दजी शास्त्री, पं. महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, पं. दरवारीलालजी कोठिया एवं प्रो. डॉ. हीरालालजी तो मेरे साक्षात् विद्यागुरु ही रहे हैं। पं. हजारीप्रसादजी द्विवेदी, डॉ राजबली पाण्डेय, डा. वासुदेव शरण जी अग्रवाल एवं पं. बलदेव उपाध्याय जी की प्रेरणा से भूगोल एवं हिन्दी का क्षेत्र छोड़कर प्राकृत–अपभ्रंश के क्षेत्र में आया और परमपूज्य प्रो. डॉ. हीरालालजी तथा प्रो. डॉ. एन उपाध्येजी की प्रेरणा–आदेश से प्राच्य पाण्डुलिपियों की खोज एवं उनके सम्पादन अनुवाद का क्षेत्र स्वीकार किया।

अतः मैने सन् १६५६–५७ में राजस्थान, गुजरात, कलकत्ता, दिल्ली एवं आरा की साहित्यिक यात्राएं की और इन प्रसंगों में श्रद्धेय पं. पन्नालालजी सोनी, पं. हीरालालजी सि, शास्त्री, प्रो. डॉ पी.एल.वैद्य, पं. दीपचन्दजी पाण्डया (केकड़ी) सर सेठ भागचन्द्रजी सोनी, बाबू अगरचंद जी नाहटा, बाबू जगतप्रसादजी जैन नजीवावाद, बाबू पन्नालालजी अग्रवाल (दिल्ली) एवं डॉ. कस्तूरचन्दजी कासलीवाल ने अभिलषित पाण्डुलिपियों को उपलब्ध कराने में तथा मेरे शोधकार्यों की प्रगति में जो सहायता की उसकी मनोरम सुखद स्मृतियाँ आज भी मुझे प्रमुदित करती रहती हैं। इन पवित्रात्माओं को मैं निरन्तर सविनय प्रणाम करता आ रहा हूँ।

सन् १६७४–७५ में भगवान महावीर का २५०० वाँ परिनिर्वाण महोत्सव की वर्ष था। उस समय तक पाण्डुलिपियों से सम्बन्धित मेरे लगभग १८०४ पृष्ठों वाले तीन ग्रन्थ क्रमशः विहार सरकार के प्रो. डॉ. हीरालाल जी जैन, प्रो. नथमल जी टाटिया एवं प्रो, डॉ ए. एन. उपाध्ये जी की महती कृपा से प्रकाशित हुए जिनका शिक्षा जगत ने मूल्यांकन किया तथा उन पर सन् १६७५ में विज्ञान भवन दिल्ली में अयोजित वीर निर्वाण–भारती साहित्य पुरस्कार परमपूज्य आचार्य श्री विद्यानन्द जी मुनिराज के पावन सान्निध्य में तथा परम श्रद्धेय साहू शान्ति प्रसाद जी एवं मातुश्री रमारानी जी की उपस्थिति में तत्कालीन उपराष्ट्रपति महामहिम बी. डी. जत्ती महोदय के कर कमलों द्वारा प्राप्त हुआ।

उक्त पुरस्कार ने मेरी साहित्यिक भावनाओं को उत्तेजित किया और तभी से मैं एकनिष्ठ होकर साहित्य साधना में सत रहता आया हूँ। मुझे आपके सम्मुख यह कहते हुए प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि गुरुजनों के प्रसाद से मेरे अद्यावधि २५ ग्रन्थ तथा शताधिक शोध निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं और अभी भी स्नातकोत्तर प्राकृत के अध्यापन एवं शोध कार्यों के साथ–साथ मेरी साहित्य साधना चल रही है।

जिनवाणी की अमूल्य धरोहर–प्राच्य–पाण्डुलिपियाँ

प्राच्य पाण्डुलिपियाँ किसी भी देश की सामाजिक चिन्तन एवं उसकी प्रतिभा की प्रतीक मानी गई है। जैन पाण्डुलिपियों में हमारे आप्त पुरुषों की वाणी का चित्रण सुरक्षित है। मध्यकालीन पाण्डुलिपियों की पुष्पिकाओं एवं प्रशस्तियों में विविध विषयक सामाजिक ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक घटनाओं के उल्लेख रहने से इतिहास की अनेक विश्रृंखलित कड़ियों के समायोजन करने में सहायता मिलती है। प्राचीन काल में जब मुद्रणालय नहीं थे तब आगम तथा अनुआगम ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ कराकर उन्हें मन्दिरों के शास्त्र भण्डारों में सुरक्षित कर दिया जाता था। इससे जिनवाणी की सुरक्षा भी होती थी और स्वाध्यायार्थी एवं शोधार्थी जनों को उनके स्वाध्याय करने के भी अवसर मिलते थे।

प्रो. डॉ. हीरालालजी कहा करते थे कि हम जब भी जहाँ भी जावें, वहाँ के जैन मन्दिर में दर्शन कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेदी–परिक्रमा अवश्य किया करें क्योंकि वहाँ प्रायः जिनवाणी के प्राचीन जीर्ण शीर्ण हस्तलिखित ग्रन्थ बोरों में भरकर जल समाधि के लिए रखे रहते हैं। वे यह नहीं समझते कि हमारे प्राचीन आचार्यों की कठोर साधना एवं कठिन परिश्रम पूर्वक लिखित प्राचीन पोथियाँ (पाण्डुलिपियाँ) ही हमारी बहुमूल्य धरोहर हैं क्योंकि उनमें हमारे इतिहास, संस्कृति तथा सिद्धान्त, आचार, अध्यात्म सभी कुछ वर्णित हैं। इस विषय में वे अपनी एक घटना का उदाहरण भी देते थे कि एक बार वे एक गाँव के जैन मन्दिर में दर्शनार्थ गए और वेदी परिक्रमा में जीर्ण–शीर्ण पोथियों से भरा हुआ एक बोरा देखा। उसमें ऊपर ही सुन्दर लिपि में पड़ा हुआ एक पन्ना उठाकर पढ़ा तो उसका विषय बड़ा सुन्दर लगा। जब उन्होंने वह बोरा लुढ़का दिया तो उसी पन्ना के साथ वाले अन्य सभी पन्ने भी उन्हें मिल गए। वे सभी पन्ने पाहुडदोहा नामक ग्रन्थ के थे जो कि अपभ्रंश भाषा में लिखित जैन रहस्यवाद का उत्कृष्ट कोटि का ग्रन्थ निकला। बाद में उन्होंने उसका सम्पादन अनुवाद किया जो कारंजा जैन ग्रन्थमाला कारंजा (अकोला, विदर्भ) में प्रकाशित हुआ तथा अनेक विश्व विद्यालयों ने उसे अपने विविध पाठ्यक्रमों में स्वीकृत भी किया।

हमारी असावधानी से न जाने कितने–कितने ग्रन्थ जल–समाधि ले चुके अथवा दीमक एवं चूहों के भोजन बन गए। विदेशी पर्यटक भी कितने–कितने ग्रन्थ विदेशों में ले गए इसका भी कोई हिसाब नहीं रहा। सर्वेक्षणों से विदित होता है कि योरुपीय एवं एशियाई देशों में हमारे सैंकड़ों ग्रन्थ अभी भी वहाँ प्राच्य शास्त्र भण्डारों में सुरक्षित हैं। उनका सूचीकरण अत्यावश्यक है।

आज हम कहते हैं कि हमारा महान ग्रन्थ गन्ध हस्ति महाभाष्य खो गया या अन्य ग्रन्थ जो नहीं मिलते, बहुत सम्भव है कि वे देश–विदेश के किसी प्रच्छन्न शास्त्र–भण्डार में सुरक्षित हों और सूचीकरण करने से वे प्रकाश में आ जायँ जैसा कि अभी कुछ वर्ष पूर्व प्रो. डॉ. जगदीशचन्द्रजी जैन को जर्मनी में वसुदेव हिण्डी का वह अंश उपलब्ध हो गया, जिसे विद्वानों ने लुप्त घोषित कर दिया था।

मध्यकालीन ग्रन्थ–प्रशस्तियों में अनेक ऐसे ग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं जो वर्तमान में उपलब्ध नहीं। ऐसी लुप्त अथवा विस्मृत पाण्डुलिपियों में से एक पाण्डुलिपि है – प्राकृत पंचक्खाण। उसका मूल ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं किन्तु श्रावक निर्मलदास कृत उसका भाषा–पंचख्यान (अर्थात् पाँच आख्यान वाली रचना) उपलब्ध है। जिसमें लगभग २००० पद्य हैं। उसकी आदि–प्रशस्ति में उसे पंचतन्त्र तथा अन्त प्रशस्ति में उसे पंचख्यान–भाषा कहा गया है। उसमें बतलाया गया है कि जो भी व्यक्ति इस पंचाख्यान भाषा ग्रन्थ का अध्ययन करेगा, वह राजनीति में निपुण हो जाएगा। यथा–

सुनो सुनो श्रावक सकल नर सहाय मिल भविक सव।
तुम्हारे प्रसाद यह उच्चरों पंचतंत्र की कथा इव।।
- (आदि प्रशस्ति का अंश)

पंचख्यान कहैं प्रकट ज्यों जाने नर कोय।
राजनीति में निपुण हुवै पृथिवीपति सों होय।।
- (अन्त्य प्रशस्ति का अंश)

इस पाण्डुलिपि में लेखन काल नहीं दिया गया है। किन्तु उसका प्रतिलिपिकाल वि.सं. १७५४ है। उक्त प्रशप्ति में पंचतंत्र का अपरनाम पंचाख्यान के उल्लेख से हमारा ध्यान जर्मनी के प्राच्य विद्याविद् प्रो. जॉन हर्टेल के उस कथन की ओर जाता है, जो उन्होंने लगभग ६ दशक पूर्व पं. विष्णुशर्मा कृत पंचतंत्र का सम्पादन करते समय लिखा था। उनके कथनानुसार वर्तमान में उपलब्ध संस्कृत पंचतंत्र के पूर्व किसी जैन लेखक द्वारा लिखित प्राकृत पंचक्खाण नामक जैन कथा ग्रन्थ लोकप्रिय था। हर्टेल के मतानुसार "संस्कृत पंचतंत्र उसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के आधार पर लिखित अथवा अनुदित प्रतीत होता है।"

महाकवि स्वयम्भू ने अपने रिट्ठजोभिचरिउ की प्रशस्ति में लगभग ४० ऐसे ग्रन्थों के उल्लेख किए जो वर्तमान में उपलब्ध नहीं। आचार्य नयनन्दि ने ११ वीं सदी में 'सयलविहिविहाणकव्व' की रचना ५८ सन्धियों में की थी, उसकी मध्य की १६ सन्धियाँ अर्थात १५ से लेकर ३२ सन्धियाँ नष्ट हो गई। अतः वह ग्रन्थ तो त्रुटित हो ही गया उसकी प्रशस्ति में उल्लिखित अन्य ३३ रचनाएँ भी वर्तमान में अनुपलब्ध हैं। इसी प्रकार अन्य कवियों द्वारा उल्लिखित शताधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी लुप्त विलुप्त ही हैं। प्राच्य जैन–विद्या जगत के लिए यह अपूरणीय क्षति अत्यन्त खेदजनक है।

अभी हाल में रूस के एक प्राच्य शास्त्र भण्डार की ग्रन्थ सूची भी देखने को मिली है। उसकी निम्नलिखित जैन पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं।

(१) भगवती आराधना (शिवकोटि) (२) उपासकाचार (पूज्यपाद) (३) पदम–रामपुराण (सोमसेन) (४) सम्यक्त्व कौमुदी कथा (दो प्रतियाँ) (५) जैन पूजा विधि (६) भावीजिन तथा महावीर की स्तुतियाँ (७) सामायिक (सं.प्रा. की प्रार्थनाओं का संग्रह) (८) प्रश्नोत्तर रत्नमाला (देवेन्द्र टीका सह) (९) त्रैविद्य–गोष्ठी (विद्वान् ब्राह्मणों को जैनधर्म में दीक्षित करने के लिए उनसे शास्त्रार्थ करने का निर्देश देने वाली मुनिसुन्दर कृत रचना) (१०) आचार प्रदीप (राजशेखर कृत) जैन नीति शास्त्र पर आधारित, जिसमें लोकगाथाओं जैसी अनेक सुन्दर–सुन्दर गाथाएँ लिखित हैं। (११) सुभाषितार्णव–अद्वितीय वैज्ञानिक महत्व की दुर्लभ हस्तलिखित प्रति, जिसमें १००० से अधिक श्लोक हैं (१२) चित्रसेन पदमावती चरित (नयविजय कृत जैन काव्य) इसमें पदमावती की सुविख्यात कथा का ५३६ श्लोकों में जैन रूपान्तर भी उपलब्ध है।

जैन साहित्य प्राच्य फारसी–भाषा में

जैन साहित्य केवल प्राच्य भारतीय भाषाओं में ही नहीं लिखा गया बल्कि उसकी गुणवत्ता एवं सार्वजनीनता के कारण उत्तर मध्य काल में उनका फारसी अनुवाद भी कराया गया। ऐसे ग्रन्थों में पंचास्तिकाय (कुन्दकुन्द), गोम्मटसार कर्मकाण्ड (सि.चं. नेमिचन्द्र) अनुवादक मुंशी दिलाराम (समय अज्ञात) तथा ऋषभ स्तोत्र (जिन प्रभसूरि १४वीं सदी) आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं। फारसी में लिखितं ऋषभस्तोत्र का पूरा अंश तो देने के लिए यहाँ स्थान नहीं है किन्तु उसका एक पद्य उदाहरणार्थ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है –

शहरु दिह उलातु छत्रु खाफूर उदु।
मिसिकि जरु नवातु ष्वांद रोजी दरास।।
कसव पिसि तुरा इं नो सरा मेखुराइ।
रिसह हथमु दोस्ती वंदने मे दिहीति।।

अर्थात् हे ऋषभदेव, मैं आपसे शहर ग्राम, देश छत्र, राज्य कर्पूर, अगरु, सुवर्ण, शर्करा, स्वामीपना विभूति ईख आदि की याचना करने नहीं आया हूँ, बल्कि हे स्वामिन् ,मैं तो आपसे यहीं याचना करने आया हूँ कि मैं सभी के प्रति न्याय करूँ तथा सभी का मित्र बनूँ।

नवीन पीढ़ी को पाण्डुलिपियों का प्रशिक्षण आवश्यक

प्राचीन पाण्डुलिपियों का अध्ययन यथार्थतः तो बड़ा ही धैर्यसाध्य, कष्टसाध्य, समयसाध्य, एवं व्ययसाध्य है। इस कठिन कार्य में सर्विस की भी गारन्टी नहीं, इसीलिए नई पीढ़ी इस क्षेत्र में कार्य करना पसन्द नहीं करती। फिर भी जिनवाणी की सुरक्षा के लिए यह कार्य अत्यावश्यक है। अतः यदि उन्हें निःशुल्क प्रशिक्षण, पूर्ण–सम्मान तथा अच्छे वेतनमान में उन्हें सर्विस की गारण्टी दी जाय, तो इस क्षेत्र के कार्यकर्ताओं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की एक अच्छी टीम तैयार हो सकेगी और प्रातः स्मरणीय मुनिश्री कल्याणविजय जी, मुनिश्री पुण्यविज़य जी, जिनविजय जी, पं. नाथूराम प्रेमी, डॉ. हीरालाल जैन, एवं. एवं डॉ. ए.एन. उपाध्ये जैसे पुण्यपुरुषों का युग पुनः लौट कर आ जायेगा और उक्त ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न होने से जैन–विद्या के विकास की अवरुद्ध धारा को पुनः गतिशील बनाया जा सकेगा।

हमारा आद्य जैन वांगमय, जो कि शौरसेनी प्राकृत में है, प्राच्य भारतीय सिद्धान्त आध्यात्म, दर्शन, भाषा एवं संस्कृति की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि उसमें अहिंसा, विश्वबन्धुत्व करुणा, त्याग एवं संयम का विशेष कथन किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्यों को मन वचन एवं काय द्वारा सम्पन्न करता है तथा अन्य व्यक्तियों से अपना सम्पर्क भी इन्हीं के द्वारा स्थापित करता है। ये तीनों प्रवृत्तियाँ मानव को मानव का मित्र और ये ही उन्हें शत्रु भी बना देती हैं। इन प्रवृत्तियों के सत्प्रयोग से व्यक्ति सुख एवं शान्ति भी उपलब्ध करता है तथा समाज के अन्य व्यक्तियों के लिए भी शान्ति का मार्ग प्रस्तुत करता है। जब इन्हीं प्रवृत्तियों का दुरूपयोग होने लगता है, तो वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों ही जीवनों में अशान्ति आ जाती है। व्यक्ति की स्वार्थमूलक प्रवृत्तियाँ, विषयतृष्णा बढ़ाने वाली होती हैं। अतः जीवन में संयम और त्याग को स्थान देना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। त्याग एवं संयम की ओर मनुष्य जितना अधिक बढ़ता जाता है, उसे उतनी ही शान्ति एवं सुख–सन्तोष की प्राप्ति होती जाती है।

विश्व के वैचारिक क्षेत्र में जैनाचार्यों के चिन्तन की सबसे बड़ी मौलिक देन है – स्याद्वाद।

यह सिद्धान्त प्राणि जगत में शान्ति स्थापना के लिए एक अनिवार्य अंग के रूप में प्रतिपादित है क्योंकि वह आपसी मतभेद और पक्षपातपूर्ण नीति का उन्मूलन कर अनेकता में एकता, विचारों में सहज उदारता एवं सहिष्णुता उत्पन्न करता है। विचार और कथन को संकुचित न कर तथा उसे हठ एवं पक्षपातपूर्ण न बनाकर वह उसे उदार निष्पक्ष और विशाल बनाता है। आज एक व्यक्ति अथवा वर्ग अथवा जाति दूसरे व्यक्ति या वर्ग या जाति से इसीलिए संघर्ष रत हैं, क्योंकि वे उससे भिन्न विचारधारा वाले हैं। साम्प्रदायिकता और जातिवाद के नशे में उन्मत्त होकर वे परस्पर में एक दूसरे के जान–माल को क्षतिग्रस्त करते हैं और तनाव की स्थिति में जीवित रहते हैं इन परिस्थितियों में स्याद्वाद एवं अनेकान्त यह मार्ग–दर्शन करता है कि प्रत्येक व्यक्ति के विचार अपनी परिस्थिति, समझदारी एवं आवश्यकतानुसार ही बनते हैं। अतः सभी के विचारों में एकत्व होना सम्भव नहीं । यह जानना अत्यावश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति का ज्ञान एवं उसके साधन सीमित हैं। फलतः सभी का एक सदृश विचारों का होना सम्भव नहीं।

तात्पर्य यह कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी–अपनी शक्ति एवं योग्यता के अनुसार वस्तु को देखता और विचार करता है। अतः उसका एकांगी ज्ञान उसी की दृष्टि तक सत्य है। यही स्थिति प्रत्येक मनुष्य पर भी लागू होती है। अपनी–अपनी दृष्टि से वस्तु का विवेचन, परीक्षण और कथन करने में सभी स्वतंत्र हैं। सभी का वस्तु के एक गुण या अवस्था को जानने के कारण उनका ज्ञान अंशात्मक रहता है, पूर्ण नहीं। जिस प्रकार एक ही व्यक्ति किसी का पिता, किसी का ताऊ, किसी का भाई, किसी का बेटा, भतीजा या भानजा या पति एक ही साथ रह सकता है, फिर भी उसके पारस्परिक रिश्तों में कोई बाधा नहीं आती। उसी प्रकार संसार के प्रत्येक पदार्थ में एक ही काल में विभिन्न दृष्टियों से अनेक धर्म रहते हैं। अतः स्याद्वाद नीति द्वारा संसार के प्रत्येक प्राणी को अपना मित्र समझकर उदारता तथा प्रेम का व्यवहार करना चाहिए। मतभेद मात्र से किसी को शत्रु समझ लेना विवेकहीनता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। प्रत्येक बात पर उदार और निष्पक्ष दृष्टि से विचार करना ही सामाजिक सौमनस्य का कारण तथा विश्व में शान्ति स्थापित करने का प्रमुख साधन है। यदि कोई व्यक्ति भ्रमपूर्वक अथवा अज्ञानतावश किसी प्रकार की गलती करता है तो उसे स्नेहपूर्वक समझा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देना मानवता है। अहंवादी प्रकृति का परिमार्जन स्याद्वाद नीति द्वारा ही किया जा सकता है। व्यक्ति अपने को बड़ा और दूसरों को छोटा तभी तक समझता है, जब तक कि उसे स्वात्म स्वरूप का बोध नहीं होता। स्याद्वाद सिद्धांत को जीवन में उतारने से व्यक्ति, परिवार, समाज या राष्ट्र के ही झगड़े नहीं, बल्कि विश्व के भी समस्त झगड़े शान्त हो सकते हैं।

इस प्रकार समग्र जैन वाङ्मय मानवतावादी विचारधारा से ओतप्रोत है। उसमें परिनिष्ठित आचार–विचार, अध्यात्मवाद, दर्शन एवं श्रावकाचार का सुन्दर विवेचन किया गया है। इनकी उत्कृष्टता के कारण ही देश एवं विदेश के विद्वानों का ध्यान उसकी ओर गया तथा उन्होंने उसका गम्भीर तुलनात्मक अध्ययन एवं लेखन किया और विश्वविद्यालय स्तर पर उसे पाठ्यक्रमों में स्वीकृत भी किया है।

हमारा जैन वाङ्मय, जैन दर्शन एवं भेदाभेद विज्ञान की दृष्टि से तो मौलिक है ही साथ ही उसमें प्रसंगवश समकालीन इतिहास, संस्कृति, समाज–व्यवस्था, रहन–सहन, भोजन–पान, आचार–विचार, अर्थनीति, राजनीति, विधि–व्यवस्था, भूगोल, देश–विदेश–व्यापार, कृषि उद्योग, न्यायनीति, दण्डनीति, सैन्य–व्यवस्था युद्ध–यात्रा, कला–कौशल, लिपि–विद्या, तत्व–विज्ञान, चिकित्सा आदि की भी विस्तृत चर्चाएं मिलती हैं इन विषयों में यद्यपि गवेषक विद्वानों का ध्यान गया है किन्तु वह अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही है। इस ज्ञान राशि का विस्तृत तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

वर्तमानकालीन विषम परिस्थितियाँ

इसका अनुभव तो सभी करने लगे हैं कि वर्तमान में हम संक्रमणकालीन विषम परिस्थितियों से गुजर रहे हैं। चारों ओर हिंसा, छल, कपट, भृष्ट–राजनीति का बोलबाला है। उसने जन–जीवन को, विशेषतया नई पीढ़ी को अधिक दुष्प्रभावित किया है। ऐसे आत्मघाती वातावरण में उनसे हमें पूर्ण सजग होकर रहना होगा। अन्यथा, पिछली शताब्दियों में हमने जो प्रशस्त छवि अर्जित की उसमें आगामी २१वीं सदी में अनेक विकृतियाँ आने की सम्भावनाएँ हैं। आधुनिक युग की विकृत परिस्थितियों में से कुछ निम्न प्रकार हैं–

१. जैनियों की विशिष्ट पहिचान कराने वाली–दैनिक देव–दर्शन, शास्त्र–स्वाध्याय एवं गुरु–भक्ति के साथ–साथ जल गालन एवं रात्रि भोजन त्याग के प्रति उपेक्षा की प्रवृत्ति।
२. निरतिचार श्रावकाचार विहित जीवन–पद्धति से हटकर दैनिक जीवन–चर्या
३. मद्य, माँस एवं मधु के सेवन का सर्वत्र व्यापक प्रचार।
४. कामोत्तेजक–साहित्य एवं अश्लील फिल्मों के प्रदर्शन का बाहुल्य और नवीन पीढ़ी का उसकी ओर विशेष झुकाव।
५. मर्यादा–विहीन कृत्रिम आचार–विचार एवं भोजन के कारण तामसिक वृत्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि।
६. त्याग एवं समर्पण की संस्कृति पर भोगवादी स्वार्थी संस्कृति का आक्रमण।
७. यौन–शोषण, भ्रष्टाचार, राजनीति का अपराधींकरण, माया,छल–कपट आदि की कुत्सित वृत्तियों का हमारे नैतिक जीवन पर दुष्प्रभाव।
८. सामाजिक–सौहार्द, सौमनस्य तथा सामाजिक दायित्व–बोध के प्रति अनासक्ति और समाज के स्वर्णिम भविष्य के प्रति चिन्ता का अभाव।
९. जैन–विद्या सम्बन्धी सत्साहित्य के व्यक्तिगत–संग्रह की भावना का अभाव।
१०. अर्थ संग्रह की मनोवृत्ति, हिंसक–व्यापार तथा केवल उद्योग–धन्धों के प्रति विशेष रुझान।
११. चरित्र निर्माण सम्बन्धी बोलापयोगी साहित्य के लेखन तथा उसके प्रकाशन के प्रति उदासीनता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१२. सप्तव्यसन–सेवन के प्रति अत्यधिक रुचि।

१३. जैनगुरुकुल एवं जैन पाठशालाओं की घोर उपेक्षा

उक्त सभी तथ्य स्पष्ट हैं अतः उनके विश्लेषण की यहाँ आवश्यकता नहीं है। इस प्रसंग में मैं यह निवेदन करना चाहूँगा कि हम उक्त चरित्र–हनन सम्बन्धी सभी प्रवृत्तियों से स्वयं तो बचें ही, अपनी–अपनी सन्तानों को उनसे बचाते हुए प्रारम्भ से ही उनमें श्रावकोचित संस्कार अवश्य डालें।

भविष्य–निर्माण के लिए अतीत से शिक्षा लेना आवश्यक

उक्त सामाजिक विकृतियों के कारणों की खोज के लिए हमें अपनी अतीतकालीन परम्पराओं से शिक्षा लेनी होगी। हमारे पूर्वज अपने नैतिक आदर्शों का प्राणपण से अनुकरण किया करते थे। वे अपने बच्चों के जीवन–निर्माण के लिए सदाचार को उनके जीवन में उतारने का अथक प्रयत्न करते थे और उसके दशांगी जैन–मन्दिरों की एक अंगीभूत इकाई के रूप में स्थापित जैन पाठशाला की नियुक्ति की जाती थी, जो उन्हें सुरुचि–सम्पन्न कथा–वार्ताओं तथा सरल लौकिक उदाहरणों के माध्यम से लौकिक शिक्षण के साथ–साथ सामाजिक दायित्व बोध तथा जैनाचार का शिक्षण देते थे। अब तो तेज़ी से बदलते हुए इस युग में इन पाठशालाओं की प्रासंगिता और भी अधिक बढ़ गई है।

हमारे पूर्वज प्रतिदिन देवदर्शन करने जाते थे तथा अपने–अपने बच्चों को भी साथ में ले जाते थे। इससे बच्चों पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अच्छे संस्कार पड़ते रहते थे। हजारों वर्षों से हमारा यही सामाजिक नियम चला आ रहा है। इस पद्धति से अनेक ख्याति प्राप्त समाज सुधारक एवं दानवीर नेता तैयार हुए जिनके नेतृत्व में हमारा समाज एक विकसित, पूर्ण सुशिक्षित, व्यवसनमुक्त, आदर्श, विश्वस्त एवं समृद्ध समाजों में अग्रणी माना जाता रहा। देश के प्रमुख राजवंशों–गंग,चालुक्य, राष्ट्रकूट, कलचुरी, चौहान, तोमर तथा मुगल सम्राटों के इतिहास से विदित होता है उनके विश्वस्त मन्त्री होने के साथ–साथ उनके वित्त, कानून, शिक्षा, देश–विदेश के व्यापार, गृह–निर्माण, मुद्रा–निर्माण (टकसाल) आदि विभाग जैनों के हाथों में रहते थे। भारत में जितने बड़े–बड़े विशाल गगनचुंबी जैन–मन्दिर एवं कलापूर्ण पवित्र तीर्थभूमियाँ बनी हैं, वे हमारे जैन महारथियों की देश–सेवा, प्रजापालन, राष्ट्रभक्ति, कर्मठ–जीवन एवं कर्तव्यनिष्ठा के बदले में प्रशासकों के विविध उदार–सहयोगों द्वारा निर्मित हुए थे। एतद्विषयक विविध शिलालेख, दस्तावेज एवं प्राचीन ग्रन्थ–प्रशस्तियाँ इसके साक्षात् उदाहरण हैं।

निरतिचार पंचाणुव्रतों के अनुसार, दैनिक कार्यों को सम्पन्न करने के कारण हमारा समाज "इण्डियन पैनल कोड" में वर्णित जितनी भी अपराध शाखाएँ हैं, प्रायः सभी से सहज रूप में मुक्त सुरक्षित रहता आया है। ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं कि वर्तमान सदी के प्रारम्भिक लगभग ३–४ दशकों तक किसी मुकदमें में यदि कोई जैन–श्रावक गवाह के रूप में किसी भी अदालत में उपस्थित हो जाता था, तो न्यायाधीश बिना किसी सोच–विचार के उसकी गवाही को सत्य मानकर उसके पक्ष में अपना निर्णय दे देता था। क्योंकि तत्कालीन न्यायाधीशों की दृष्टि से जैनी कभी भी झूठ नहीं बोलते थे। इस प्रकार की सामाजिक छवि के निर्माण में जैन पाठशालाओं का योगदान विस्मृत नहीं दिया जा सकता। उनके संस्कार प्राप्तकर हमारे जैन समाज ने आत्महित की अपेक्षा परहित पर निरन्तर ध्यान दिया, कल्याणकारी सार्वजनिक सेवाओं में सक्रिय योगदान किया, प्राणिमात्र के हित की बातें सोची और इस प्रकार अपने आदर्श चरित्र से युगों–युगों से उसने सभी के विश्वासों को अर्जित किया है।

विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में जैनधर्म एवं प्राकृत-भाषा का अध्ययन एवं शोध

भाषा–वैज्ञानिकों के अनुसार प्राकृत भाषा भारत की प्राचीन जनभाषा अर्थात् आम लोगों की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बोलचाल भाषा थी। अतः भगवान महावीर ने अपने उपदेश उसी सार्वजनिक भाषा अर्थात् प्राकृत में दिए। हमारे प्राचीन आचार्यों ने भी उसी भाषा में सैकड़ों ग्रन्थ लिखे, जिनमें दर्शन, सिद्धान्त एवं अध्यात्म के साथ–साथ इतिहास, संस्कृति एवं ज्ञान–विज्ञान की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। यूरोपीय विद्वानों–हर्मन याकोवी, लास्सेन, ग्लाजनिप, आल्सडोर्फ आदि ने उसका मूल्यांकन कर उसे विश्व वांगमय की अमूल्य निधि बताया। इसमें सन्देह नहीं कि यूरोपीय प्राच्यविद्याविदों ने प्राकृत एवं जैन साहित्य पर शोध–कार्य करने में हमारा मार्गदर्शन किया। यह घटना उस समय की है जब विदेशों में जैन–समाज नहीं था।

सौभाग्य से आज विश्व के कोने–कोने में जब जैनियों का निवास हो गया है तो अब उनका यह विशेष कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उसके प्रचार–प्रसार का कार्य करें। उन्हें चाहिए कि वे अपने ग्रामों–नगरों में जैन पाठशालाएँ खोलें, इनके साथ–साथ अपने–अपने यहाँ के विश्व विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में भी प्राकृत भाषा एवं जैनधर्म के अध्ययन एवं शोध की व्यवस्था कर अपने–अपने बच्चों को भी उसका अध्ययन करावें। इस व्यवस्था से सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि विदेशों में सुरक्षित जैन पाण्डुलिपियों एवं पुरातात्विक सम्पत्ति का सूचीकरण एवं उनका सही मूल्यांकन भी हो सकेगा।

उच्चस्तरीय स्वतन्त्र जैन प्रयोगशाला की स्थापना

प्राचीन जैन साहित्य की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें हमारे आचार्यों ने बिना किसी भोतिक प्रयोगशाला के ही अपनी आध्यात्मिक दिव्य शक्ति के बल पर विश्व संरचना के कारण षट्द्रव्यों की जो चर्चा की है, वह वैज्ञानिक दृष्टि से अद्भुत है। हमारे कुछ जैन–वैज्ञानिकों ने पुद्गल–परमाणु के विशेष अध्ययन–क्रम में वर्तमान Atomic Theory,Theory of Relativity, Theory of Soul & Non-soul तथा तैजस एवं कार्माण शरीर की अवस्थिति, धर्म,अधर्म, आकाश एवं काल–द्रव्यों का वर्तमान भौतिक एवं रसायनशास्त्र के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया है तथा उनसे उत्साहवर्धक नतीजे भी निकाले हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक तथ्यों का अंग्रेजी तथा विश्व की प्रमुख भाषाओं में अनुवाद कराकर उसे संसार के उच्चश्रेणी के समस्त वैज्ञानिकों एवं उनकी प्रयोगशालाओं में उनके तुलनात्मक अध ययनार्थ भेजा जाय और उनके प्रयोगों तथा निष्कर्षों को प्रकाशित करने का निवेदन किया जाय। इसके अतिरिक्त भी एक ऐसी उच्चस्तरीय स्वतन्त्र जैन प्रयोगशाला की स्थापना की भी आवश्यकता है, जिसमें जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित षट्द्रव्यव्यवस्था की आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों के साथ तुलनात्मक एवं प्रायोगिक अध्ययन तथा शोध कार्य कराया जा सके। यदि ऐसी व्यवस्थाएँ होती हैं, तो जैन समाज का विश्व–विज्ञान के क्षेत्र में २१वीं सदी के लिए एक बड़ी भारी देन मानी जायगी।

जैन साहित्य का मौलिक लेखन एवं अनुवाद

श्रमण संस्कृति एवं साहित्य के प्रचार के लिये यह आवश्यक है कि भारतीय संविधान में स्वीकृत सभी भारतीय एवं विश्व की प्रमुख भाषाओं में जैनधर्म के मूलभूत सिद्धांतों पर आधारित ग्रन्थों की रचना कर उन्हें लागत मूल्य पर विक्रय किया जाय।

इस साहित्य लेखन को आठ भागों में विभक्त किया जा सकता है–

१. त्रेसठशलाका महापुरुषों, ऐतिहासिक महापुरुषों, आचार्यों, समाज–सेवियों एवं जैन–विद्या के महामहिम लेखकों एवं विद्वानों से सम्बन्धित बालोपयोगी सचित्र कथाओं तथा सामान्य परिचयात्मक ग्रन्थों का सरल भाषा में आकर्षक नयनाभिराम प्रकाशन।

२. विद्वानों एवं शोधकर्ताओं की दृष्टि से जैनधर्म, दर्शन एवं साहित्यिक ग्रन्थों का उच्चस्तरीय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन।

३. उपलब्ध अप्रकाशित कलापूर्ण सचित्र पाण्डुलिपियों का सम्पादन, अनुवाद एवं समीक्षात्मक अध्ययन के साथ प्रकाशन।

४. प्राचीन जैन साहित्य के आधार पर भारतीय इतिहास, संस्कृति, भूगोल, वैदेशिक व्यापार आदि विषयों का उच्चस्तरीय तुलनात्मक एवं विस्तृत समीक्षात्मक अध्ययन।

५. सभी जैन सम्प्रदायों के साहित्य का परिचात्मक वृहद् इतिहास का लेखन एवं प्रकाशन।

६. विश्व की प्रमुख भाषाओं में जैनधर्म के प्रमुख सिद्धांतों पर परिचयात्मक पुस्तकें एवं उनका सर्वोत्तम नयनाभिराम प्रकाशन।

७. भारतीय वांगमय के विकास में विविधकालीन जैन लेखकों का योगदान विषय पर उच्चस्तरीय तुलनात्मक ग्रन्थ का प्रकाशन।

८. यूनानी विचारधारा पर जैन दर्शन का प्रभाव।

विद्वानों का सम्मान पुरस्कार

साधक विद्वान् तो एकान्तवासी, स्वाभिमानी एवं समर्पित भाव से जिनवाणी एवं समाज की सेवा करने वाला होता है। वह अपने दायित्व को भली भाँति समझकर उसमें दत्तचित्त रहता है। अर्थसंकट तथा साधनाभावों का जीवन जीकर भी वह अपनी कठिनाई व्यक्त नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति में समाज का दायित्व है कि ऐसे विद्वानों की ऊर्जाशक्ति को द्विगुणित करने हेतु ससम्मान आर्थिक अनुदान के साथ–साथ बिना किसी भेदभाव के गुणवत्ता के आधार पर राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के उच्च सम्मान–पुरस्कार की व्यवस्था की जाय। इसके लिए कम से कम २५ लाख रुपयों का एक स्थायी फण्ड तैयार किया जाय, जिसके ब्याज से उक्त उद्देश्य की पूर्ति हो सके। इन सम्मानों से सभी पुरस्कृत विद्वानों के साथ–साथ नवीन पीढ़ी के विद्वान् प्रोत्साहित होकर ठोस कार्य कर सकेंगे।

अत्यावश्यक साहित्यिक कार्य

यह तथ्य है कि अभी तक जैन साहित्य पर जितना भी कार्य हुआ है, वह उसकी प्रगति की भूमिका मात्र मानी जा सकती है जबकि अभी अनेकविध कार्यों को करने की महती आवश्यकता है। संक्षेप में उसके कुछ बिन्दु निम्न प्रकार हो सकते हैं –

(१) जैन साहित्य का अभी तक विषयक्रमानुसार इतिहास नहीं लिखा गया है, अतः उसके क्रमबद्ध प्रवृत्तिमूलक समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक इतिहास का लिखा जाना आवश्यक है।

(२) विविध विषयक वर्गीकृत पारिभाषिक जैन शब्द कोष का प्रकाशन, क्योंकि उसके बिना अध्येताओं तथा शोधार्थियों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है।

(३) जैन न्यायशास्त्र के महान ग्रन्थ अष्टसहस्री, प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुद चन्द्र प्रभृति ग्रन्थों का शीघ्र ही प्रामाणिक अनुवाद कर उसका तुलनात्मक अध्ययन के साथ प्रकाशन।

(४) प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत एवं हिन्दी के उपयोगी एवं महत्वपूर्ण काव्य ग्रन्थों का विस्तृत परिचयात्मक विवरण का प्रकाशन जिससे कि सभी जिज्ञासु जैन–साहित्य का सरलतापूर्वक अध्ययन कर सकें तथा शोधार्थी अपने शोध के विषय का भी निर्वाचन कर सकें।

(५) अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, भूगोल, इतिहास, मुद्रा–शास्त्र, जीवविज्ञान, चिकित्सा शास्त्र, भौतिक शास्त्र, गणित एवं रसायन शास्त्र सम्बन्धी सन्दर्भों विवरणों का प्रकाशन जिनसे कि शोधार्थियों को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषयवस्तु के ज्ञान के साथ–साथ उक्त विषयक जैन–ग्रन्थों से शोध कार्य एवं तुलनात्मक अध्ययन में सहायता मिल सके।

(६) समाज के नव–निर्माण तथा नैतिक विकास हेतु आधुनिक भारतीय भाषाओं में जैन कथाओं के आधार पर जैन अहिंसा, सत्य, संयम एवं त्याग के लोकोपकारी सिद्धान्तों का निरूपण करने की तत्काल आवश्यकता है। अतः उनको लक्ष्य कर उपन्यास, कथा–कहानी, काव्य आदि की रचना आधुनिक शैली में किया जाना आवश्यक है।

(७) शलाका एवं शलाकेतर महापुरुषों –श्रीराम, श्रीकृष्ण, हनुमान आदि तथा पौराणिक एवं ऐतिहासिक आदर्श महिलाओं के जीवन चरित सम्बन्धी साहित्य का जैन दृष्टि से हिन्दी, अंग्रेजी तथा अन्य लोकप्रिय विविध भाषाओं में अनुवाद कराकर उनका नयनाभिराम प्रकाशन।

(८) देश के कोने–कोने में जहाँ भी अप्रकाशित जैन पाण्डुलिपियाँ संग्रहीत हों उनकी विवरणात्मक सूचियाँ तैयार कर उन्हें प्रचारित करना। इन विवरणों में ग्रन्थ–प्रशस्तियों का भी प्रकाशन रहे।

(९) विश्वविद्यालयों में हुए जैन शोध कार्यों के वार्षिक विवरणों का प्रकाशन, साथ ही आगामी शोध कार्य करने योग्य विविध विषयक, शोध शीर्षकों का प्रकाशन।

(१०) जैन विज्ञान, ज्योतिष एवं गणित विषयक जो भी जैन शोध निबन्ध यत्र–तत्र प्रकाशित हुए हों, उन सबका विशेषज्ञों से संशोधन कराकर उनका पुस्तकाकार रूप में प्रकाशन।

अन्य आवश्यक कार्य

(१) सामाजिक उत्थान या सामाजिक सस्थाओं की सुरक्षा हेतु आपातकालीन परिस्थितियों में असाधारण निर्भीक प्रयत्न करने वाले महिला, पुरुष, युवक एवं युवतियों को प्रोत्सहित करने हेतु स्थानीय समाज के सहयोग से उनका सार्वजनिक सम्मान एवं पुरस्कारों से सम्मानित करने के सत्प्रयत्न।

(२) महिलाओं में लेखन, स्वाध्याय तथा संगठन की प्रवृति जाग्रत करने के लिए विद्वत्परिषद् के अंतर्गत ही एक महिला संगठन की स्थापना।

(३) विद्वत्परिषद् के अन्तर्गत ही एक युवक–संघ की स्थापना, जो सामाजिक उत्थान, सामाजिक विकास तथा समय–समय पर होने वाले सामाजिक या धार्मिक कार्यों में सहयोग कर सकें।

(४) स्थानीय सामाजिक सहयोग से सांध्यकालीन पाठशालाओं की स्थापना के लिए प्रयत्न।

(५) समय–समय पर नैतिक, धार्मिक या अध्यात्मिक–ध्यान शिविरों के स्थानीय सामाजिक सहयोग से आयोजन।

(६) समय–समय पर स्थानीय समाजों के सहयोग से शास्त्र–प्रवचन, आगम–साहित्य सम्बन्धी भाषणमाला आदि के आयोजनों के प्रयत्न।

(७) स्थानीय सामाजिक सहयोग से समाज के समाजसेवी अनुभवी वृद्धजनों एवं विद्वज्जनों के सम्मान समारोह के प्रयत्न।

(८) ऐतिहासिक मूल्य के जैन शिलालेखों का उनके प्रामाणिक हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद तथा उनके मूल्यांकन के साथ उनका प्रकाशन। ध्यातव्य है कि ज्ञात एवं उपलब्ध प्राचीनतम जैन शिलालेखों में उदयगिरि–खण्डगिरि में प्राप्त हाथीगुम्फा चेदिवंशी जैन सम्राट् खारवेल से सम्बन्धित हैं, जिसकी १७ पंक्तियों में उसके अद्भुत पराक्रम की चर्चा है तथा विश्व के समस्त शिलालेखों में जो अग्रगण्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माना गया है।

हमारा आगम–साहित्य

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, हमारा प्राचीनतम आगम साहित्य शौरसेनी प्राकृत भाषा में निबद्ध है। प्राकृत के अनेक प्रकारों में से शौरसेनी प्राकृत प्राचीनतम मानी गई है तथा उसी से अन्य प्राकृतों का भी उद्‌गम माना गया है। उसका अधिकांश भाग लुप्त या विस्मृत होने के बावजूद भी जो उपलब्ध है, उसका भी अल्पमात्रा में ही प्रकाशन हो सका है। उसका सम्पूर्ण परिचय स्थानाभाव के कारण यहाँ प्रस्तुत करना तो सम्भव नहीं फिर भी उसके मूल्यांकन स्वरूप कुछ संक्षिप्त तथ्य यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

शौरसेनी प्राकृत का जैन–साहित्य को अवदान

जैन आगम–साहित्य की प्राचीनता, लोकोत्तरता, असाधारणता एवं ऐतिहासिकता को भाषिक रूप देने में शौरसेनी–प्राकृत के अनन्त अवदान हैं। कण्ठ–परम्परा से निःसृत श्रुतांगों के अवशिष्टांश का षट्खण्डागम एवं कसायपाहुड सुत्तों के रूप में उक्त भाषा में ग्रथन किया गया, जो परवर्ती आचार्य–लेखकों के लिए भी उपजीव्य बना रहा। दिगम्बर जैन परम्परा का समस्त आगम एवं पश्चाद्वर्ती अनुआगम साहित्य भी उसी (भाषा) में व्यवस्थित रूप में लिखित तथा उपलब्ध ग्रन्थों में से अधिकांश ग्रन्थ प्रकाशित हैं।

शौरसेनी साहित्य में इतिहास–निर्माण की प्रचुर सामग्री

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि शौरसेनी प्राकृत साहित्य में कर्मसिद्धान्त के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विस्तृत विश्लेषण के साथ–साथ दर्शन, आचार एवं अध्यात्म के सुचिन्तित एवं सुविस्तृत वर्णन उपलब्ध हैं। उसके अतिरिक्त भी उसमें समकालीन प्राच्य ऐतिहासिक, भौगोलिक एवं सांस्कृतिक सामग्री के सन्दर्भ भी प्रचुरता के साथ मिलते हैं।

तिलोयपण्णत्ति नामक ग्रन्थ का ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्व है। उसमें त्रेषठशलाका महापुरुषों के जीवनकाल सम्बन्धी तिथियों के उल्लेख, अतीतकालीन विशिष्ट पुरुषों के जीवन–चरित के विशेष तथ्यों तथा उनके पारस्परिक काल के अन्तर की जानकारी मिलती है।

शलाकेतर विशिष्ट पुरुषों, में श्रुतांगों तथा पूर्व–साहित्य के धारी आचार्यों के क्रमबद्ध नामोल्लेख मिलते हैं, जिनमें यह बतलाया गया है कि किस–किस आचार्य को कण्ठपरम्परागत कितना–कितना श्रुतज्ञान स्मृत था और उसमें क्रमशः ह्रास किस प्रकार हुआ ? यह आचार्य–परम्परा श्रुतकेवली विष्णुनन्दि (ई.पू.४६५) से प्रारम्भ होकर अन्तिम आचार्य लोहार्य तक यथाक्रम चलती रही, जिसका काल तीर्थंकर महावीर के परिनिर्वाण वर्ष (ई.पू. ५२७) के बाद से प्रारम्भ होकर ई. सन् ३८ तक माना गया है। जैन–परम्परा विशेषतः दिगम्बर जैन परम्परा के आगम–साहित्य के इतिहास–लेखन की दृष्टि से ये सन्दर्भ अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं।

जैन परम्परानुसार जब मगध में द्वादशवर्षीय दुष्काल (ई.पू. ३६३ से लगभग ई.पू. ३५१ तक) पड़ा तब अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु (प्रथम, ई.पू. ३६० से ई.पू. ३६१) अपने १२००० साधुसंघ के साथ दक्षिण भारत की ओर चले गए। पाटलिपुत्र से चलते समय मगध सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम) ने भी उनसे दिगम्बरी दीक्षा ले ली और वे भी उनके साथ दक्षिण–भारत चले गए। तिलोयपण्णत्तिकार की दृष्टि से जैन दीक्षा लेने वाला वह अन्तिम मुकुटधारी सम्राट था। यथा –

मउडधरेसुं चरिमो जिणदिक्खं धरिदं चंदगुत्तो य।
तत्तो मउडधरा दुप्पव्वज्जं णेव गेण्हंति।। - तिलोय ४/१४८१.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारतीय इतिहास में चन्द्रगुप्त मौर्य के ऐतिहासिक महत्व के विषय में विशेष चर्चा इस निबन्ध का विषय नहीं। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त है कि सुप्रसिद्ध इतिहासकार रैप्सन के अनुसार उक्त "चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम) भारतीय इतिहास–लेखन के लिए मूलाधार अथवा भारतीय इतिहास के लेखन के लिए उसके प्रथम छोर का वह सुदृढ़ लंगर है" (The sheet anchor of Indian chronology) देश–विदेश के प्राच्य विद्याविदों के अनुसार यदि उक्त चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय में विविध जैन–स्रोतों से जानकारी न मिलती, तो भारतीय इतिहास का वह (मौर्यकालीन) अध्याय सम्भवतः अन्धकाराच्छन्न अथवा सन्दिग्ध ही बना रहता।

यही वह सम्राट था, जिसने यूनान के महत्वाकांक्षी एवं दम्भी सम्राट सिकन्दर तथा उसके प्रचण्ड सेनापति सैल्यूकस को बुरी तरह पराजित किया तथा उसे भारतीय सीमा से आतंकित कर खदेड़ दिया था। डॉ. के.पी. जायसवाल आदि ने भी उक्त तथ्य के समर्थन में अपने निम्नलिखित शोधपूर्ण विचार व्यक्त किए हैं।

The jain books (5th Cen.A.D.) and Later Jain inscriptions claim Chandragupta as a Jain Imperial ascetic. My studies have compelled me to respect the historical data of Jain Writings and see no reason why we should not accept the Jain claim that Chandragupta at the end of his reign accepted Jainism and abdiacated and died as Jain ascetic. I am not the first to accept the view. Mr.Rice who has studied the Jain Inscriptions of Shravanabelgola throughly gave verdict in favour of it and V.Smith has also leaned towards it ultimately.

ईसा–पूर्वकालीन सदियों की जैन मूर्तिकला, जैनधर्म के प्रभाव–विस्तार, जैन मुनि–सम्मेलन एवं साहित्यिक संगीति आदि सम्बन्धी ऐतिहासिक संसूचनाओं की सुरक्षा की दृष्टि से ईसा–पूर्व दूसरी सदी का उदयगिरि–खण्डगिरि का प्राकृत–शिलालेख न केवल जैन इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, अपितु नन्दकालीन भारतीय इतिहास, मौर्य–पूर्व की भारतीय प्राच्य मूर्ति–शिल्पकला, प्राचीन कलिंग एवं मगध के राजनैतिक सम्बन्ध, दक्षिण भारतीय राज्यों से कलिंग के सम्बन्ध, कलिंग की बहुमुखी प्रगति तथा लोककल्याणकारी राज्य के निर्माण का उसमें सुन्दर वर्णन मिलता है। यही एक शिलालेख है, जिसकी दशवीं पंक्ति में भारत का नाम "भरधवस" मिलने के कारण उसे प्राचीनतम शिलालेखीय प्रमाण मानकर भारत का संवैधानिक नाम "भारतवर्ष" घोषित किया गया।

उक्त शिलालेख का मूल्यांकन करते हुए सुप्रसिद्ध पुराविद् डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल ने उसे जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध करने वाला अत्यन्त प्रामाणिक दस्तावेज बतलाया है। यही नहीं, उनके कथनानुसार – "उससे पुराणों की प्राचीन राजवंशावलियों का समर्थन होता है और ई.पू. ४५० तक के प्राच्य भारतीय इतिहास के क्रम–निर्धारण में भी वह विशेष सहायक है। इस शिलालेख से यह भी स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर के परिनिर्वाण के लगभग १०० वर्ष बाद ही जैन धर्म कलिंग का राष्ट्रधर्म बन गया था।

९वीं,१०वीं सदी के कक्कुक शिलालेख में जो कि जोधपुर के पास घट्याला ग्राम में एक स्तम्भ पर टंकित है, उसमें प्रतिहार वंश की उत्पत्ति एवं उसके राजवंश की नामावली प्रस्तुत की गई है। इस शिलालेख में कक्कुक द्वारा एक जैनमन्दिर के निर्माण तथा सभी प्रजाजनों की सुविधा के लिए चहारदीवार से घिरे हुए सुरक्षित एक हाट–बाजार (Market) के बनाए जाने की चर्चा की गई है।

वर्तमानकालीन मार्केटों की परम्परा भारत में सम्भवतः राजा कक्कुक के समय से प्रारम्भ हुई। इसकी आवश्यकता इसलिए पड़ी होगी क्योंकि वह समय विदेशी आक्रमणों का था, उसके कारण राजनैतिक अस्थिरता, सामाजिक अव्यवस्था, आर्थिक, दुरावस्था, सर्वत्र असुरक्षा एवं भय के व्याप्त होने के कारण नागरिकों को उससे उबरने तथा दैनिक आवश्यकताओं की सामग्री एवं खाद्यान्नादि की पूर्ति हेतु एक–दो द्वार वाले सुरक्षित चतुर्दिक घेरेबन्दी में सुविधा सम्पन्न हाट–बाजार बनाने की परम्परा का आविष्कार किया गया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कक्कुक–शिलालेख के अनुसार उस (राजा कक्कुक) ने रोहिंसकूप 'घट्याला, जोधपुर, राजस्थान) में महाजनों, ब्राह्मणों, सेना तथा व्यापारियों के लिए एक विशाल हाट–बाजार बनवाकर अपनी कीर्ति का विस्तार किया था। यथा –

सिरिकक्कुएण हट्टं महाजणं विप्प पयइ वणि बहुलं।
रोहिंसकूवगामे णिवेसियं कित्तंविड्डीए।। २० ।।

सर्वोदय सिद्धान्त का युगों–युगों से प्रचारक साहित्य

शौरसेनी साहित्य के आचार्यों ने केवल आत्महित का सिद्धान्त ही प्रतिपादित नहीं किया, अपितु स्वेतर जगत के लिये कल्याणकारी अणुव्रत पालन के माध्यम से सर्वोदय सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है, जिससे प्रभावित होकर महात्मा गांधी एवं विनोबा भावे ने उसे भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष एवं अपनी अहिंसा क्रान्ति का आधार बनाया। उनकी दृष्टि में उसके स्थूल एवं सूक्ष्म अहिंसा के सिद्धान्त में विश्व कल्याण का सिद्धान्त समाहित है।

भारतीय संस्कृति वस्तुतः त्याग की संस्कृति है, भोग की नहीं। कुन्दकुन्द आदि ने उसे पूर्णरूपेण समझा एवं सराहा था। वस्तुतः वे सिद्धान्तों के कथन मात्र में नहीं, बल्कि उन्हें जीवन में उतारने की आवश्यकता पर बल देते थे। उनके जो भी आदर्श थे, उनका सर्वप्रथम प्रयोग उन्होंने अपने जीवन पर किया और जब वे उसमें खरे उतरते थे, तभी उन्हें सार्वजनिक रूप देते थे। कुन्दकुन्द कृत "पाहुड साहित्य" एवं अन्य श्रावकाचारों का यदि गंभीर विश्लेषण किया जाय, तो उससे स्पष्ट विदित हो जायेगा कि उनके अहिंसक एवं अपरिग्रह संबंधी सिद्धान्त केवल मानव समाज तक ही सीमित न थे, अपितु समस्त प्राणी जगत पर भी लागू होते थे। "जिओ और जीने दो" के सिद्धान्त का उन्होंने आजीवन प्रचार किया।

शौरसेनी प्राकृत साहित्य में वर्णित सर्वोदयी संस्कृति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वह वस्तुतः हृदय परिवर्तन एवं आत्मगुणों के विकास की संस्कृति है उसका मूल आधार मैत्री, प्रमोद, कारुण्य एवं मध्यस्थ भावना है। रुपयों–पैसों, सोना–चांदी, वैभव, पद–प्रभाव आदि के बल पर अथवा भौतिक शक्ति के बल पर आत्मगुणों का विकास किया जा सकता है ? क्या शारीरिक सौन्दर्य से तथा उच्चकुल एवं जाति में जन्म ले लेने मात्र से ही सद्गुणों का आविर्भाव हो जाता है ? सरलता, निश्छलता, परदुःखकारता, श्रद्धा एवं सम्मान की भावना क्या दुकानों पर बिकती है जो खरीदी जा सके ? नहीं। सद्गुण तो यथार्थतः श्रेष्ठ गुणीजनों के संसर्ग, वीतरागवाणी के अध्ययन, आत्म संयमन तथा सदाचरण से ही आ सकते हैं। इसीलिये आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है –

णवि देहो वंदिज्जदि णविय कुलो णविय जादि संजुत्तो।
को वंददि गुणहीणो णहु समणो णेव सावगो होदि।। - दंसण २७

अर्थात् न तो शरीर की वन्दना की जाती है और न कुल की । उच्च जाति की भी वन्दना नहीं की जाती। गुणहीन की वन्दना तो करेगा ही कौन ? क्योंकि न तो गुणों के बिना कोई मुनि हो सकता है और न ही श्रावक। पुनः कुन्दकुन्द कहते हैं –

सव्वे विय परिहीणा रूवविरूवा वि वदिदसुवया वि।
सीलं जेसु सुसीलं सुजीविदं माणुसं तेसिं।। - सील. १८

अर्थात् भले ही कोई हीन जाति का हो, सौन्दर्य–विहीन हो, विकलांग हो, झुर्रियों से युक्त वृद्धावस्था को भी प्राप्त क्यों न हो, इन सभी विरूपों के होने पर भी यदि वह उत्तम शील का धारक हो तथा यदि उसके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानवीय गुण जीवित हों तो उस विरूप का भी मनुष्य–जन्म–श्रेष्ठ एवं वन्दनीय है।

समाज एवं राष्ट्र–सेवा हेतु व्यक्तिगत आचरण की शुद्धि अनिवार्य

आत्मगुण के विकास का अर्थ कुन्दकुन्द ने यही माना है कि जिससे व्यक्ति अपने परिवार, समाज एवं देश का कल्याण कर सके। इन सबके लिए व्यक्ति का सच्चरित्र एवं शीलवान् होना अत्यावश्यक है। यह गुणसार्वकालिक एवं सार्वभौमिक सत्य है। सम्राट अशोक तब तक प्रियदर्शी न बन सका और तब तक भारत–माता के गले का हार न बन सका, जब तक उसने कलिंग–युद्ध के अपराध के प्रायश्चित में अपनी तलवार तोड़कर नहीं फेंक दी और अहिंसक जीवन व्यतीत नहीं करने लगा। मोहनदास करमचन्द गाँधी तब तक महात्मा नहीं बन सके जब तक उन्होंने महर्षि जनक, तीर्थंकर महावीर एवं गौतमबुद्ध की भूमि का स्पर्श कर अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह को अपने जीवन में नहीं उतार लिया।

जीवन के सन्तुलन एवं समरसता के लिए ज्ञान एवं साधना अथवा तप के समन्वय पर कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ने विशेष बल दिया है। क्योंकि एक के बिना दूसरा अन्धा व लंगड़ा हैं चंचल इन्द्रियों एवं मन के संयमन के लिए भी उक्त गुणों की महती आवश्यकता है। कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कहा है –

तवरहिदं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो।
तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहदि णिव्वाणं।। - मोक्ख. ५६

अर्थात् तपरहित ज्ञान एवं ज्ञानरहित तप ये दोनों ही निरर्थक हैं (अर्थात् एक के बिना दूसरा अन्धा एवं लँगड़ा है) । अतः ज्ञान एवं तप से युक्त साधक ही अपने यथार्थ लक्ष्य को प्राप्त करता है।

पाँच अणुव्रतातिचार एवं Indian Penal Code

पूर्व–परम्परा प्राप्त कर आचार्य कुन्दकुन्द आदि ने संसार की समस्त समाज–विरोधी दुष्प्रवृत्तियों एवं अनाचारों को पाँच भागों में विभक्त किया – हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील एवं परिग्रह। इनका मन, वचन एवं काय से यथाशक्ति त्याग करना ही श्रावकाचार है तथा सर्वदेश त्याग करना ही मुनि–आचार। जैनधर्म की यह आचार–व्यवस्था वस्तुतः सर्वोदयवाद का अपरनाम माना जा सकता है, क्योंकि उन दोनों में न केवल मानव मात्र के प्रति, अपितु समस्त प्राणि–जगत् के प्रति सद्भावना, सुरक्षा एवं उसके पूर्ण विकास की प्रक्रिया में उसके सक्रिय सहयोग की पूर्ण कामना निहित रहती है। अतः यदि जैनाचार का मन, वचन एवं काय से निर्दोष पालन होने लगे, तो सारा संसार स्वतः ही सुधर जायगा। कोर्ट–कचहरियों एवं पुलिस थानों की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। उनमें ताले पड़ जायेंगे। पुलिस, सेना, तोप, बम–विस्फोट एवं तलवारों की भी आवश्यकता नहीं रहेगी।

Indian Penal Code में वर्णित अपराध–कर्म तथा पूर्वोक्त पाँच पापों का यदि विधिवत् अध्ययन किया जाये, तो उनमें आश्चर्यजनक समानता दृष्टिगोचर होती है। उक्त कोड में भी उक्त पाँच–पापों का विभिन्न धाराओं में वर्गीकरण कर उनके लिए विविध दण्डों की व्यवस्था का वर्णन किया गया है। अन्तर केवल यही है कि एक में प्रायश्चित, साधना, आत्म–संयम तथा आत्मशुद्धि के द्वारा अपराध–कर्मों से मुक्ति का विधान है, तो दूसरे में कारागार की सजा, अर्थदण्ड एवं पुलिस की मारपीट आदि द्वारा अपराध–कर्मों की प्रवृत्ति को छुड़ाने के प्रयत्न की व्यवस्था है।

आदर्शवादी दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो स्वस्थ समाज एवं कल्याणकारी राष्ट्र–निर्माण की दृष्टि से शौरसेनी साहित्य में निदर्शित जैनाचार अथवा सर्वोदय का सिद्धान्त आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना कि आज से दो हजार वर्ष पूर्व। विश्व की विषम समस्याओं का समाधान केवल व्यक्तिगत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचरण–शुद्धि से ही सम्भव है।

राष्ट्रीय भावात्मक एकता एवं अखण्डता का प्रतीक साहित्य

आचार्य कुन्दकुन्द एवं अन्य आचार्यों ने एक महत्वपूर्ण कार्य किया राष्ट्रीय भावात्मक एकता एवं अखण्डता (Immotional Integration and National Unity) का। अधिकांश प्राच्य आचार्य दक्षिणात्य थे। फिर भी उन्होंने कुछ को छोड़कर वहाँ की किसी स्थानीय भाषा में कुछ लिखा या नहीं, इसकी तो निश्चित सूचना नहीं है, तमिल के पंचमवेद के रूप में प्रसिद्ध की थिरुक्कुरल नामक काव्य ग्रन्थ का लेखन आचार्य कुन्दकुन्द ने किया था, ऐसी कुछ विद्वानों की मान्यता है किन्तु यह मान्यता अभी तक सर्वसम्मत नहीं हो पाई है। फिर भी, यदि यह मान भी लें कि वह उन्हीं की रचना है, तो उन्होंने बाद में प्रान्तीय संकीर्णता से ऊपर उठने का निश्चय किया और शूरसेन देश (अथवा मथुरा) के नाम पर प्रसिद्ध शौरसेनी–प्राकृत–भाषा का गहन अध्ययन कर उसी में उन्होंने यावज्जीवन साहित्य–रचना की। जीवन की यथार्थता का चित्रण, भाषा की सरलता, सहज वर्णन–शैली एवं मार्मिक अनुभूतियों से ओत–प्रोत रहने के कारण उनका वह साहित्य इतना लोकप्रिय हुआ कि प्रान्तीय, भाषाई एवं भौगोलिक सीमाएँ स्वतः ही समाप्त हो गईं। भारत के कोने–कोने में उसका प्रचार हुआ। आज भी पूर्व से पश्चिम एवं उत्तर से दक्षिण कहीं भी जाएँ, आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य के कारण वे सभी के अपने हैं। उनके लिए न दिशाभेद हैं, न भाषाभेद और न प्रान्तभेद, न देश–भेद, न वर्गभेद और न ही वर्णभेद। वर्तमान में तो विदेशों में भी उसका गहन अध्ययन किया जा रहा है।

इस प्रकार वर्गभेद, वर्णभेद या प्रान्तभेद की राष्ट्रघाती विषम संकीर्णताओं से ऊपर उठकर शौरसेनी के महामहिम आचार्यों ने दक्षिणात्य होने पर भी बिना किसी भेदभाव के समकालीन लोकप्रिय एक जनभाषा–प्रयोग से समस्त राष्ट्र को एकबद्ध कर चमत्कृत कर दिया। आधुनिक प्रसंग में एक भाषा–प्रयोग के माध्यम से राष्ट्र को जोड़े रखने का इससे बड़ा आदर्श उदाहरण और कहाँ मिलेगा ?

शौरसेनी साहित्य में वर्णित समकालीन आर्थिक जीवन

शौरसेनी वांगमय में वर्णित, दर्शन एवं सिद्धान्त पर तो पर्याप्त अध्ययन एवं शोध कार्य हो चुके हैं किन्तु उसका सांस्कृतिक एवं आर्थिक पक्ष आदि अभी तक अचर्चित ही है। इस कारण ईस्वी सन् की प्रारम्भिक सदी की भारतीय संस्कृति को उजागर करने में उक्त वांगमय का क्या योगदान रहा, इसकी जानकारी आधुनिक शोध–जगत को नहीं मिल सकी। इस दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर मूलाराधना के शिवार्यकालीन लौह–उद्योग (मूलारा. गाथा १५६६–६६) युद्ध–सामग्री निर्माण–उद्योग (वही, १५५४–१५७८) रत्नछेदन–कर्षण उद्योग (वही, गाथा १८६६), नौका–निर्माण (वही, गाथा १६७३), मूर्ति–निर्माण (वही, १५६६,२००८), चर्मोद्योग (वही, ३३७, ५४८), विनिमय के साधन (गाथा २३०,५७३) माप–तौल के साधन, श्रम का क्रय–विक्रय (वही, गाथा १४७५),ऋण एवं ऋणी की स्थिति (वही, गाथा १२७६–१४२५), व्यापारिक कोठियाँ (वही, गाथा २३१), पथ–पद्धति (वही, गाथा १६७३), पेशा एवं पेशेवर जातियाँ (वही गाथा ६३३–३४) आदि की चर्चा से समकालीन आर्थिक जीवन की पर्याप्त जानकारी मिलती है।

शौरसेनी प्राकृत साहित्य एवं आधुनिक विज्ञान

परमाणुवाद एवं स्निग्ध (Positive) और रूक्ष (Negative) का बन्धः–

आधुनिक–विज्ञान के सन्दर्भ में यदि शौरसेनी–साहित्य का अध्ययन किया जाय तो अनेक रोचक तथ्य उभरकर सम्मुख आते हैं और विदित होता है कि शौरसेनी साहित्य के लेखकों ने आत्मदृष्टि को जागृत कर प्रयोगशालाओं के अभाव में भी षट्द्रव्य–व्यवस्था अथवा लोक–व्यवस्था के प्रसंग में घनोदधिवातवलय,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

घनवातवलय तथा तनुवातवलय, विविध वनस्पतियाँ, प्राणधारियों की विविध कोटियाँ, तैजस एवं कार्माण शरीरी की वैज्ञानिकता, पुद्गल–द्रव्य, एवं आकाश–द्रव्य की अनन्त शक्तियाँ, पुद्गल (Matter) की नखरेवाजियाँ, कर्म–वर्गणाएँ, स्कन्ध एवं सूक्ष्म जन्य षट्कोणी–पुद्गल तथा आधुनिक भौतिक–विज्ञान का षट्कोणी क्वार्क–मॉडल, आकाशद्रव्य तथा आधुनिक–विज्ञान आदि–आदि के तुलनात्मक वैज्ञानिक अध्ययन के लिए आश्चर्यजनक सामग्री प्रस्तुत की है।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने परमाणु के विषय में कुछ नवीन प्रयोग प्रारम्भ किए हैं और उसके निष्कर्ष को "क्वार्क मॉडल" की संज्ञा प्रदान कर रहे हैं। वायुमण्डल की ऊँचाइयों एवं समुद्रतल की गहराइयों में इसकी गहन खोज की जा रही है। इस नवीन खोज की आवश्यकता इसलिए पड़ गई है क्योंकि कुछ वैज्ञानिक Proton, Neutron तथा Electron को अणु के मूलतत्व नहीं मानते। उनके विचार से ये तीनों किसी ऐसे पदार्थ के संयोग से बनते हैं, जिसे उन्होंने "क्वार्क" नाम दिया है और उसकी कल्पना उन्होंने षट्कोणी वस्तु के रूप में की है। अणु का वह षट्कोण उन्हें कब तक प्राप्त हो सकेगा, यह कहना तो कठिन है किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने उस षट्कोणी अणु–स्कन्धरूप पुद्गल की चर्चा नियमसार (गाथा २१–२३) में इस प्रकार की है–

वादर सुहुमगदाणं खंधाणं पोग्गलो त्ति ववहारो।
ते होंति छप्पयारा तेल्लोकं जेहिं णिप्पण्णं।।

अर्थात् व्यवहार में वादर एवं सूक्ष्म रूप से परिणत स्कन्ध ही पुद्गल है, जो छह भेदवाला है और जिससे तीनों लोक निष्पन्न हैं। वे छह भेद इस प्रकार हैं –

१. स्थूल–स्थूल – जैसे पृथ्वी, पर्वत, लकड़ी, पत्थर आदि जो टूटने–कटने पर पुनः स्वतः जुड़ नहीं सकते। (Solids such as earth, stone etc.)

२. स्थूल – जैसे घी, दूध, तेल, पानी आदि तरल पदार्थ, जो बिखरने के बाद पुनः स्वतः जुड़ सकते हैं। (Liquids like butter, water or oil etc.)

३. स्थूल–सूक्ष्म – जैसे छाया, धूप, अन्धकार, चाँदनी आदि (स्कन्ध), जो कि स्थूल ज्ञात होने पर भी जिनका छेदन–भेदन करना या हाथों से पकड़ सकना संभव नहीं। (Energy which manifests itself in forms of heat,light, electricity and magnatism.)

४. सूक्ष्म–स्थूल – जैसे स्पर्श, रस, गन्ध, शब्द एवं वायु आदि, जो कि सूक्ष्म होने पर भी स्थूल जैसे प्रतीत होते हैं (Gases like air and others)

५. सूक्ष्म – जैसे कर्म वर्गणा आदि (स्कन्ध), जो सूक्ष्म हैं तथा जो इंद्रियों द्वारा अगोचर हैं। (Fine matter which is responsible for thought-activities and is beyond sense-perception)

६. सूक्ष्म–सूक्ष्म – जैसे कर्मवर्गणातीत द्वि–अणुक–स्कन्ध तक के स्कन्ध, जो कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म हैं, इस श्रेणी के पुद्गल कहलाते हैं। (Extra fine matter such as the streams of single elementary particles, electrons, protons and positrons or the par ticles like neutrons which are composed of two elementary particle each a protron and an electron in close union).

वर्तमान भौतिकशास्त्रियों के अनुसार विश्व में व्याप्त सभी परमाणु, चाहे वे किसी भी पदार्थ से सम्बन्धित हों Positive (स्निग्धकण) तथा Negative तथा (उदासीनकण) भिन्न–भिन्न संख्याओं में सर्वव्यापी परमाणुओं के बन्ध से ही बने हैं, जैनाचार्यों ने भी यही तथ्य प्रस्तुत किया है–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णिद्धस्य णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेज्ज बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा।। - (गोम्मट . ६१४)

अर्थात् स्निग्ध परमाणु का दूसरे दो गुण अधिक स्निगध परमाणु के साथ बन्ध होता है। एक परमाणु का दूसरे दो गुण अधिक परमाणु के साथ बन्ध होता है। एक स्निग्ध परमाणु का दूसरे दो गुण अधिक रूक्ष परमाणु के साथ भी बन्ध होता है। सम एवं विसम दोनों का बन्ध होता है किन्तु जघन्य गुण वाले का बन्ध नहीं होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने पुद्‌गल की परिभाषा में बताया है कि स्निग्ध एवं रूक्ष गुणों के कारण परमाणु एक साथ बँधा रहता है। इसका समर्थन आचार्य उमास्वामी ने भी "स्निग्धरूक्षत्वाद–बन्ध" नामक सूत्र के माध्यम से किया है। जैनाचार्यों का यह वैज्ञानिक सिद्धान्त आश्चर्यजनक है और आधुनिक वैज्ञानिक खोजों के समकक्ष है। पूज्यपाद स्वामी (५वीं सदी ई.) ने लिखा है कि स्निग्ध एवं रूक्ष गुण के निमित्त से विद्युत की उत्पत्ति होती है।

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से उक्त स्निग्ध Positive के अर्थ में तथा रूक्ष Negative के अर्थ में लिया गया है। सामान्य भाषा में इसे गरम एवं ठण्डा भी कहा जाता है। स्निग्ध एवं रूक्ष का अर्थ चिकना एवं रूखा अथवा खुरदरा नहीं होता। वस्तुतः ये वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द (Techinical terms) ही हैं। और उन्हें के Positive and Negative अर्थ में ही लेना चाहिए। जैनाचार्यों के इस विद्युत् सम्बन्धी सिद्धान्त से अनेक आधुनिक वैज्ञानिक प्रभावित हुए हैं। स्निगध एवं रूक्ष के पौद्‌गलिक बन्ध को अत्यन्त वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों की संज्ञा देते हुए डॉ. बी.एच. सील ने केम्ब्रिज से प्रकाशित अपने शोध–प्रबन्ध Positive Science of Ancient Hindù में लिखा है कि – "जैनाचार्यों को यह ज्ञात था कि भिन्न–भिन्न वस्तुओं के परस्पर में संघर्षण से Positive and Negative विद्युत उत्पन्न की जा सकती है।"

मूलाराधना में वर्णित रासायनिक क्रियाएँ

मूलराधना यद्यपि आचार, सिद्धान्त एवं अध्यात्म का ग्रन्थ है किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि आत्म–विद्या के साथ–साथ भौतिक विद्याओं का भी निरन्तर विकास होता रहता है। बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि भौतिक विद्याओं से ही आत्म–विद्या के विकास की प्रेरणा मिलती रही है। ईस्वी सन् की द्वि. तृ. सदी तक जैनाचार्य शिवार्य को तत्कालीन भौतिक विज्ञान–विकास की कितनी जानकारी थी, उसकी कुछ झलक उक्त ग्रन्थ में मिलती है। उदाहरणार्थ –

शिवार्य ने जोणिकसलेसो (बज्रलेपः) रसपीदयः (रसरसितम्) कवडककडं (तनुस्वर्णपत्रास्छादितम्) जदुपूरिदयं (जतुपूर्णम्) जैसी रासायानिक प्रक्रियाओं की सूचना देते हुए वज्रलेपगृक्तचर्म, स्वर्णरसाच्द्रादित लौहकटक, स्वर्णपत्राच्द्रादित लौहकटक तथा किमिराग कंवल, जदुरागवत्थ स्वर्ण ॥ साथ लाक्षा–क्रिया आदि उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए हैं। यद्यपि बज्रलेप एवं अन्य रासायनिक प्रक्रियाओं की विधि ग्रन्थ में नहीं बतलाई गई है किन्तु इतना अवश्य है कि जन–सामान्य के लिए उनकी जानकारी हो चुकी थी। अन्य प्रमाणों से भी यह सिद्ध हो चुका है कि ब्रजलेप कई प्रकार का होता था तथा चमड़े पर उसका लेप कर देने से अल्पमूल्य की सामग्रियाँ भी बहुमूल्य, सुन्दर एवं टिकाऊ बन जाती थीं। कहा जाता है कि प्रियदर्शी सम्राट अशोक के स्तम्भ बलुई पत्थर से निर्मित थे, किन्तु बज्रलेप के कारण ही लोगों ने प्रारम्भ में उन्हें फौलादी मान लिया था। बरारि (गया, बिहार) की पहाड़ी–गुफाओं में बज्रलेप ही किया गया था, जिनके कारण वे आज भी शीशे ही तरह चमकती हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुद्गल–द्रव्य के स्थूल–सूक्ष्म रूप पर डॉ. आइंस्टीन के प्रयोग–परीक्षण

जैनाचार्यों ने प्राचीनकाल से ही उष्णता (Heat) प्रकाश (Lidht) एवं विद्युत (Electricity) को जिस शक्ति के रूप माने हैं, वे वस्तुतः पुद्गल द्रव्य के "स्थूल–सूक्ष्म" रूप ही हैं। यही तथ्य इस सदी के प्रारम्भिक दशक में प्रो. अल्वर्ट आईंस्टीन ने भी सिद्ध किया था। उनके प्रयोगों के निष्कर्षानुसार ३००० टन पत्थर के कोयले को प्रज्ज्वलित करने से जितनी ताप (Heat) उत्पन्न हो, उसे इकट्ठा कर यदि काँटे पर तौलना सम्भव हो तो उसकी तौल (Weight) मात्र एक ग्राम होगी। अर्थात् देखने में विशाल किन्तु वजन में अत्यन्त लघु।

इसी प्रकार शौरसेनी साहित्य में वर्णित धर्मद्रव्य (Medium of Motion) अधर्मद्रव्य (Medium of Rest), आकाशद्रव्य (Space Substance) कालद्रव्य (Time-substance) का आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भ में तुलनात्मक अध्ययन किया गया है और उसकी सिद्धान्तगत समकक्षता ने वैज्ञानिकों को आश्चर्यचकित किया है।

वस्तुतः उक्त दृष्टियों से शौरसेनी–साहित्य का अभी तक मूल्यांकन ही नहीं किया जा सका है। शौरसेनी के महान रचनाकारों में से यदि केवल कुन्दकुन्द एवं शिवार्य को ही लिया जाय, तो उनके चिन्तनपूर्ण साहित्य से विदित होता है कि केवल श्रमण–परम्परा के संवाहक सन्त आचार्य ही नहीं, बल्कि समकालीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं समाज तथा भाषागत वैशिष्ट्य के विविध पक्षों को प्रकाशित करने वाले महान् आचार्य, लेखक, महर्षि, वैज्ञानिक, योगी एवं सन्त साधक भी थे। लोक–व्यवस्था के क्षेत्र में भी उनका जो गहन चिन्तन एवं विश्लेषण है, वह बेजोड़ है। भौतिक–जगत के अनेक रहस्यों का उन्होंने जिस प्रकार उद्घाटन एवं प्रकाशन किया है, उससे ने केवल शौरसेनी प्राकृत एवं जैन–विद्या अपितु भारतीय प्राच्य–विद्या भी गौरव के अग्र–शिखर पर प्रतिष्ठित हुई है।

आदरणीय सज्जनों,

कहना तो बहुत कुछ चाहता था किन्तु समयाभाव के कारण एवं विस्तृत कार्य सूची को देखते हुए मैं इस आशा के साथ अपना स्थान ग्रहण करता हूँ कि भविष्य में भी आप विद्वत्परिषद के आयोजनों को सफल बनाने में हर प्रकार का सक्रिय सहयोग देते रहेगें। आपने मेरे विचार को मनोयोग पूर्वक सुना, इसके लिए पुनःपुन आपके प्रति सम्मान एवं आभार व्यक्त करता हूँ। जय जिनेन्द्र !

□□□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यक्तित्व के सागर

✍ डा. दयाचन्द साहित्याचार्य

अपने युग के सातिशय, धर्म प्रभावक आध्यात्मिक संत एवं सफल समाज सुधारक परम पूज्य १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी के व्यक्तित्व का आकलन यहाँ सहज, प्रभावी व प्रेरणादायी है। - सम्पादक

किसी भी सन्त या महात्मा की जन्म जयन्ती को उदीयमान करने का मुख्य प्रयोजन है कि महात्मा के गुण गण का स्मरण एवं उनके आचरण जैसा आचरण करना और उन महात्मा के समान कल्याण मार्ग का मार्गण करना। हिन्दी कवि की नैतिक उक्ति है–

हमें महापुरुषों के जीवन ये ही बात बताते हैं।
जो करते हैं सतत आचरण वे महान बन जाते हैं।।

वर्तमान में हम सब न्यायाचार्य पूज्य अध्यात्मवेत्ता पं० श्री गणेशप्रसादजी वर्णी महात्मा की १२० वी जन्म जयन्ती के परिप्रेक्ष्य में उल्लास के साथ उनके गुणगण का स्मरण और उनके पवित्र आचरण जैसा स्वयं आचरण करते हुए अपने जीवन को भी महान उज्ज्वल करने का पुरुषार्थ कर रहे हैं।

आदर्श जीवनकाल –

उन वर्णी महाराज का सम्पूर्ण जीवन अठासी वर्ष प्रमाण था जिसमें ४२ वर्ष प्रमाण छात्र जीवन, ४० वर्ष प्रमाण त्यागवृत्ति, आत्मसाधना और धर्मसाधना और धर्मप्रभावना से ओतप्रोत जीवन व्यतीत हुआ। छह वर्षीय बाल्यकाल पूर्व सुसंस्कारों और गुणीजनों की संगति में व्यतीत हुआ।

यदि किसी मानव का जीवन शुष्क वृक्ष के समान निरर्थक चल रहा हो तो उस मानव को वर्णी जी का आदर्श जीवन देखकर अपने जीवन को शीघ्र परिवर्तित कर देना ही चाहिये, यह प्रेरणा प्राप्त होती है श्री वर्णी जी के जीवन से।

सिद्धान्त परीक्षाप्रधानी –

श्री वर्णीजी के अन्तस्तल में यह विकल्प चल रहा था कि किस दर्शन एवं सिद्धान्त को अंगीकृत करना चाहिये। विचार करते–करते वर्णीजी को एक न्यायपूर्ण आध्यात्मिक न्यायालय का निर्णय मिल गया जिसको प्राप्त कर वे अति प्रसन्न हुए। निर्णय ज्ञातव्य है:–

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः।।

(हरिभद्रसूरि)

तात्पर्य - हरिभद्रसूरि कहते हैं कि हमारा, महावीर में कोई पक्षपात नहीं और न कपिल आदि ऋषियों में द्वेष है। परन्तु युक्ति, प्रमाण और न्यायपूर्ण जिसके वचन सिद्ध हों, उनको स्वीकृत कर लेना चाहिये। अष्टादश दोष रहित उस आप्त के वचन ही निर्दोष, युक्तिपूर्ण और न्यायपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं, कारण कि यह नीति विज्ञानपूर्णलोक में प्रसिद्ध है कि वक्ता की प्रमाणता से वचनों में प्रमाणता सिद्ध होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस न्यायालय के परीधा प्रधान निर्णय से न्यायाचार्य जी ने अपनी श्रद्धा को यथार्थ सर्वज्ञ, निर्दोष, हितोपदेशी आप्त द्वारा प्रणीत अहिंसा, अपरिग्रहवाद, स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) अध्यात्मवाद, कर्मवाद और मुक्तिवाद में सुदृढ़ करने का आदर्श उपस्थित किया।

यदि किसी प्रबुद्ध मानव के जीवन में सिद्धान्त या दार्शनिक तत्त्व को अपनाने में विवाद उपस्थित हो जाय तो पूज्य वर्णी जी के समान आध्यात्मिक न्यायालय के युक्तिपूर्ण सिद्धान्त को अंगीकृत कर लेना चाहिये।

आध्यात्मिक विचारधारा –

विक्रम सं० ६६२ में अध्यात्मवेत्ता श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने 'जिनप्रवचनरहस्य कोष' ग्रन्थ में आत्मतत्त्व की जो व्याख्या की है उस तत्त्व पर न्यायाचार्य जी ने अपने विचार स्थिर किये और उस पर गंभीर चिन्तन किया। आत्मतत्त्व की व्याख्या –

अस्तिपुरुषश्चिदात्मा, विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः, समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः।।
(जिनप्रवचनरहस्यकोष पद्य-६)

तात्पर्य - निश्चयनय से आत्मा चैतन्य (ज्ञानदर्शनादि) स्वरूप एवं स्पर्शरसगंधवर्ण से रहित अमूर्तिक है। व्यवहारनय से आत्मा गुण एवं पर्याय से सम्पन्न और उत्पाद–व्यय तथा नित्यत्व से सहित है।

एक दूसरे ग्रन्थ के प्रमाण से श्री वर्णी जी ने स्वकीय आध्यात्मिक विचारधारा को विकसित किया, प्रमाण इसप्रकार है :–

अहंप्रत्ययवेद्यत्वात्, जीवस्यास्तित्वमन्वयात्।
एकोदरिद्र एको हि, श्रीमानिति च कर्मणः।।
(कविवर महापण्डित राजमल्ल : पंचाध्यायी : द्वि. अ. पद्य-५०)

तात्पर्य- अहम्प्रत्यय (मैं हूँ इसप्रकार का अनुभव) होने से आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है और एक पुरुष दरिद्र है, एक श्रीमान है, एक पुरुष सुखी है, एक पुरुष दुखी है इसप्रकार के अनुभव से कर्म सिद्धान्त का अस्तित्व जाना जाता है। इस श्लोक को श्री वर्णीजी अपने प्रवचनों में तथा भाषणों में समय–समय पर कहा करते थे। जिससे समाज, आत्मा एवं कर्म सिद्धान्त से प्रभावित होती थी। उनके मुख से इस पद्य को हमने अनेक बार प्रत्यक्ष सुना है, यह उनकी आत्मिक श्रद्धा है।

यदि मानव को मानस पटल में कभी यह विभ्रम दर्शनमोह के प्रभाव से हो जाय कि आत्मा का अस्तित्व है या नहीं। भौतिक पदार्थों से आत्मा की सृष्टि होती है या नहीं। शरीरी ही आत्मा है। इस प्रकार की श्रद्धा न होने पर उस व्यक्ति को वर्णी जी की इस आध्यात्मिक विचारधारा का अनुशीलन करना चाहिये, इससे उसकी श्रद्धा आत्मा पर सुदृढ़ हो जायगी। इसी आत्मिक उच्चशिक्षा के लिये श्री वर्णी जी ने स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी एवं गणेश जैन संस्कृत महाविद्यालय सागर की स्थापना की थी।

परमात्मा की समुपासना –

प्रबुद्ध न्यायाचार्य जी के अन्तःकरण में यह प्रश्न उदित हुआ कि किस देव की उपासना करना उपयोगी है। इस प्रश्न के समाधान के लिये आपने दर्शन, न्याय और सिद्धान्त शास्त्रों का गहन अध्ययन किया और अपने प्रश्न का समाधान खोज लिया :–

भववीजांकुरजकदाः रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जगत बीज रूपी अंकुर को पुष्ट करने वाले मेघ के समान राग, द्वेष मोह, माया तृष्णा आदि दोष जिसके क्षय को प्राप्त हो गये हों, ऐसे ब्रह्मा विष्णु महेश, बुद्ध और जिनके नाम से प्रसिद्ध उस आप्त (परमात्मा) को हम प्रणाम करते हैं। अथवा

जिसने राग द्वेष कामादिक जीते सब जग जान लिया,
सब जीवों को मोक्ष मार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया।
बुद्ध वीर जिन हरिहर ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो,
भक्ति भाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहो।।

इन प्रमाणों के अनुभव से न्यायाचार्य जी ने यह अवधारण किया कि आत्मकल्याणक के अर्थ अर्हन्त–सिद्ध इस श्रेष्ठनाम से प्रसिद्ध जिन देव की उपासना करना श्रेष्ठ है।

यदि किसी मानव के स्वान्त में यह उलझन उपस्थित हो जाय कि किन देवी–देवताओं की उपासना करना हितकर है तो उसको वर्णी जी के निर्णीत सिद्धान्त, निःशंक–आस्था, आचरण के योग्य हैं ऐसा निर्णय कर परमेष्ट देव की भक्ति करना श्रेष्ठ है।

कर्मवाद की मान्यता –

प्राचीन भारत के षट्दर्शनशास्त्रों का अध्ययन करने से न्यायाचार्य जी के अन्तःकरण में पारस्परिक विचारों का संघर्ष या विवाद उदित हो गया कि ब्रह्माद्वैतवाद, एकेश्वरवाद, अवतारवाद, निरीश्वरवाद, क्षणिकवाद और कर्मवाद आदि वादों में से किस वाद की आराधना जीवन में कल्याणकारी हो सकती है। दर्शनशास्त्रों का गहन चिन्तन कर जैनदर्शन शास्त्र के न्यायालय में एक अपूर्व निर्णय उपलब्ध हो गया, वह यह कि –

स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं निरर्थकं. तदा।।
(आचार्य अमितगतिः सामायिक पाठः पद्य ३०)

आचार्य अमितगति कर्म सिद्धान्त की घोषणा करते हैं कि पूर्वकाल में इस जीव ने जो स्वयं पुण्य पाप कर्म किये हैं वह जीव उत्तरकाल में उन पुण्य पाप कर्मों का शुभ और अशुभ फल प्राप्त करता है नियम से। यदि कोई प्रश्न करे कि स्पष्ट देखा जाता है कि जीव के पुण्य–पाप का फल दूसरे ईश्वर राजा आदि प्रदान करते हैं। तब आचार्य उत्तर देते हैं कि जीव द्वारा किया गया पुण्य–पाप कर्म व्यर्थ हो जायगा, परन्तु कृत पुण्य पाप कर्म व्यर्थ नहीं होता। कारण कि प्राणी पूर्वकृत पुण्य पाप कर्म का फल सुख–दुख, स्वयं अनुभव करते हुए प्रत्यक्ष देखे जाते हैं।

लोक में पुण्यपाप कर्म के फलानुभवन के उदाहरण अनेक हैं परन्तु वर्णीजी की जीवनयात्रा में एक घटना प्रत्यक्ष देखी गई है जो इस प्रकार हैः–

जब श्री वर्णीजी महाराज वरुआसागर (झांसी उ.प्र.) में विराजमान थे, उस समय मन्दिर में नित्य प्रवचन करते थे। उनके प्रवचन को सुनने के लिये एक धीवर की कन्या नित्य उपस्थित होती थी। एक दिन प्रवचन में पुण्यकर्म पापकर्म का प्रकरण चल रहा था। उस प्रकरण को धीवर कन्या अच्छी तरह सुन रही थी और उसको पुणय–पाप का विषय सुरीत्या समझ में आ गया था। दुर्भाग्य से उस नगर में एक दिन तीव्र ओल–वर्षा–हवा का प्रकोप हुआ, उसके प्रभाव से उस धीवर के घर का छप्पर गिर गया, घर का सब सामान जल प्लावित हो गया, भोजन बनाने का भी कोई ठिकाना नहीं रहा। तब विपत्तिग्रस्त वह धीवर रोने लगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पिता को रोते देखकर, वर्णीजी का प्रवचन सुनने वाली उस लड़की ने पिताजी को समझाया कि पिताजी ! इस संसार में सुख–दुख के दाता न राम हैं न रहीम हैं किन्तु सब प्राणी पूर्व में स्वयं किये गये कर्मों के फल सुख–दुख को स्वयं भोगते हैं। अपन सबने भी पहले जीवहिंसा, मांस खाना आदि जो पाप किये हैं, उनका यह दुख–सुख फल भोगना पड़ रहा है। देखो, अपने पड़ौस में जो रामस्वरूप सराफ जी रहते हैं वे कभी भी मांस मछली नहीं खाते, शराब नहीं पीते। प्रतिदिन भगवान का भजन, पूजन करते हैं इसलिये उनके सुख साता के दिन निकल रहे हैं, इसलिये आप घबड़ावें नहीं, धीरज रखें।

अपनी लड़की के इस प्रकार के अच्छे वचन सुनकर धीवर पूछने लगा, कि बेटी ! तुमने ये अच्छी बातें कैसे जानी, लड़की ने कहा, कि पिताजी ! अपने पड़ौस में सराफ जी के घर काशी के एक बड़े पण्डित जी आये हैं उनकी कथा को सुनने के लिये हम रोज जाते हैं, उनके उपदेश से हमने ये सब बातें जानी हैं जो सच हैं। धीवर ने साहस के साथ कहा कि हम भी कल से उन पण्डित जी के उपदेश सुनने के लिये तुम्हारे साथ चलेंगे।

दूसरे दिन वह धीवर अपनी पुत्री के साथ वर्णीजी के प्रवचन को श्रवणार्थ गया। सुनकर प्रभावित हुआ, तत्पश्चात् धीवर ने जन्मपर्यन्त मांस भक्षण एवं मदिरापान का त्याग कर दिया, यह है श्री वर्णीजी के समयोचित प्रवचनों का प्रभाव।

अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) एक न्यायालय –

न्यायदर्शन, वैशेषिकदर्शन, सांख्यदर्शन, मीमांसादर्शन, बौद्धदर्शन आदि भारतीय प्राचीन एवं अर्वाचीन दर्शनों में एकान्ततत्त्व की मान्यता से परस्पर विरोध देखा जाता है। एकान्तपक्ष के हठ से पारस्परिक द्वेष या संघर्ष भी देखा जाता हैं वर्णीजी ने न्यायाशास्त्रों का पठनकर यह निर्णय किया कि अनेकान्त (स्याद्वाद) एक ऐसा न्यायालय है जो सब दर्शनों का समन्वय कर मैत्री भाव जागृत करता है। उन्होंने आचार्य–अमृतचंद्र का एक न्यायालय भी खोज लिया, जो दर्शनीय है:–

परमागमस्य वीजं, निषिद्ध जात्यन्धसिन्धरुविवादम्।
सकलनयविलसितानां, विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्।।
(आ० अमृतचन्द्र, पुरुषार्थ सि. पद्य-२)

जो वीतराग आगम का मूल कारण है, जात्यन्थ पुरुषों के हस्तिविषयक विवाद का निर्णायक है, नयों की अपेक्षा सकल दर्शनों के विरोध का नाशकर मैत्रीभाव जागृत करता है, ऐसे अनेकान्त को मैं प्रणाम करता हूं यह निर्णय देखकर वर्णी जी की अनेकान्त पर आस्था हो गई। अन्य प्रबुद्ध मानवों को दार्शनिक विरोध देखकर भी वर्णीजी के समान ही मैत्रीभाव को जागृत कर लेना चाहिये।

आदर्श देशभक्ति –

सन् १६४५ में–सुभाषचन्द्र बोस द्वारा स्थापित आजाद हिन्द सेना के रक्षार्थ जबलपुर में हुई आमसभा के मध्य वर्णीजी ने भाषण देते हुए अपनी चादर को समर्पित कर दिया। बोली द्वारा उस चादर से ३०००/– रुपये की आमद हुई। उस समय करतलध्वनि, वाद्यध्वनि एवं जयध्वनि हुई।

विदेशों में वर्णीवाणी –

यद्यपि पूज्य वर्णी जी कारणवश में स्वयं विदेशो में नहीं जा सके परन्तु उनकी वाणी का विदेशों में प्रसार अवश्य हुआ। सन् १६५५ में एल्वाद्वीप इटली में सम्पन्न हुए आध्यात्मिक सम्मेलन में आपका आध्यात्मिक निबन्ध पढ़ा गया और पत्रिकाओं में मुद्रित किया गया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामाजिक सुधार –

श्री वर्णी जी मात्र आध्यात्मिक सन्त ही न थे किन्तु स्वकीय श्रेष्ठ करुणाभाव से समाज सुधारक भी थे। बड़गांव (कटनी, म.प्र.) के सामान्य दोष के कारण प्रायः ५० वर्ष से बहिष्कृत, २०० बन्धुओं का स्थितीकरण कर पंचायत के सहयोग से सहर्ष एकीकरण किया। करतल ध्वनि। भ. महावीर की जय ध्वनि।

शाहपुर (सागर) में विशेष अपराध के कारण बहिष्कृत एक परिवार को पंचायत के सहयोग से स्थितिकरण कर समाज में मिलाया।

विशेष - सन् १६४४ में वीर शासन जयन्ती पर्व की वेला में कलकत्ता नगरी विशाल जैनसभा मध्य, पूज्य न्यायाचार्य वर्णीजी के प्रशस्त उपदेश से जैन संस्कृति के संरक्षणार्थ अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद् की स्थापना हुई।

उपसंहार –

पूज्य न्यायाचार्य जी महाराज, त्यागवृत्ति, छात्र–जीवन, परीक्षा प्रधानता, आध्यात्मिकता, परमात्मा की उपासना, कर्मवाद की मान्यता, अनेकान्तवाद की मान्यता, आदर्श देशभक्ति, विदेशों में सिद्धान्त प्रसार और समाज सुधार आदि सहस्रों घटनाओं की दृष्टि से व्यक्तित्व के सागर थे।

श्री गणेश ही सतत साधना पथिक ! तुम्हारा नाम है।
अतल ज्ञान गंगा के ओ भागीरथ ! तुम्हें प्रणाम है।।

● प्राचार्य/प्रवक्ता/अधीक्षक
श्री गणेश दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय
सागर (म. प्र.)

□□□

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन
विद्वत्परिषद् के स्वर्ण जयन्ती समारोह
पर हमारी हार्दिक शुभकामनायें।
– सन्तोष पाटनी

पाटनी आटोमोबाइल
जवाहर चौक, वासिम
जिला अकोला {महा.}

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्वत्परिषद की स्थापना का इतिहास एवं पूज्यपाद गणेशप्रसादजी वर्णी

मोतीलाल साहित्याचार्य

विद्वानों के हृदय में पूज्यपाद गणेशप्रसादजी वर्णी की जो महिमा है वह अतुलनीय है। जैनधर्म के प्रचार प्रसार और सामाजिक एकता के लिये विद्वत्परिषद् की सुस्थापना वर्णीजी की प्रेरणा से उनके ही शिष्यों ने की थी। आज परिषद अपनी स्वर्ण जयन्ती वर्ष भर तक मना रही है तो विद्वज्जनों का दायित्व सुस्पष्ट हो जाता है कि वे सामाजिक एकता के विरुद्ध आचरण न करें और न ही कोई ऐसा स्वार्थपरक कार्य जिससे पूज्य वर्णीजी की महिमा कम होती हो। ज्ञान की मशाल जलाये रखने और सम्प्रदाय शून्य भावना से परोपकार में संलग्न रहने का व्रत हमें लेना होगा क्योंकि तभी सार्थक हो पायेगा विद्वत्परिषद का औचित्य और इतिहास। **- सम्पादक**

अवसर्पिणी के लम्बे समय को पार कर जब भोगभूमि की व्यवस्था प्राकृतिक रूप से समाधि की ओर बढ़ रही थी और नये युग कर्मभूमि की प्रारम्भिक दशा का प्रादुर्भाव होने जा रहा था तब प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ ने भारतभूमि में जन्म लेकर जगत् का कल्याणक किया। उस समय भोगभूमि से अभ्यस्त लोग कर्मभूमि से अनभिज्ञ थे सो प्रभु ने उन्हें असि मसि कृषि आदि षट् कर्म की शिक्षा देकर कर्म भूमि में रहना सिखाया।

प्रजापतिर्यः प्रथमंजिजीविषुः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।
प्रवुद्धतत्वा पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः।।

क्योंकि वे कुलकर भी थे। केवलज्ञान प्राप्त कर धर्म का स्वरूप समझाकर जगत का कल्याण किया और मोक्ष प्राप्त किया। उनके पश्चात उस चौथे काल में २३ तीर्थंकर और हुए जिन्होंने इसी तरह धर्मोपदेश देकर जगत् कल्याण किया अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर थे। आज धर्म की शीतल छांव में हम सब बैठे हैं वह इन्हीं प्रभु का लोकोपकार है। इसी धर्म में भरत जैसे चक्रवर्ती और भगवान बाहुबली जैसे कामदेव उत्पन्न हुए। यह धर्म महान है।

काल अपनी गति से चलता है। प्रभु महावीर के निर्वाण के पश्चात् धर्म की जो क्षीणता होती आ रही है इसके हम सब शिकार हैं। धार्मिकता कुछ इनगिने लोगों में रह गई है। इस कालचक्र में फंसे लोग कल्याण मार्ग से विमुख होते चले आ रहे हैं धर्म को भूलते जा रहे हैं। कुछ मुनिराजाओं को छोड़कर सत्पथ प्रदर्शक कोई नहीं। टिमटिमाते दीपक की तरह धर्म की गति हो रही है, इस काल में।

ऐसे काल में संवत् १६३६ कुंवार वदी ४ को ऐसे महापुरुष ने (पूज्य पाद गणेशप्रसादजी वर्णी ने) हजेरा ग्राम में जन्म लिया जो जैन न होकर भी जैन धर्म के वेत्ता बने। अनेकों कष्टों को सहकर जिनेन्द्रोक्त ज्ञान प्राप्त कर समाज में दूर–दूर तक ज्ञान की किरणें बिखेरी। उन्हीं की कृपा से समाज में जागृति हो रही है। उनका जीवन वृत्त जानने के लिये देखिये वर्णी जीवन गाथा भाग १ और २।

पूज्य वर्णीजी महाराज ने जैनधर्म के प्रचार और प्रसार हेतु जगह–जगह छोटी–छोटी पाठशालायें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खुलवाई। चूंकि जैन धर्म का सारा वांगमय संस्कृत प्राकृत भाषा में निबद्ध है परन्तु उसके जानकार न होने से उन्होंने बनारस और सागर में संस्कृत भाषा सहित जैन धर्म के प्रौढ़ विद्वान तैयार करने के लिये महाविद्यालयों की स्थापना की और वहां से निकले हुए जो विद्वान तैयार हुए आज वे ही समाज में जैन धर्म की बागडोर सम्हाले हुए दिखाई दे रहे हैं।

विद्वत्परिषद की स्थापना –

महाविद्यालयों से निकले इन बिखरे विद्वानों का सोच था कि जैनधर्म का जैन शासन का विधिवत योजनाबद्ध प्रचार व प्रसार कैसे हो ? अतः कलकत्ता में वीरशासन जयन्ती महोत्सव के समय इकट्ठे हुए विद्वानों में खूब ऊहापोह के पश्चात् समाज में जागृति बनाये रखने के लिये २ नवम्बर १९४४ को समाज के प्रख्यात साधुमना विद्वान पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री को संयोजक बनाकर विद्वानों को जैन भवन में आहूत किया। उस समय वहां पर निम्नलिखित विद्वान सभा में शामिल हुए जिन्होंने विद्वत्परिषद की स्थापना की थी –

१. श्रीमान पं. फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री,वाराणसी
२. श्रीमान पं. महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य , वाराणसी
३. श्रीमान पं. कैलाशचन्दजी शास्त्री, वाराणसी
४. श्रीमान पं. सुमेरचन्दजी दिवाकर, सिवनी
५. श्रीमान पं. श्रीलालजी पाटनी, अलीगढ़
६. श्रीमान पं. राजेन्द्रकुमारजी न्यायातीर्थ, मथुरा
७. श्रीमान पं. इन्द्रलाल जी शास्त्री, जयपुर
८. श्रीमान पं. दरबारीलालजी न्यायाचार्य, सरसावा
९. श्रीमान पं. बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना
१०. श्रीमान पं. रामप्रसादजी शास्त्री, बम्बई
११. श्रीमान पं.सुब्बैयाजी शास्त्री कारकल आदि।

विद्वानों ने एक मत से अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत् परिषद की स्थापना की थी। उस समय इस परिषद के सभापति श्रीमान पं. जगन्मोहनलाल जी शास्त्री कटनी, उपसभापति श्रीमान पं. इन्द्रलाल जी शास्त्री, जयपुर, मंत्री श्रीमान पं. सुमेरचन्द जी दिवाकर, सिवानी, संयुक्त मंत्री श्रीमान पं. फूलचन्द जी शास्त्री, वाराणसी ने अपनी–अपनी पदासन्दी पर आसीन होकर परिषद को अलंकृत किया। तब से अब तक इस परिषद रूपी वटवृक्ष का विस्तार जितना फैल गया वह सभी के समक्ष दृष्टिगत है।

पूज्य वर्णी जी महाराज ने कभी अपनी आँखों से देखा था कि वाराणसी जैसा विद्या की नगरी में जहां भगवान पार्श्वनाथ तथा सुपार्श्वनाथ भगवान ने जन्म लिया था वहां आज विद्या का अत्यन्ताभाव हो गया है। उन्होंने उस अत्यन्ताभाव का अभाव कर दिया। आज जो विद्वानों को इतनी संस्थायेंखि रही है वह उन्हीं पूज्यपाद गणेशप्रसाद वर्णी जी महाराज एवं गुरुणां गुरु गोपालदासजी बरैया के पुरुषार्थ का फल है।

एक भलक पूज्य वर्णी जी महाराज के पुरुषार्थ की झलका कर अपनी बात से विश्राम का चिन्ह लगा रहा हूं।

जब मैं वाराणसी में पढ़ता था पूज्य वर्णी जी महाराज का बिहार की सम्मेद शिखर जी से सागर की तरफ हो रहा था। इस समय पूज्य वर्णी जी महाराज का भतीजा भी हमारी ही कक्षा में पढ़ता था नाम था घनश्याम दास जी। एक दिन घनश्याम जी ने हम से कहा कि पूज्य वर्णीजी महाराज शिखर जी से सागर की तरफ बिहार कर रहे हैं आज वे बनारस से १०–१५ मील की दूरी पर है चलो उनके दर्शन कर आयें। मैंने कहा हाँ चलो मैं तैयार हूं। जब चलने लगे तो साथ में ८–१० छात्र और भी चले। अपनी–अपनी साइकिलों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से चल रहे थे। तो एक बगीचे में जो सड़क के किनारे पर था कुछ हलचल सुनाई दी। मालूम हुआ पूज्य वर्णी जी महाराज यहीं पर हैं हम सभी छात्र उस बगीचे में प्रविष्ट हुए तो देखा कि पूज्य वर्णी जी अपने साथियों सहित वहां विराजमान हैं।

हम सब को देखकर बोले अरे क्या विद्यालय से आ रहे हो हम लोगों ने कहा हां महाराज। तो बोले हम वहीं तो आ रहे थे यहां काहे को भागते आये। एक सज्जन जो उनके साथ थे उनसे बोले भैया देखा तो ये लड़के कितनी दूर से आ रहे हैं थक गये होंगे। इन्हें एक–एक लड्डू खिला दो सो उन्होंने तुरन्त हम लोगों को एक–एक लड्डू दिया लड्डू काफी बड़ा था सो सभी खूब तृप्त हो गये। महाराज ने फिर कहा भैया इन्हें एक–एक गिलास पानी पिला दो। पानी पी चुकने के बाद वे हम सब के बीच में बैठ गये और एक–एक छात्र से सुख–दुःख की बातें पूछने लगे जब हमारा नम्बर आया तो हम से निम्नलिखित बात हुई–

क्या नाम है तुम्हारा ? मैंने कहा मोतीलाल। क्या पढ़ते हो ? मैंने कहा शास्त्री कक्षा में पढ़ता हूं।

कोई अधिकारी या कोई और हैरान तो नहीं करता ? मैंने कहा नहीं महाराज कोई परेशान नहीं करता।

खाने–पीने की रहन–सहन का कोई और कष्ट तो नहीं है ?

मैंने कहा नहीं महाराज कोई कष्ट नहीं है

फिर बोले अच्छा एक बात बताओ, तुम्हें विद्यालय से कुछ छात्रवृत्ति भी मिलती है या नहीं ? मैंने कहा मिलती है। बोले कितनी छात्रवृत्ति मिलती है ? मैंने कहा चौदह आने मासिक छात्रवृत्ति हमें मिलती है महाराज फिर बोले छात्रावास में अंग्रेजी पढ़ने वाले छात्र भी तो रहते हैं उन्हें क्या छात्रवृत्ति मिलती है ? मैंने कहा उन्हें डालमिया नगर के कक्षानुसार किसी को २०/– किसी को २५/– किसी को ३०/– आदि छात्रवृत्ति मिलती है सुनकर आश्चर्य से कहा ऐं....... फिर उन्हीं सत्पुरुष से जो उनके साथ–साथ चल रहे थे बोले भैया अब कोई संस्कृत और धर्म नहीं पढ़ेगा। इन संस्कृत पढ़ने वालों छात्रों को चौदह आने मासिक छात्र वृत्ति मिलती है और अंग्रेजी पढ़ने वालो को २०–२५–३० रुपये मासिक छात्रवृत्ति मिलती है। अब कोई संस्कृत और धर्म नहीं पढ़ेगा।

फिर तुरन्त हमारी तरफ मुड़कर बोले – भैया तुमने बाजारू औरत (वेश्या) देखी है वह कितने जेवर पहिने रहती है। फिर बोले तुमने गरीब सदाचारिणी नारी भी देखी होगी मैंने हां महाराज देखी है। तो बोले वह कितने जेवर पहिनती है ? मैंने कहा महाराज गरीब होने से वह जेवर नहीं पहिन पाती। तब महाराज ने पूछा, अच्छा बताओ वो वेश्या अच्छी या गरीब सदाचारिणी अच्छी ? तो मैंने तपाक से कह दिया वेश्या अच्छी कैसे हो सकती है। अच्छी तो बिना जेवर वाली सदाचारिणी ही हो सकती है। तब महाराज ने बड़े स्नेह और करूण भाव से कहा – तो भैया संस्कृत और धर्म पढ़ना कभी नहीं छोड़ना। इस बातचीत से सुनने वालों पर जो प्रभाव पड़ा वह कभी विस्मृत नहीं हो सकता।

पूज्य वर्णीजी महाराज को जैन धर्म और संस्कृत प्राकृत भाषा को प्रचारित व प्रकाशित करने की कितनी ललक थी इसे शब्दों में कह पाना संभव नहीं है। उन्होंने पूरे जीवन भर अपार कष्टों को झेलते हुए इस धर्म का प्रचार–प्रसार ही नहीं किया अपितु एतदर्थ अपनी पूरी पर्याय ही लगा दी। अपने जीवन में इस दुर्लभ धर्म को अपनाकर अन्त समय से अनुपम समाधिकरण, मुनिव्रत धारण कर इस नश्वर शरीर के मोह को छोड़कर उत्तम गति में पहुंचे।

धन्य है यह महामानव जिसने इस पर्याय में जो इनके सम्पर्क में आया अपनी करूणा से सराबोर कर दिया। मेरा उनके चरणों में कोटि–कोटि प्रणाम।

● **श्रीगणेश दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय**
वर्णी भवन मोराजी लक्ष्मीपुरा, सागर (म.प्र.)

□□□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण परम्परा के गौरव पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी

सुभाषचन्द्र जैन पंकज

विद्वान लेखक ने पूज्य वर्णीजी की धर्मनिष्ठा सम्पन्न प्रभावशाली जीवन यात्रा का आध्यात्मिक एवं परम लोकोपकारी पक्ष सहजता और सरलता से प्रस्तुत कर हमें उपकृत किया है। - सम्पादक

एक मध्यम असाटी वैश्य परिवार में भी जन्म लेकर बालक गणेश के बाल मन पर, घर के सामने होने वाली नित्य जैन शास्त्र सभा में, नित्य प्रति पू. पिताजी के साथ जाने से ऐसा प्रभाव पड़ा कि सब जब नियम ले रहे थे, तब मात्र दस वर्ष की अवस्था में बालक गणेश ने भी रात्रि भोजन का त्याग कर दिया।

धीरे-धीरे जैन मन्दिर की स्वच्छता पूजा की प्रांजल विधि पूजन पाठ की संगीतमयता आदि क्रियाओं के प्रभाव ने बालक गणेश को जैन धर्म का सच्चा श्रद्धानी बना दिया उसी का तो परिणाम था कि ककेरे भाई के विवाह में बिरादरी की पाँत में बैठने से इंकार कर दिया।

माँ ने कहा बेटा मोय काहे लजात हो, माँ ने बहुत समझाया पर नहीं माने और कह दिया, मैं खुद ही अलग भओ जात हूँ और चल दिये ज्ञानार्जन के लिये, अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिये।

खुरई की शास्त्र सभा में उस समय के एक मान्य विद्वान का ये वाक्य हृदय में शूल की भांति बिंध गया कि तुम लोग जानते बूझते कुछ हो नहीं, केवल खान पान के लोभ में जैन हो जाते हो।

युवक गणेश ने ये वाक्य चुप-चाप सुन लिये और उसी दिन मन ही मन प्रतिज्ञा कर ली थी कि अब जैन धर्म का मर्म समझकर ही आपके सामने उपस्थित होउँगा, उस युग में जैन शास्त्रों के विधिवत् अध्ययन करने का कोई केन्द्र भारत में नहीं था।

इसलिये नगर-नगर, गाँव-गाँव कठिनाईयाँ झेलते हुए, एक दिन अनायास ही भेंट हो गई धर्म माता सिंधैन चिरौंजा बाई से जिनके ममतामय व्यवहार और मंगल आशीर्वाद ने बालक गणेश को वर्णी गणेश प्रसाद बना दिया, जिनके बारे में स्वयं वर्णी जी ने कहा था, मातु श्री अपने उत्थान का उपादान तो मुझे बनना था, पर आपके अनन्त फलदायक निमित्त को न भूल सकूंगा।

पूज्य वर्णीजी के जीवन संघर्षों की कहानी इतनी लम्बी है कि उन सभी घटनाओं का उल्लेख इस लेख में कर पाना संभव नहीं है किसी कवि की ये पंक्तियां उसकी संक्षिप्त और सटीक व्याख्या करती है

मैने हर गम खुशी में ढाला है
मेरा हर चलन निराला है।
लोग जिन हादसों से मरते हैं
मुझे उन हादसों ने पाला है।।

किसी भी कार्य के लिये दृढ़ सकल्प जीवन में सदैव फलदाई होता है। पू. वर्णीजी ने यह दृढ़ संकल्प कर लिया था कि जैन धर्म का मर्म समझकर ही दम लूगा, इसलिये बहुत कुछ मान अपमान के घूँट पिये।

जिसका एक ऐतिहासिक उदाहरण है पूज्य वर्णीजी जब उच्च शिक्षा के लिये बनारस पहुँचे, तो विद्यार्थियों की तरह पोथी लेकर पं. जीवनाथ शास्त्री के सामने उपस्थित हुए, नाम, धर्म पूछा गया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृकृत्या भीरू वर्णीजी ने कह दिया कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ पण्डितजी आग बबूला हो गया, अब्राह्मण और उस पर भी वेद निन्दक मेरे यहाँ कदापि नहीं पढ़ सकता।

नागरिकता एवं सभ्यता की रग–रग में भिदी साम्प्रदायिकता ने क्षण भर के लिये वर्णीजी को निराश कर दिया वे कोठी में बैठकर रूदन करनें लगे। और नींद आ गई स्वप्न देखा बाबा भागीरथ वर्णी को बुलाओ और श्रुतपंचमी को काशी में जैन पाठशाला का मुहुर्त कराओ काशी की जैन समाज के समक्ष व्याख्यान दिया, समाज के लोग बड़े प्रभावित हुए। कामा, के पं. श्री झम्मन लाल जी ने प्रथम सहायता के रूप में एक रुपया दिया। जिसके उस समय ६४ पोस्ट कार्ड आए, समाज के ६४ प्रमुख श्रीमानों पर पत्र डाल दिये गए विशुद्ध परिणामों से किया गया, सत प्रयत्न सफल हुआ।

स्व. बा.देवकुमार सिंह जी रईस आरा,

सेठ माणिक चंद जी जवेरी बम्बई बा. छेदीलाल जी रईस बनारस आदि ने प्रयत्न की प्रशंसा की, और हर प्रकार के सहयोग का वचन दिया। पं. अम्बादास जी शास्त्री को आदि अध्यापक तथा पं. बंशीधर जी इन्दौर पं. गोविन्दराय जी तथा अपने आपको आदि छात्र करके पू. वर्णी जी ने बनारस के श्री स्याद्वाद जैन विद्यालय का प्रारम्भ किया, जिसने जैन समाज की जागृति और सांस्कृतिक चेतना के लिये सबसे उत्तम और अधिक कार्य किया, स्याद्वाद दि. जैन विद्यालय बनारस ने जैन समाज की वही सेवा की है। जो सर सय्यद अहमद के मुस्लिम अलीगढ़ विश्वविद्यालय ने मुसलमानो की, पूज्य मालवीय जी के काशी विश्वविद्यालय ने वेदिकों की, और श्रद्धेय महात्मा गांधी के विद्यापीठों ने पूरे भारत की सेवा की पर जैन स्याद्वाद विद्यालय की ये विशेषता रही की इसने कभी जैन साम्प्रदायिकता के भावों को कभी उठने नहीं दिया। यही एक संस्था पूज्य वर्णीजी को अमर करने के लिये पर्याप्त है।

बंगाल तथा बुन्देल – खण्ड की बौद्धिक विषमता देख पू. वर्णीजी का मन तड़फ उठा, उन्होंने सोचा रथयात्रा–जलयात्रा आदि में हजारों रुपया खर्च करते हैं पर ज्ञान दान और शास्त्र दान का विचार भी नहीं करते, उन्होंने देखा भोजन, पान तथा लौकिक सदाचार को निभाकर भी समाज भाव आचार से दूर होता चला जा रहा है।

समाज के श्रीमानों, विद्वानों को प्रेरित करके पं. वर्णीजी ने, सागर, सादूमल, पपौरा, मालथौन, ललितपुर कटनी, मंडावरा, खुरई, बीना, बरूसागर आदि नगरों में जैन पाठशालों और जैन विद्यालयों की स्थापना की, इन्ही पाठशालाओं और विद्यालयों ने प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा देने में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन सब में सागर विद्यालय की सेवाएं तो चिरस्मरणीय है। जो विद्वज्जन आज प्रथम श्रेणी में भी उच्चतर माने जाते हैं। उनकी उदीयमान अवस्था के विकसित करने का श्रेय इन पाठशालाओं और विद्यालयों को ही प्राप्त है।

अपनी जन्म भूमि बुन्देल खण्ड से उन्हें बड़ा प्यार था समस्त बुन्देल खण्ड के होनहार छात्रों को खोज–खोज कर प्रेरणा देकर शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश कराया नई तथा पुरानी पीढ़ी का कोई भी विद्वान ऐसा नहीं है जो इस संत के उपकार से उपकृत न हो।

मानवीय करूणा के स्रोत वर्णीजी

दुखित पीड़ित मानवता के प्रति पू. वर्णी जी के हृदय में असीम प्रेम था, पर इन भावनाओं के रहते हुए भी उन्होंने धार्मिक और सामाजिक मर्यादाओं का सदैव ध्यान रक्खा। लोकापवाद का कारण कभी नहीं होने दिया एक ग्राम के कुए पर पानी पीकर जैसे ही चलने को तैयार हुए, एक मेहतर पानी पीने आ गया, करूणा की मूर्ति वर्णीजी ने उसे अपने ही लोटे से खींचकर पानी पिलाया, और अपनी मर्यादा की रक्षा हेतु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लौटा डोर भी उसे ही समर्पित कर दी।

एक प्रश्न – अक्सर लोग कहते हैं कि जितना चँदा पू. वर्णीजी ने समाज से करके सीधा शिक्षा संस्थाओं को भिजवाया, उससे तो एक जैन विश्वविद्यालय की स्थापना सहज ही हो सकती थी

समाधान – बुन्देल खण्ड के लिये विशेष और भारत के समस्त प्रान्तों में गाँव–गाँव नगर–नगर में ज्ञान की ज्योति जगाने का कार्य जो इन पाठशालाओं और जैन विद्यालयों ने किया वो कार्य एक विश्वविद्यालय से कदापि संभव नहीं था। आज के कितने ही समाज मान्य विद्वद्रत्न इन विद्यालयों की देन है।

धन्य है उस संत के महान उपकार। पू. वर्णीजी के जीवन की वो घटना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है जब मोटर की प्रथम सीट पर बैठने के लिये कन्डक्टर से झगड़ा हो गया तो राजऋषि ने सवारी का ही त्याग कर दिया – उस सन्दर्भ में समीक्षकों का ऐसा मत है कि यदि पू. वर्णीजी सवारी का त्याग न करते तो पैसे वाले भक्तगण अपनी प्रतिष्ठा और समाज सुधार के बहाने उन्हें हवाई जहाजों और कारों में लिये घूमते।

बिदाई के क्षण –

अपनी जन्मभूमि बुन्देल खण्ड से वर्णी जी को असीम प्यार था, गाँव–गाँव नगर–नगर घूम–घूमकर अपने पद की मर्यादाओं हेतु हर प्रकार के सर्दी गर्मी के कष्ट सहकर भी जन–जन के हृदय में ज्ञान की वो ज्योति जगाई कि महलों से झोपड़ियों तक पू. वर्णीजी की जय–जयकार हो उठी हर गरीब–अमीर पढ़े–अनपढ़े व्यक्ति के हृदय में यही भावना रहती थी कि पू. वर्णी जी की मुझ पर असीम अनुकम्पा है। हर व्यक्ति की बात को वो बड़ी आत्मीयता और अपने पन के भावों से सुनते थे। उसकी पीड़ा के उपचार भी यथा शक्ति करा देते थे। अपनो में रहकर ऐसी अपार श्रद्धा बिरलों को ही प्राप्त होती है। इस अपार श्रद्धा भक्ति गान सम्मान मोह ममता की मनुहारें, इन सबके बीच भी पू. वर्णी जी ने अपने आत्म कल्याण का लक्ष्य विस्मृत नहीं किया, और इन मोह ममता के सभी बन्धनों को तोड़कर पहुँच गए सैकड़ों मीलों की पदयात्रा करके अनन्तानन्त सिद्धों की निर्वाण भूमि मधुबन शिखरजी और उदासीन आश्रम ईसरी को अपनी साधना स्थली बना लिया,वैसे तो पूरे भारत से हजारो भक्त ईसरी आश्रम में आते ही रहते थे – पर बिहार के अनन्य भक्तों की भी एक लम्बी सूची है।

जिन्होंने पू. वर्णी जी के उपदेशों से प्रेरित होकर अपने कल्याण का मार्ग चुना। साधारण श्रावक के जीवन से पूज्यता के उच्च शिखर पर स्वपर कल्याण भावना लेकर मनुष्य कैसे पहुँच सकता है। पू. वर्णीजी का जीवन इसका जीता जागता उदाहरण था।

महायात्रा की पूर्ण तैयारी

समयसार का ऐसा अध्ययन और मनन पू. वर्णीजी ने किया, कि उसकी हर गाथा उनकी साँसों में बस गई थी उनके अनन्य भक्त विद्वानों का कथन अक्षरशः सत्य है कि पू. वर्णी जी आचार्य अमृतचन्द्र और आचार्य जयसेन के पश्चात् आचार्य कुन्द–कुन्द की वाणी का इतना तल स्पर्शी अध्ययन किसी के द्वारा नहीं हुआ जितना पू. वर्णी जी के द्वारा किया गया वे समयसार के एक मात्र अधिकृत अध्येता माने जाते थे। जिन्होंने लगातार आधी सदी तक समयसार की। एक–एक गाथा को कंठस्थ तो किया ही था हृदयंगम भी किया था।

तभी तो सारे मोह ममता के समस्त बंधनों को तोड़कर पू. वर्णी जी ने सल्लेखना व्रत ले लिया उपस्थित विद्वानों के प्रत्यक्ष दर्शी कथनानुसार सिद्धांताचार्य पं. कैलाश चन्द्र जी शास्त्री की प्रार्थना पर कि एक बार शरीर को निरोग और शक्ती सम्पन्न करने की अनुकूलता को अवसर प्रदान करना चाहिए। परन्तु सल्लेखना के प्रति बाबाजी के अडिग निश्चय में कोई परिवर्तन करा लेना संभव न हुआ उनका संकल्प अकम्प

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

था और दृढ़ता अचल थी।

पत्रों में जब प्रकाशित हुआ की पू. वर्णीजी ने सल्लेखना ले ली है। तो आश्रम के विशाल आँगन में विद्वानों, श्रीमानों आदि सभी भक्तों का विशाल जन समूह उस पू. संत के अन्तिम दर्शनों को उमड़ पड़ा सिद्धांताचार्य पं. कैलाश चन्द्रजी शास्त्री पं. बंशीधर जी न्यायालंकार, पं. नीरज जी, ब्र. सुरेन्द्र जी आदि सभी त्यागीगणों की देखरेख में दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार सल्लेखना की सभी क्रियाएं चल रही थीं। धीरे–धीरे उन सभी वस्तुओं का त्याग कर दिया गया, जो थोड़ी बहुत अभी तक आहार में ले रहे थे।

मात्र जल पर ही जीवन यात्रा चल रही थी प्रत्यक्ष दर्शी विद्वानों के कथनानुसार देहावसान से १६ घन्टे पूर्व दि. ५.६.६१ को उनकी सहर्ष अनुमति पूर्वक जल के त्याग के साथ ही उनके वस्त्रों का भी त्याग कराकर उन्हें दिगम्बर मुद्रा धारण कराई गई। श्री १०८ मुनि गणेश कीर्ति उनका दीक्षा का नाम घोषित किया गया जीवन की अन्तिम साँस तक शरीर अपनी पीड़ा के प्रकोप दिखाता रहा। पर संत के मुख मण्डल पर रंचमात्र भी किसी विषाद की रेखा नही थी – अपितु अपूर्व आभा चमक रही थी। रात्रि एक बजकर बीस मिनट पर १०८ मुनि गणेश कीर्ति महाराज की आत्मा ने इस नश्वर देह का त्याग कर अपनी महायात्रा के लिये प्रस्थान कर दिया

सभी भक्त अश्रुपूरित नेत्रों से शरीरी का अन्तिम संस्कार कर, कसक भरी पावन स्मृतियाँ हृदय में लिये अपने–अपने घरों को लौट गए। पू. वर्णी जी का सम्पूर्ण जीवन अनुकरणीय है। उसके यथा शक्ति कुछ अंश ग्रहण कर हम अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं इन्हीं पवित्र भावनाओं के साथ।

● पंकज प्रकाशन मन्दिर
कृष्णा नगर, मथुरा (उ. प्र.)

□□□

अ. भा. दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् के
स्वर्ण जयन्ती समारोह के अवसर पर
हमारी हार्दिक शुभकामनायें।

– सुरेन्द्रकुमार जैन

नन्दराम सूरजमल

1017, चावड़ी बाजार, दिल्ली–110006

☎(011) 3277620, 3268608

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहाँ है हमारी गुदड़ी का वह लाल – गनेसू

प्रो. डॉ. विद्यावती जैन
पी.एच.डी., डी. लिट्

अ.भा. दिग. जैन विद्वत्परिषद् की स्वर्णजयन्ती के सुअवसर पर उसकी स्थापना के स्वप्नदृष्टा प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद पण्डित गणेशप्रसादजी वर्णी के महनीय अवदानों पर लिखित एक मर्मस्पर्शी शब्दचित्र। - सम्पादक

दिनांक १७/३/६६ का प्रातःकाल था। हमारी गाड़ी हँसेरा/ग्राम की ओर दौड़ी जा रही थी। मन बेहद भावुक हो रहा था। यही तो था वह जनपद, वही ग्राम और वही सात्विक परिवेश, जहाँ अ.भा.दिग. जैन विद्वत् परिषद् की स्थापना के स्वप्न दृष्टा, प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद पं. गणेश प्रसाद जी वर्णी का जन्म हुआ था। एक के बाद एक उनके पावन–जीवन की वे घटनाएँ मेरी स्मृति के झरोखों से झाँकने लगी। जैनेतर असाटी–वैश्य के कुल में जन्म लेकर भी जो प्रतिदिन जैन–मन्दिर में देवदर्शन करने जाता, जैन पण्डितों के प्रवचन सुनता और महावीर–वाणी के अनुसार आचरण करता और इस प्रकार अपनी आचार–निष्ठा, सात्विक सहजता, गृहस्थी के प्रति अनासक्ति और साधना–विधि से न केवल अपने माता–पिता, अपितु ग्राम–वासियों के लिए भी अचम्भे में डालता रहता।

......मैं भावनाओं के अथाह समुद्र में डूबती उतराती हुई चली जा रही थी। मैंने अनुभव किया कि मेरे कर्ण–गह्वरों में चारों ओर से जैसे दुन्दुभि वाद्यों का निनाद हो रहा है। मैं जैसे–जैसे आगे बढ़ती जा रही थी, ऐसा अनुभव कर रही थी कि उस जनपद का कण–कण मुझसे मानों पूछ रहा हो कि आप कहाँ किसे खोजने जा रही हैं? पलाश की कोंपलें, करौंदी के नव–पुष्प, लहलहाते खेत, आम्रमंजरियों की मादक सुरभि, नहरें, ताल–तलैयाँ, टेंकरियाँ यहाँ तक कि वहाँ के पशु–पक्षी सभी मुझ से बार–बार प्रश्न कर रहे हैं कि कहाँ है हमारा वह लाल गनेसू? जो हमारा प्राणों से प्यारा, दुलारा बेटा था, तुम लोगों ने उसे मुरैना, सागर, बीना, कटनी, काशी, मिथिला में पढ़ने के नाम पर बुला तो लिया, किन्तु फिर हमारे उस लाल को वापिस यहाँ नहीं आने दिया ? क्या कसूर था हमारा ? जो हमें उसके विछोह में तरसते रहने को छोड़ दिया गया। क्या उसे पण्डित बनाने के लिए हमारा यह गाँव तथा यहाँ का जैन–मन्दिर काफी नहीं था। भला मैं उनके भावावेश से भरे हुए उन अगणित प्रश्नों के क्या उत्तर देती ? फिर भी मैंने उन्हें अपने सन्तुलित संक्षिप्त उत्तर में यही कहा कि –

"तुम्हारी गुदड़ी का लाल गनेसू" दुनियाँ के अजीबोगरीब व्यक्तियों में से अकेला था। उसकी शानी का समर्पित वृत्ति निष्पक्ष समाज–सेवक आपाद मस्तक राष्ट्रभक्त, शिक्षा प्रचारक एवं गरीबों का मसीहा खोजने पर भी बड़ी मुश्किल से मिलेगा। वह जैन अध्यात्म का असाधारण मर्मज्ञ था। आपकी धरती–बुन्देलभूमि का वह पहला गौरव–पुत्र था, जिसने वायुमण्डल में व्याप्त म. महावीर की सर्वोदय वाणी की मधुर आवाज का केवल सुना ही नहीं, बल्कि उसे अपने जीवन में उतारा भी। वह पहला अध्येता साधक था, जिसने आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, उमास्वामी, स्वामी कार्तिकेय, आचार्य अकलंक एवं विद्यानन्दि के ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया और प्राकृत तथा जैन–विद्या जगत का प्रथम न्यायाचार्य बनकर जिसने एक विशिष्ट कीर्तिमान स्थापित किया। उसकी प्रखर–प्रतिभा का द्योतक यह प्रसंग क्या इस जनपद किंवा समग्र बुन्देल खण्ड की गौरववृद्धि के लिए पर्याप्त नहीं ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तुम्हारे इस लाड़ले गनेस को इस बात की बड़ी चिन्ता थी कि जिस जन–भाषा–प्राकृत में अहिंसा–सुस्कृति के प्रचारक म. महावीर ने सर्वोदयी उपदेश दिए और जिस भाषा में कुन्दकुन्द जैसे महान् तपः पूत आचार्यों ने लोकहित की दृष्टि से अनेक ग्रन्थ लिखे तथा परवर्ती आचार्यों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड़, तमिल, राजस्थानी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में अनेक उच्चश्रेणी के ग्रन्थों का प्रणयन किया, वे मन्दिरों के वेष्ठनों में ही बन्द हैं, इस कारण उनका आम जनता में प्रचार प्रसार कैसे सम्भव होगा ? इसके लिए उन्होंने विद्यानगरी काशी में स्याद्वाद महाविद्यालय तथा इसी प्रकार भारत के अनेक नगरों में जैन विद्यालय, पाठशालाओं एवं सान्ध्यकालीन पाठशालाओं की स्थापना कराई। महाविद्यालयों में जैन धर्म–दर्शन सम्बन्धी प्राकृत–संस्कृत के प्रमुख ग्रन्थों को पाठ्य–ग्रन्थों के रूप में स्वीकृत कराया। यही नहीं, पं. मोती लाल नेहरू (प्रधान मंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू के पूज्य पिता) को प्रेरित कर तथा बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के संस्थापक महामना पं. मदनमोहन मालवीय को प्रभावित कर उक्त विश्वविद्यालय में भी जैन दर्शन विभाग की स्थापना कराई। उसके बाद तो यह सिलसिला सर्वत्र ऐसा बढ़ा कि जैनधर्म एवं जैन–विद्या के प्रचार प्रसार के लिए मानों समुद्री ज्वार ही उछालें मार रहा हो।

अगले दो–तीन दशकों में बुन्देलखण्ड से ही उच्चश्रेणी के लगभग दो सौ विद्वान् तैयार होकर जिनवाणी के प्रचार प्रसार में कार्यरत हो गए। मालथौंन जैसा छोटा सा ग्राम भी पण्डितों की खान के रूप में प्रसिद्ध हो गया। जहाँ से ४६ से अधिक पण्डित तैयार हुए। पं. देवकी नन्दन जी, पं. बंशीधर जी व्याकरणाचार्य,पं. फूलचन्द्र जी सि. शास्त्री, पं. महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य, पं. रामप्रसादजी, पं. कमलकुमार जी व्याकरणाचार्य, पं. पन्नालालजी सहित्याचार्य, पं. दरबारीलाल जी कोठिया न्यायाचार्य, प्रो. खुशालचन्द्र जी गोरावाला, पं. परमेष्ठीदासजी, पं. जीवन्धरजी, पं. बालचन्द्रजी, पं. परमानन्दजी, पं. पन्नालालजी काव्यतीर्थ, पं. शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, पं. मुन्नालालजी, पं. मूलचन्दजी, पं. क्षेमन्धरजी, पं. क्षेमंकरजी, पं. बालाप्रसाद जी, पं. सुमेरचन्द्रजी दिवाकर, पं. हजारीलाल जी, पं. हीरालालजी, प्रो. डॉ. हीरालालजी, पं. जगन्मोहनलाल जी, पं. बारेलालजी, पं. दयाचन्द्रजी, डॉ राजाराम जैन, डॉ हुकुमचन्द्र जी भारिल्ल, पं. हीरालाल जी कौशल, पं. प्रकाश हितैषी, पं. रतनचन्द्रजी भारिल्ल, पं. चुन्नीलालजी पं. अमृतलालजी शास्त्री, प्रो. उदयचन्द्र जी सर्वदर्शनाचार्य आदि कितने विद्वानों के नाम गिनाऊँ जिन्हें केवल बुन्देलभूमि ने जन्म दिया। इनके लिए प्रेरक–सूत्र तो तुम्हारा लाल गनेस ही था। प्रथम श्रेणी की इस विद्वत्परम्परा के विद्वानों ने भी अमुक विद्वानों को तैयार किया और इस प्रकार वर्तमान में हर स्तर के सैकड़ों, हजारों विद्वान् केरल से काश्मीर तथा पूर्व से पश्चिम तक जैन विद्या के प्रचार प्रसार में संलग्न हैं। यह क्या तुम्हारी गुदड़ी के लाल गनेस की गौरवपूर्ण देन नहीं है?

तुम्हारा लाल गनेसू जो बाद में पं. गणेशप्रसाद वर्णी के नाम से प्रसिद्ध हुए, उनका व्यक्तित्व बड़ा ही आकर्षक था, वाणी मधुर, ओजस्वी तथा उनके प्रवचनों में ऐसा चमत्कार भरा रहता था कि क्या मुस्लिम, क्या ईसाई, क्या हिन्दू, सिक्ख और जैन और क्या दलित, पतित, पीड़ित तथा देशी और विदेशी, सभी तो प्रभावित होते थे और तहेदिल से उनकी सराहना किया करते थे।

पूज्य वर्णी जी राष्ट्रभक्त भी कम न थे। एक बार जब वे अपने प्रवास के क्रम में जबलपुर पहुँचे, (सम्भवतः यह घटना सन् १९४७–४८ की रही होगी) उसी समय महान देश भक्त क्रान्तिवीर नेताजी सुभाषचन्द्र बोस द्वारा स्थापित आजाद हिन्द फौज के सेनानियों की सहायता के लिए वहाँ एक विशाल सभा का आयोजन किया गया। मध्यप्रदेश के गृहमन्त्री माननीय पं. द्वारिकाप्रसाद मिश्र (कृष्णायन जैसे महाकाव्य के प्रणेता) उसकी अध्यक्षता करने वाले थे। उन्होंने पूज्यपाद पं. गणेश प्रसाद जी वर्णी को भी उसमें पधारने का सादर अनुरोध किया। तब वे उसमें पहुँचे ही नहीं, बल्कि वहाँ उन्होंने नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के सत्साहस की भरपूर प्रशंसा की तथा अपना ओजस्वी भाषण भी किया और जब उनके रणधोरी साहसी सेनानियों के लिए मुकदमा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लड़ने के लिए चन्दा देने का प्रश्न उठा, तो उन्होंने अपने तन–बदन का रक्षक एक मात्र उत्तरीय भी आजाद हिन्द फौज को दान में दे दिया और सभा में स्वयं ही अर्धनग्न हो गए। उससे उपस्थित जनता इतनी प्रभावित हुई कि उस दानवस्त्र के खरीददारों में होड़ लग गई। आखिर में खद्दर की वह छोटी चादर भी उस समय ३००० रुपयों (जो वर्तमान में लगभग ३ लाख रुपये के समकक्ष होगी) में नीलाम हुई और वह राशि आजाद हिन्द फौज की सहायता के काम आई। उस समय पं. द्वारिका प्रसाद जी का कण्ठों का अवरोध करा देने वाला वह भाषण उनके समकालीन नेताओं को अभी याद है।

......तुम्हारा लाल गनेसू जब पढ़–लिखकर योग्य और प्रौढ़ हुआ तभी एक आदर्शवादी संगठन के अभाव के कारण समाज में जैन विद्वानों की दुर्गति देखकर वह चिन्तित हो उठता था। सभी विद्वानों को सुसंगठित कर उन्हें एक छाते के नीचे लाने का दृढ़ संकल्प किया और अपने विद्वान् मित्रों से एक विद्वत्परिषद् की स्थापना की गम्भीर चर्चा की। सन् १९४४ की वीर शासन जयन्ती का २५००वाँ वह पावन दिवस धन्य है जब कलकत्ता जैसी महानगरी में उसके मन की मुराद पूर्ण हुई और समाज के मुकुटमणि कहे जाने वाले अनेक विद्वानों की उपस्थिति में एक अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् की स्थापना हुई। उसका संविधान तैयार किया गया, उसके उद्देश्य निर्धारित किए गए और उनकी शीतल–छाया तले जैन समाज के नव–पुनर्जागरण, नैतिक उत्थान, महिला जागृति, नवीन पीढ़ी के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम, धर्म–प्रभावना तथा आगमों के उद्धार सम्बन्धी विविध कार्यक्रम तैयार किए गए। इस विद्वत्परिषद में तत्कालीन समस्त विद्वान् उसके सदस्य हुए, श्रीमन्तों ने उसे सभी प्रकार की सहायताएँ प्रदान कीं। समाज ने उनके कार्यक्रमों के आयोजनों में रचनात्मक सक्रिय सहयोग किया। विद्वानों ने भी कुरीतियों के बहिष्कार, शास्त्रीय शंका–समाधान, प्रतिष्ठा–कार्यों, मंगल–प्रवचनों तथा भाषणों आदि के द्वारा जन–कल्याण किया।

वर्तमान कालीन विद्वानों की श्रृंखला भले ही पूज्य वर्णी जी की चौथी एवं पाँचवी पीढ़ी की है, किन्तु उन सभी के लिए पूज्य वर्णी जी ही एक आदर्श–प्रेरक एवं आराध्य हैं। उन्होंने जैन समाज के बहुआयामी विकास के लिए जो कुछ किया, वह तुम्हारे जनपद अथवा बुन्देलखण्ड प्रान्त के लिए ही नहीं बल्कि समस्त जैन–समाज एवं प्राच्य विद्या जगत् के इतिहास का भी एक रत्नखचित स्वर्णिम अध्याय माना जायगा।

.......तुम्हारा जनपद – बुन्देलखण्ड भी भारत का एक अंग है, अतः सम्पूर्ण भारत के उत्थान में उसका उत्थान भी स्वतः ही निहित है। जब भी कोई विशेष प्रसंग आता है, तो बाहर की जनता यही तो कह उठती है कि बुन्देलखण्ड के हँसेरा ग्राम के महान् सपूत पं. गणेशप्रसाद वर्णी ने अपने जीवन में ही विविध आयामी जितने भी गौरवास्पद महान् कार्य किए, उतने कार्य पिछली अनेक सदियों में मिलकर भी नहीं हुए होंगे। सचमुच ही कितने कमाल का था, तुम्हारा वह लाल गनेसू? उसके कारण इस जनपद का कण–कण धन्य हो गया।

मेरी यात्रा की मंजिल नजदीक आती जा रही थी अतः विचारों के उमड़ते सैलाब को बरबस रोक देना पड़ा किन्तु उस जनपद के वायुमण्डल से चलते–चलते भी पूछ ही लिया कि तुम्हारा लाल गनेसू यदि इसी ग्राम में तुम्हारे ही बीच में रह गया होता, तो क्या जनजागरण के इतने बहुमुखी रचनात्मक कार्य सम्पन्न हो सके होते? लाल गनेसू के कार्यों का जब भी इतिहास लिखा जायगा, हँसेरा ग्राम, हँसेरा जनपद और तुम सभी का नाम भी बड़े ही आदर एवं गौरव के साथ लिया जायगा।

● **संयोजिका - महिला समिति**
अ.भा.दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्
महाजन टोली नं.२, आरा (बिहार) ८०२३०१

□□□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्व. डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी

✍ कुन्दनलाल जैन

जिनको जान पाना नव पीढ़ी को प्रायः असंभव होता अत्यन्त प्रखर प्रतिभा के धनी एवं शोधनिष्ठ इतिहासरत्न एक ऐसे विद्वान का परिचय हम सभी को कराकर सचमुच ही लेखक ने अति स्तुत्य कार्य किया है। - सम्पादक

नियति कभी–कभी बड़ा उपहास करती है कि जिनसे समाज, धर्म, देश और संस्कृति को बड़ी–बड़ी आशाएं लगी रहती हैं ऐसे युग मनीषियों को वह अचानक ही हमारे हाथों से छीन ले जाती है और हम टकटकी लगाये विवश से उसकी निष्ठुरता को निहारते रह जाते हैं ऐसे ही एक श्रेष्ठ मनीषी स्वर्गीय डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी को अब जैन समाज के होनहार इतिहास विशेषज्ञ को ढाई दशक पूर्व विधि ने हम से छीन लिया था वे बड़े प्रतिभाशाली, मृदुभाषी और सौम्य स्वभाव वाले अध्ययन शील मनीषी थे।

सन् १९१७ की गांधी जयंती के दिन जिला जबलपुर (म. प्र.) के सिलौंडी नामक ग्राम में स्वर्गीय चौधरी फत्तीलाल जी जैन के घर जन्मे श्री गुलाबचन्द्र के फूल की भांति विकसित हुए और अपनी यंत्र रूपी सुगन्धि से सारे समाज को आप्यायित किया। श्री गुलाब चन्द्र जी अपने ग्यारह भाई बहिनों में से तृतीय नं. की संतान थे। आपकी प्रारंभिक शिक्षा ग्राम में ही हुई तत्पश्चात् जैन शिक्षा संस्था कटनी में अध्ययन किया जहां स्व. पंडित जगन्मोहन लालजी जैसे स्वनाम धन्य विद्वान की शिक्षा दीक्षा से अपनी प्रतिभा को पल्लवित किया और सिद्धान्त शास्त्री भी तथा काव्यतीर्थ जैसी महनीय उपाधियों से अलंकृत हुए तदुपरान्त सन् १९३६ में पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी द्वारा आरोपित शीर्षस्थ स्याद्वाद विद्यालय वाराणसी में प्रविष्ट हुए और वहां से व्याकरणचार्य एवं साहित्य रत्न जैसी उपाधियों से विभूषित हुए साथ ही काशी विश्वविद्यालय से मेट्रिक से लेकर एम.ए. तक की परीक्षाएं उत्तीर्ण की तत्पश्चात् भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी में सेवारत हो गये।

ज्ञानपीठ में रहते हुए आप तत्कालीन इतिहास मर्मज्ञ प. जयचंद्र जी विद्यालंकार के सम्पर्क में आये और भारतीय इतिहास परिषद् में रहकर भारतीय इतिहास की शोधखोज में तल्लीन हो गये। यहां से कुछ अनुभव ग्रहण कर जैन इतिहास और पुरातत्त्व तथा संस्कृति की शोध खोज के लिए आप पार्श्वनाथ जैन विद्याश्रम तथा सन्मति जैन निकेतन वाराणसी में आ गये और यहां रहकर सन् १९५४ में आपने काशी विश्वविद्यालय से पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त की। आप पार्श्वनाथ विद्याश्रम के दूसरे शोध स्नातक थे। आपकी प्रतिभा एवं कार्यशैली से स्व. डॉ. हीरालाल जी जैन तथा स्व. नाथू राम जी प्रेमी जैसे विद्वद्वरेण्य मनीषी गण भलीभाँति परिचित एवं प्रभावित थे।

सन् १९५२ में आप बिहार प्रान्त की शासकीय सेवा में चयनित हो गये और नव नालंदा महाबिहार नालंदा के विशाल पुस्तकालय के अधीक्षक बने तथा उस पुस्तकालय को भलीभाँति सजा संभालकर आधुनिक पद्धति से सुगठित किया साथ ही प्राकृत, पालि, संस्कृत तथा भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के अध्यापन तथा शोध पथ प्रदर्शन किया।

इस बीच आपका गोटे गांव निवासी स्व. साह श्री परमल जी जैन की सुपुत्री कुसुम बाई से पंणिग्रहण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कार हुआ जिन से तीन पुत्र और दो पुत्रियां हुईं जिनमें तीसरे नं. के डॉ. सुनील जैन दिल्ली के विख्यात कागज व्यापारी हैं। दुर्भाग्य से चौधरी जी के एक पैर में घुटने से नीचे लकवा लग गया थां अतः वे लाठी लेकर चला करते थे, हम लोक स्याद्वाद विद्यालय में उन्हें आदर से दण्डी जी कहकर संबोधन किया करते थे। डा. चौधरी बड़े ही मिलनसार और निरभिमानी विद्वान थे।

सितम्बर १६६० से उभय प्राकृत जैन शोध प्रतिष्ठान मुजफ्फरपुर (बिहार) के प्राध्यापक पद से जैन दर्शन एवं प्राकृत भाषाओं का अध्यापन करने लगे और शोध पथ प्रदर्शक बन गये। सन् १६६५ में आयकर संस्कृत शोध संस्थान मिथिला (बिहार) में स्थानान्तरण हो गया जहां भाषा विज्ञान तथा संस्कृत के न्याय, काव्य, व्याकरण आदि विषयों के अध्यापन के साथ-साथ शोध पथ प्रदर्शन करते रहे। सन् १६६७ में आपका पुनः नव नालंदा महाविहार नालंदा में स्थानान्तरण वरिष्ठ प्राध्यापक के रूप में हो गया और पालि, प्राकृत, बौद्ध दर्शन और बृहत्तर भारत का इतिहास जैसे विषयों का अध्यापन करते रहे। सन् १६५४ से ही वे विविध विश्वविद्यालयों की स्नातक और स्नातकोत्तर परीक्षाओं एवं शोध परीक्षाओं में परीक्षक भी रहे। बाद में वे प्राकृत जैन शोध संस्थान वैशाली (बिहार) के निदेशक पद को भी सुशोभित करते रहे।

इतने ही अल्प काल में ही उनकी विद्वत्ता पूर्ण एवं प्रामाणिक निम्न रचनाएं प्रकाशित हुई –

(१) पुराणसार संग्रह (दो भाग) संपादन एवं अनुवाद

(२) जैन शिला लेख संग्रह भाग दो और तीन में प्रकाशित ८५० शिला लेखों की विस्तृत प्रस्तावना एवं अनुक्रमणिका

(३) कन्नड़ भाषा के ५३ जैन शिलालेखो का देवनागरी करण, संपादन तथा सारानुवाद

(४) अंग्रेजी भाषा में पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नादर्न इंडिया फ्राम जैन सोर्सेज यहीं इनकी थीसिस थी पी.एच. डी. के लिए

(५) जैन काव्य साहित्य इतिहास (जैन इतिहास का वृहद इतिहास छटा भाग)

(६) जैन संस्कृति साहित्य, एवं पुरातत्त्व पर पत्रिकाओं में शोधपूर्ण अनेकों को प्रामाणिक विस्तृत अनेकों शोध निबन्ध प्रकाशित हुए।

४ मई १६७४ का वह बड़ा मनहूस दिन था जब डा. चौधरी कहीं प्रवास पर जा रहे थे कि अचानक ही स्टेशन पर दिल का दौरा पड़ा और वे अपने पारिवारिक जनों को तथा संपूर्ण विद्वत्समाज को विलखता हुआ छोड़कर दिवंगत हो गए। उनकी विधवा पत्नी आज भी रूग्णावस्था में मृत्यु से जूझती हुई अपने पुत्र के पास वैधव्य जीवन बिता रही है।

आज दि. जैन विद्वत् परिषद के स्वर्ण जयंती महोतसव के पुण्य अवसर पर सरस्वती के परम उपासक स्व नाम धन्य प्रतिभाशाली प्रखर शोधी खोजी विद्वान को भावभीनी श्रद्धांजलि समर्पित कर हम उनका अभिनन्दन कर रहे हैं क्योंकि उनका न कभी स्तुति गान हुआ है न ही प्रशस्ति वाचन, न कोई पुरस्कार, न कोई अभिनन्दन ग्रंथ, न कोई सम्मान समारोह अतः यही सब कुछ मानकर हम उनकी वंदना करते हैं।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

● श्रुत- कुटीर
६८ विश्वास नगर,
शाहदरा - दिल्ली ३२

□□□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त

डा. श्रीमती सूरजमुखी जैन

जैन कर्म सिद्धान्त निमित्त-नैमित्तिक दृष्टि को उजागर करता हुआ वस्तु स्वातन्त्र्य को ही अभिव्यक्त करता है। कर्म संयोग होने पर आत्मा पराधीन बंध और कम्र से मुक्त होने पर स्वाधीन मुक्त हो जाता है। विदुषी लेखिका ने आत्मा को कर्म बंधन से मुक्त होने के लिये आवश्यक विवेचन सरल और सुबोध शैली में किया है। -सम्पादक

कर्म सिद्धान्त का विश्लेषण प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में किया गया है। शुभ कर्म का फल सुख तथा अशुभ कर्म का फल दुःख भी सभी भारतीय दर्शनों में प्रतिपादित है। किन्तु जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त का जितना वैज्ञानिक विवेचन किया गया है उतना अन्यत्र नहीं है। जैन दर्शन में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आंकाश और काल छः द्रव्यों[१] तथा जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का वर्णन किया गया है।[२] जीव पुद्गल आदि छहों द्रव्य उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य से युक्त होते हुए भी अपने स्वरूप को छोड़कर पररूप नहीं होते।[३]

उक्त छहों द्रव्यों में जीव (आत्मा) प्रमुख द्रव्य है। शुद्ध निश्रय नय से तो आत्मा सदैव वीतराग चिदानन्द, ज्ञानदर्शन स्वभाव वाला है।[४] किन्तु व्यवहार नय से वह कर्मों के कारण अनेक प्रकार से रागद्वेषादि रूप परिणमन करता है, इसीसे वह पुण्य और पाप के बन्धन में बंधता है।[५] यह आत्मा कर्मबन्धन के कारण अनादिकाल से संसार में भटक रहा है और जन्म, मरण, रोग, शोक, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग आदि अनेक प्रकार के कष्ट सह रहा है। मिथ्यात्व के कारण वह सांसारिक सुखों को अपना सुख तथा सांसारिक दुःखों को अपना दुख समझता है। जीव और कर्म का यह सम्बन्ध अनादि है। न तो जीव कर्मों को उत्पन्न करता है, और न कर्म जीव को उत्पन्न करते हैं, क्योंकि दोनों अनादि हैं।[६]

अन्य दर्शनों के समान जैन दर्शन में कर्म को केवल क्रिया के रूप में नहीं अपितु एक पदार्थ के रूप में माना गया है।[७] जोइन्दु मुनि कहते हैं – रागद्वेष आदि मानसिक विकारों के कारण जो पुदगल परमाणु आत्मा से सम्बद्ध हो जाते हैं वे ही कर्म हैं और वे ही संसार परिभ्रमण के कारण हैं।[८] कर्मों के कारण ही आत्मा

---

१. तत्वार्थसूत्र, पंचम अध्याय
२. तत्वार्थ सूत्र प्रथम अध्याय४
३. अण्णदतिएण अण्णदत्तरस णो वीरदे गुणपपादो।
तम्हा तु सन्तदन्ता उण्णजन्ते सहाकेण।समयसार गाथा ३७२
४. आत्मा कि ज्ञानदर्शन सुखस्वभावः संसारावस्थायामंनादि कर्म कलेश संकोचितान शक्ति।
पंचास्तिकाय तत्वपदीविका वृत्ति
५. एहु ववहारे जीवद हेतु लहेविणु कम्मु। बहुविहभावे परिणमद तेण जिधम्मु। परमाप्रकाश १६०
६. जीवहं कम्म अणाइ जिटा जणियद कम्मु ण तेण।
कम्मे जीट वि जणिकणवि, दोहिं वि आइणानेठा। वही
७. पौंडलिकं कर्म आत्मनः पारतन्य निमित्तत्वालिग लाखित्।
८. विसय कसायहं रगियहं जे अणया लग्गानि। परमात्मा प्रकाश तथा पुरुषार्थ
जीवपए सहं जोइया, ते जिण कम्भ अणन्ति। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय १२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मन, इन्द्रिय तथा संपूर्ण शुभ–अशुभ संकल्प विकल्पों से युक्त होकर नरकादि चारों गतियों के सन्ताप सहता है। सुख–दुःख तथा बन्ध मोक्ष आदि सभी कर्मों के द्वारा होते हैं। आत्मा तो केवल ज्ञाता दृष्टा है।[१] वह स्वयं कर्मों का कर्ता भी नहीं है।[२]

ये कर्म प्रबल हैं, इनका विनाश कठिन है, ये चिकने हैं, भारी हैं तथा वज्र के समान अभेद्य हैं।[३] यही ज्ञानमय आत्मा को विचलित कर खोटे मार्ग में लगाते हैं और भव वन में भटकाते हैं। मिथ्यात्व के कारण जीव (आत्मा) कर्मों के किये हुए कार्यों को ही अपने कार्य समझ लेता है।[४]

संसार के सभी जीव कर्मों के बन्धन में बंधे हुए हैं, इसी कारण चौरासी लाख योनियों में भटकते और दुःख सहते रहते हैं।[५]

आत्मा का कर्म पुद्गलों के साथ सम्बन्ध ही बन्ध कहलाता है। यह बन्ध दो प्रकार का है – भाव बन्ध और द्रव्यबंध। जिन रागद्वेष और मोह आदि विकारी भावों से कर्म का बन्ध होता है, वे भावबन्ध तथा कर्म पुद्गलों का आत्मप्रदेशों से सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध है। द्रव्यबंध आत्मा और पुद्गलों का सम्बन्ध है। किन्तु दो द्रव्यों का संयोग ही हो सकता है, तादात्म्य अर्थात् एकत्व नहीं।[६]

कर्म पुद्गलों के आ जाने से आत्मा के परिणमन में विलक्षणता आ जाती है और आत्मा के निमित्त से कर्म पुद्गलों की परिणति विलक्षण हो जाती है। पर इतने माप से इन दोनों के सम्बन्ध को रासायनिक मिश्रण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जीव और कर्म के बन्ध में दोनों की एक जैसी पर्याय नहीं होती। जीव की पर्याय चेतनरूप है और पुद्गल की अचेतन रूप। पुद्गल का परिणमन रूप,रस, गन्ध और स्पर्शादि रूप से होता है, और जीव का चैतन्य के विकास रूप से।[७] नूतन बंधे हुए कर्मपुद्गलों का पुराने बँधे हुए कर्म शरीर के साथ रासायनिक मिश्रण हो सकता है किन्तु आत्मप्रदेशों से उनका बन्ध रासायनिक कदापि नहीं हो सकता।[८] आत्म प्रदेशों के साथ इन कर्मों का सम्बन्ध मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के कारण होता है। यही आस्रव (कर्मों के आत्मप्रदेशों में आने के द्वार) हैं।[९] आस्रव दो प्रकार के हैं – भावास्रव तथा

---

१. पंचवि इन्दिय अण्णु मणु अण्णु ति सयताविभाव।
जीवहं कम्मई जणिय जिंय, अण्णु वि चडगइताव।।
सुक्खु वि दुक्खु वि वहुविह द जीवहं कम्मु जणेइ।
अप्पा दे क्खद गुणइ पर विच्छद एक भणेइ।।
बंधुवि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहं कम्म जणेइ।
अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिच्छद एवं भणेइ।। परमात्मा प्रकाश ६३,६४,६५

२. अप्पा पंगुहं अणुह रह अप्पुण जाइण एइ। वही,६६

३. कम्मइं दिढ़ घणचिक्कणइं गुरुवइं वजसभाइ।
वाणु वियक्खणु जीवददं उप्पहिं पादहिं ताडं।

४. जिद मिच्छत्रें परिणमिदं विवरिक बंधु मुणेद।
कम्मविणिम्मिय भावड़ा ते अप्पाण भणेइ।।

५. सोणत्थित्ति पएसो चदरासी लक्खजोणिमज्झम्मि।
जिणवयणं ण लहन्तो जत्थ ण डुलडुल्लिओ जीओ।।

६. जैन दर्शन पृ.२२४

७. जैनदर्शन , पृ. २२५

८. वहीं, पृ.२२५

९. तत्वार्थसूत्र, अष्टम अध्याय,१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्यास्रव। जिन मिथ्यात्व, अविरति आदि आत्मपरिणामों से कर्मपुद्‌गल आत्मा में आते हैं, वे भावास्रव हैं तथा आत्मा में कर्मपुद्‌गलों का आ जाना द्रव्यास्रव है।[१]

बन्ध चार प्रकार के होते हैं – प्रकृति बन्ध प्रदेशबन्ध स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध।[२] ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ कर्म प्रकृतिबन्ध हैं।[३] ये आठों कर्म आत्मा के स्वाभाविक गुणों को आच्छादित कर देते हैं। आत्मा में स्वभावत केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख, क्षायिक सम्यक्त्व,सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व तथा अवगाहना ये आठ गुण होते हैं केवलदर्शनावरण से केवलदर्शन ढका रहता है वीर्यान्तराय कर्म से केवलवीर्य ढंका रहता है, आयु कर्म से सूक्ष्मत्व गुण ढंका रहता है, शरीर नाम कर्म से अवगाहन गुण आच्छादित रहता है, अगुरुलघु गुण गोत्रकर्म से आच्छादित रहता है और अव्याबाध गुण वेदनीय कर्म से आच्छादित रहता है। कर्मों का आवरण हटने पर सिद्धावस्था में आठों गुण प्रकट हो जाते हैं।[४]

योग के कारण समस्त आत्मप्रदेशों पर सभी ओर से सूक्ष्म कर्म पुद्‌गल आकर एकक्षेत्रावगाही होकर ठहर जाते हैं – जिस क्षेत्र में आत्मप्रदेश हैं, उसी क्षेत्र में वे भी स्थित हो जाते हैं। इसी का नाम प्रदेश बंध है और यही द्रव्यबन्ध है।[५]

कषायों की तीव्रता और मन्दता के अनुसार उन कर्मपुद्‌गलों में स्थिति और फल देने की शक्ति पड़ती है, यह स्थिति और अनुभाग बन्ध हैं ये दोनों बन्ध कषाय से होते हैं, जिस प्रकार चिकने वस्त्र पर धूल जम जाती है, चिकनाई न होने पर धूल आकर तुरन्त झड़ जाती है, उसी प्रकार कषाय होने पर ही कर्म आत्मप्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाही होकर ठहरते हैं। केवली अथवा जीवन्मुक्त व्यक्ति के रागादि कषाय न होने से उनके योग के द्वारा आनेवाले कर्मपुद्‌गल द्वितीय समय में ही झड़ जाते हैं उनका स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नहीं होता। आत्मा का कर्म के साथ यह बन्धचक्र जब तक राग, द्वेष, मोह और वासना आदि विभाव भाव है, तब तक परस्पर चलता रहता है।[६]

ज्ञानावरण, दर्शनावरण,मोहनीय और अन्तराय से चारों कर्म जीव के स्वाभाविक (अनुजीवि) गुणों को नष्ट करते हैं अतः ये घातिया कर्म कहलाते हैं। आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय ये चार अघातिया कर्म हैं, क्योंकि जली हुई रस्सी के समान इनके रहने से भी आत्मा के अनुजीवि गुणों का घात नहीं होता है।[७]

कर्म चार प्रकार हैं,– पुद्‌गलविपाकी, भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी तथा जीवविपाकी।[८] पांच शरीर से लेकर स्पर्श नाम कर्म तक ५० तथा निर्माण, आपत, उद्योत, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, साधारण, प्रत्येक तथा अगुरुलघु आदि तीन प्रकृतियां पुद्‌गलविपाकी हैं। पुद्‌गलविपाकी कर्मों का फल पुद्‌गल में ही होता है। नरकादि

---

१. जैन दर्शन, पृ.२२६
२. प्रकृतिस्थित्यंनुभागप्रदेशास्तद्विधयः। तत्वार्थसूत्र, ८.३
३. णाणस्स दंसणस्स य आवरण वेयणीयमोहणियं।
आउगणामं गोदंतरायनिदि अठपयडीयम।। गोम्मटसार, कर्मकांड ८
४. अमुतं चन्द्र सूरि, तत्वार्थसार ३७.३८.३६–४०
५. जैन दर्शन पृ.२२५ तथा सर्वार्थसिद्धि अष्टम अध्याय, पृ.३१५
६. वही, पृ.२२६
७. आवरण मोहविग्घं घादी जीवगुण घादणत्तादो।
आउगणामं गोदं वेयणीयं तह अघादिति। गोम्मटसार, कर्मकांड
८ अष्टसहस्री, पृ.२६६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चार आयु भवविपाकी है। क्योंकि इनके उदय का फल नरकादि पर्यायों के होने में ही होता है। चार आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी हैं। क्योंकि परलोक गमन करते समय जीव के मार्ग में ही इनका फल होता है। ये जीव में ही विकार उत्पन्न करते हैं, अतः इन्हें जीवविपाकी कहा गया है।[1]

जीव मोह रागादि रूप परिणत होने की स्वतः चेष्टा नहीं करता। क्योंकि मोह रागादि उसके स्वभाव नहीं है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं – आत्मात्मना रागादीनामकारक एव।[2] आत्मास्वयं रागादि का कर्ता नहीं है, पुद्गल कर्म उदय में आकर ऐसा प्रभाव परिणमन शक्ति जीव में ही है, तथापि कर्म जनित प्रभाव के बिना जीव के परिणमन में रागादि विकार नहीं आ सकते। वह कर्मोदय के प्रभाव से ही संभव है।[3]

धर्म तथा अधर्म द्रव्य क्रमशःजीव तथा पुद्गल के गमन करने और ठहरने में सहायता पहुंचाते हैं। ये दोनों द्रव्य जीव और पुद्गल के गमन तथा स्थिति में तभी सहायता करते हैं जब जीव और पुद्गल स्वयं गमन और स्थिति करते हैं किन्तु कर्म जीव के स्वाभावभूत गुण के परिणमन में सहायता न कर उसमें बाधा पहुंचाते हैं तथा अस्वाभाविक दशा को उत्पत्ति का कारण बनते हैं।[4] इसीलिये उनके नाम ज्ञानावरण (ज्ञान को आवृत करने वाला), दर्शनावरण (दर्शन को आवृत करने वाला), मोहनीय (मोहित करने वाला), अन्तराय (विघ्न उपस्थित करने वाला) आदि हैं।[5]

कर्मों को शत्रु कहा गया है। जिस प्रकार शत्रु आक्रामक होता है उसी प्रकार कर्म आक्रामक होते हैं। शत्रु असावधानी के समय प्रहार करता है कर्म भी प्रमाद (असावधानी) के समय जीव पर आक्रमण करते हैं, शत्रु से युद्ध होने पर यदि शत्रु विजयी होता है तो वह दूसरे पक्ष का विनाश कर देता है और यदि दूसरा पक्ष विजयी होता है तो वह शत्रु का विनाश कर देता है और विजेता कहलाता है। ठीक इसी प्रकार से कर्मों से जीव का युद्ध होता है। जब तक कर्म प्रबल होते हैं, जीव को चौरासी लाख योनियों में भटकाते और दुःख देते रहते हैं। किन्तु जब जीव पुरुषार्थ कर कर्मों पर विजय पा लेता है उनका समूल विनाश कर देता है तब वह जिन कहलाता है।

कर्म निष्क्रिय आत्मा को अभिभूत कर देते हैं। किन्तु उनका प्रभाव सदा एक सा नहीं रहता। जिस समय उनका प्रभाव मन्द रहता है, उस समय पुरुषार्थ करके उन पर विजय प्राप्त किया जा सकता है। कर्मों की प्रचंड शक्ति तथा उन पर विजय प्राप्त करने के सम्बन्ध में ब्रह्मदेव सूरि का निम्न कथन दृष्टव्य है

जैसे शत्रु को क्षीणावस्था देखकर मनुष्य पौरुष करके उसका विनाश कर डालता है, वैसे ही कर्मों की भी सदा एक जैसी अवस्था नहीं रहती । उसमें प्रबलता और मन्दता होती रहती है। अतः जब मन्दावस्था होती है, तब ज्ञानी जीव निर्मल भावना रूप विशेष खड्ग से पौरुष करके कर्म शत्रुओं का हनन कर डालता है।[6]

कर्म जीव को कभी–कभी इतना अशक्त बना देते हैं कि वह उनके चंगुल से छूटने का प्रयास भी

---

१. देहादी फासंता पण्णासा गिमिसताव जुगलं च
पिरसुह पत्तेय दुगं अगुरुतियं पोग्गलतिबाई।।
आऊणि भवविवाई खेत्तविवाई य आणुपुव्वीओ।
अट्ठत्तरि अवसेसा जीवविवाई मुणेयव्वा। गोम्मढसार ८७,८८

२. समयसार, आत्मख्याति, २८२,२८५

३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ६३

४. समयसार कलश, ३

५. पंचाध्यायी २/१००२

६. वृहद् द्रव्य संग्रह, टीका, ३७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'यह जीव लोक जो संसार रूपी चक्र के मध्य में स्थित है, समस्त विश्व पर राज्य करने वाले मोह रूप बलवान पिशाच के द्वारा इसप्रकार हांका जाता है, जैसे लोग बैल को हांकते हैं।[1]

इस दुर्धर्ष एवं जीवस्वभावघातक प्रकृति के कारण ही कर्मों को शत्रु की उपमा दी गयी है और उनको जीतने वाले को जिन कहा जाता है।[2]

जिस प्रकार नाव में जल भर जाने पर जल को निकालने के लिये सबसे पहले नाव के उस छिद्र को ब्न्द करना आवश्यक है, जिससे आकर जल नाव में भर रहा है, उसके बाद ही नाव में भरे हुए जल को निकाला जा सकता है, उसी प्रकार कर्मों से मुक्त होने के लिये सर्वप्रथम कर्मों के आने के द्वार (आस्रव) को बन्द करना पड़ता है। नवीन कर्मों के आगमन को रोकना ही संवर है।[3] ३ गुप्ति, ५ समिति, दस धर्म, बारह भावना, बाईस परीषहों पर विजय तथा पांच प्रकार के चारित्र का पालन करके नवीन कर्मों के आगमन को रोका जा सकता है।[4] संवर के द्वारा नवीन कर्मों के आगमन को रोककर तय तथा ध्यान के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा कर आत्मा कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।[5] फल देने के उपरान्त कर्म स्वतः भी झड़ जाते है जिसे सविपाक निर्जरा कहा गया है। सविपाक निर्जरा हर प्राणी के प्रतिसमय होती रहती है। इसमें पुराने कर्मों के स्थान पर नये कर्म बन्धते रहते हैं फल देने से पूर्व तथा ध्यान के द्वारा कर्मों को भस्म कर देना अविपाक निर्जरा है।[6] तप तथा ध्यान के द्वारा कर्मों को समूल नष्ट किया जा सकता है, यही मोक्ष है।

जब तक शत्रु का समूल विनाश नहीं होता, वह पुनः–पुनः शक्ति प्राप्त कर आक्रमण करता है, उसी प्रकार कर्मों को जब तक समूल नष्ट नहीं किया जाता , वे जीव पर आक्रमण करते रहते हैं और जब कर्म समूल नष्ट हो जाते हैं, तब जीव स्वतन्त्र हो जाता है। पहले चार घातिया कर्मों पर विजय प्राप्त कर जीव कैवल्य को प्राप्त करता है और जिन कहलाता है।[7] घातिया कर्मों पर विजय प्राप्त करने के बाद अघातिया कर्मों की शक्ति क्षीण हो जाती है। जो चार घातिया कर्मों को जीत लेता है वह अघातिया कर्मों पर भी शीघ्र और निश्चित रूप से विजय प्राप्त कर सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है।[8]

जिस प्रकार खान में से निकले हुए स्वर्ण में किदृकालिमा दि. एकमेक होकर मिले रहते हैं, फिर भी स्वर्ण, स्वर्ण ही रहता है और किट्टकालिमादि किहमादि ही रहते हैं। न स्वर्ण किट्टकालिमादि रूप होता है न किट्टकालिमादि स्वर्णरूप। किट्टकालिमादि से युक्त स्वर्ण को अग्नि में तपा कर किट्टकालिमादि को पृथक् कर दिया जाता है और वह खरा सोना बन जाता है, उसीप्रकार अनादिकाल से आत्मप्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही कर्मपरमाणु भी तप तथा ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा सर्वथा पृथक् कर दिये जाते हैं। इसी बात की पुष्टि करते हुए स्वामी समन्तभद्र कहते हैं –

'दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथास्वहेतु तुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः।।'[9]

---

१. समयसार, आत्मख्याति, ४

२. अनेकभवगहनविषयव्यसन प्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयतीति जिनः। पंचास्तिकाय (तात्पर्यवृत्ति)

३. द्रव्यसंग्रह, ३५ तथा तत्वार्थसूत्र नवम अध्याय १

४. स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजय चारित्रैः। तत्वार्थसूत्र २

५. तपसा निर्जरा च। तत्वार्थसूत्र, ८, ३

६ जैन दर्शन पृ.२४२

७. तत्वार्थसूत्र, १०, १

८ वही , १०, २

९. देवागंम स्तोत्र ४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य उमास्वामी ने भी पर्वतों के समान दुर्भेद्य कर्मों को भेदने वाले जिनेन्द्र भगवान को स्वयं भी उन्हीं जैसा बनने के लिये नमस्कार किया है।[1]

अतः अनादिकाल से आत्मा के साथ एकमेक हुए दुर्भेद्य कर्मों पर भी पुरुषार्थ के द्वारा विजय प्राप्त किया जा सकता है। कर्मों से छूटने का उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र हैं जिन्हें रत्नत्रय कहा गया है।[2] सम्यग्दर्शन के होने पर ही सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र हो सकता है। निश्चय नय से आत्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन, आत्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान तथा आत्मा में स्थिर होना सम्यक् चारित्र है, सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की परिपूर्णता होते ही जीव कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है।[3]

एक बार समस्त कर्मों से मुक्त होने के बाद जीव को पुनः कर्मबन्ध नहीं होता। इस प्रकार जीव का भ्रमण समाप्त हो जाता है और वह अविनाशी शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेता है।[4]

● पूर्व प्राचार्या, मुजफ्फरनगर

---

१. तत्वार्थसूत्र, मंगलाचरण
२. सम्यक्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्वार्थसूत्र १,१
३. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक २२२
४. कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयात्मा।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव।। वही, श्लोकः २२४

□□□

आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनिराज के
चरणों में शत्-शत् नमन्

●

अखिल भारतवर्षीय विद्वत्परिषद् के
स्वर्ण जयन्ती समारोह पर हमारी हार्दिक शुभकामनायें

● डॉ. प्रभाकर सेठी

● डॉ. अलका सेठी

अलका नर्सिंग होम

एयरपोर्ट सर्किल, सांगानेर, जयपुर

☎ 583854, 550568

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाणक्य और जैन परम्परा

डा. गोकुलप्रसाद जैन

राष्ट्र निष्ठा और राजनीतिक पटुता के पुरोधा चाणक्य का व्यक्तित्व जैनत्व से अनुप्राणित था। इस अपरिचित तथ्य को विद्वान लेखक ने इस लेख में ऐतिहासिक एवं शोधात्मक अन्वेषणाओं के सन्दर्भ में उजागर किया है, जो सराहनीय है। - सम्पादक

जब अक्टूबर, ३२६ ईसा पूर्व में सिकन्दर पंजाब से वापिस हुआ, उस समय मगध में नन्दराजा राज्य कर रहा था। इसके लगभग एक मास बाद नवम्बर ३२६ ईसा पूर्व में चाणक्य के सहयोग से चन्द्रगुप्त मगध का शासक बना।

चन्द्रगुप्त मौर्यवंशी क्षत्रिय था। जैन शास्त्रों के अनुसार, तीर्थंकर महावीर से पूर्व 'मौर्याख्य' नाम का एक राज्य (राजधानी पिप्पलीवन) पूर्व भारत में विद्यमान था जिसका समर्थन हेमचन्द्राचार्य और बौद्धग्रंथ 'महावंश' से भी होता है। मौर्याख्य राज्य के क्षत्रिय जैन धर्मानुयायी थे और उस राज्य का एक क्षत्रिय पुत्र (मौर्य पुत्र) महावीर का गणधर भी था। एक मौर्य क्षत्रिय, सम्राट महापद्मनन्द का सेनापति भी था। चन्द्रगुप्त मौर्याख्य राज्य का क्षत्रियपुत्र होने के कारण ही मौर्य कहलाया।

चाणक्य की सहायता से नन्दवंश का राज्य समाप्त कर चन्द्रगुप्त का २५ वर्ष की आयु में राज्याभिषेक हुआ। नन्दवंश भी जैन धर्म का अनुयायी था और मौर्य साम्राज्य में भी जैन धर्म को राज्याश्रय प्राप्त हुआ। मौर्यवंश निरन्तर जैन धर्म के प्रति निष्ठावान रहा तथा चन्द्रगुप्त मौर्य श्रृखलाबद्ध ऐतिहासिक युग का प्रथम सम्राट बना। उसका साम्राज्य दक्षिण भारत तक फैला हुआ था।

चाणक्य ने नन्दवंश के विनाश और मौर्य राज्य की स्थापना में सभी क्षेत्रों में पूर्ण सक्रिय और रचनात्मक योगदान किया था। वह उस युग का इतिहास पुरुष था जिसे युगस्रष्टा और युगदृष्टा होने का भी गौरव प्राप्त है। अपने गुरु चाणक्य के प्रभाव के कारण ही चन्द्रगुप्त जीवन भर एक आदर्श, श्रमणनिष्ठ और धर्मात्मा सम्राट रहा और अन्त में श्रवणवेलगोल (जिला हासन कर्णाटक) से समाधिपूर्वक स्वर्गस्थ हुआ।

चाणक्य को विष्णुगुप्त, चाणावत, द्रोमिल, द्राहिण, अंशुल, कौटिल्य आदि अनेक नामों से संबोधित किया जाता है। गोल्ल नामक ग्राम में 'चणक' नामक एक जैन ब्राह्मण रहता था जिसकी भार्या चणेश्वरी थी। उन्हीं का पुत्र चाणक्य उनके समान ही श्रमणोपासक श्रावक[1] था।

इसीप्रकार, हरिषेण कथा कोष में तथा ब्र. नेमिदत्त कृत आराधना कथा कोष (भाग ३, पृष्ठ ४६) में चाणिक्य के पिता का नाम कपिल और माता का नाम देविला लिखा है। वे वेद पारंगत विद्वान थे। महावीर नामक जैन मुनि से उन्होंने जैन दीक्षा ग्रहण की थी।

बौद्ध ग्रंथ महावंश के टीकाकार ने लिखा है कि चाणक्य तक्षशिला का निवासी था और वेद–शास्त्र का पारंगत था, मंत्र–विद्या में निष्णात था और नीतिशास्त्र का आचार्य था। वह अप्रतिम कूटनीतिज्ञ और

१. आचार्य हेमचन्द्र कृत परिशिष्ट पर्व (पृष्ठ ७७), श्लोक सं. २००, २०१ आदि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राजनीति विशारद था तथा मौर्य साम्राज्य का मूल संस्थापक, उसका उद्धारक, विस्तारक, कुशल प्रशासक और महान सेना नायक था। वह जैन–ब्राह्मण था और उसका कुलधर्म जैन था।

जैन ग्रन्थ आवश्यक चूर्णि की निर्युक्ति (भाग ३, पृष्ठ ५२७) में चाणक्य का जीवन प्रसंग प्राप्त ह। वह परम्परागत जैन होने के साथ–साथ जैन तत्त्वज्ञान–सम्पन्न और परम सन्तोषी था तथा उसी ने अपने बुद्धि–बल का उपयोग करके चन्द्रगुप्त को राजसिंहासन पर बैठाया और मगधराज्य का विस्तार किया। ऐसे ही कथन जैन ग्रन्थ नन्दिसूत्र, उसकी टीका और उत्तराध्ययन की टीका में भी प्राप्त होते हैं। १३वीं शताब्दी के प्रसिद्ध इतिहासकार श्री हेमचन्द्राचार्य ने भी अपने रचना 'परिशिष्ट पर्व' के आठवें सर्ग में चाणक्य का जो जीवन परिचय दिया है, वह भी इसी के समरूप है। इसमें चाणक्य के विवाह का भी कथन है तथा उसके सम्राट् चन्द्रगुप्त का मंत्रीश्वर होने का भी कथन है।

ब्राह्मण शब्द आज सनातनी हिन्दू का बोधक है परन्तु प्राचीन युग में ऐसा नहीं था। व्यक्तिगत कर्म द्वारा लोग वर्णों में विभाजित थे। वर्ण विभाजन ज़न्मना नहीं कर्मणा था। अनेक ऋषि शूद्र वर्ण में जन्में थे जिन्होंने अपनी तपस्या के फलस्वरूप ऋषिमद प्राप्त किया था। ऋषि विश्वामित्र भी तो जन्मना क्षत्रिय थे। सभी जैन तीर्थंकर जन्मना क्षत्रिय थे किन्तु उनके अधिकांश गणधर ब्राह्मण थे। सभी जैन भट्टारक ब्राह्मण थे। अधिकांश जैन मुनि और यति जन्मना ब्राह्मण ही थे और आज भी हैं। ये सभी 'जैन–ब्राह्मण' की कोटि में आते हैं। इसी प्रकार, जैन–ब्राह्मण कुलोत्पन्न चाणक्य का भी जैनेतर साहित्य में जहां भी ब्राह्मण के रूप में उल्लेख हुआ है, वहां सर्वत्र उससे जैन–ब्राह्मण उद्दिष्ट है।

चाणक्य जैनाचार्य हुये थे और अपने ५०० शिष्यों सहित उन्होंने देश–विदेशों में बिहार करके दक्षिण के वनवास नामक देश में स्थित क्रौंचपुर नगर के निकट प्रायोपगमन सन्यास ले लिया[1] था उन्हें जैन धर्म में अगाध प्रेम था।

चन्द्रगुप्त के साधु होने की चर्चा विल्सन कृत 'हिन्दु ड्रेमेटिक वर्क्स' में भी आई है (भूमिका भाग, ५८१०–२६)

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री विसेन्ट स्मिथ ने अपनी आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इंडिया के पृष्ठ ६५ पर लिखा है कि 'चन्द्रगुप्त ने राजगद्दी एक कुशल ब्राह्मण की सहायता से प्राप्त की थी, यह बात चन्द्रगुप्त के जैन धर्मावलम्बी होने के विरुद्ध नहीं पड़ती'।

जैन नन्दिसूत्र में सर्वप्रथम चाणक्य का उल्लेख मिलता है जो पांचवीं शताब्दी ईसवी की रचना है। वे जैन आचार्य स्थूलभद्र शकटाल के ज्येष्ठ पुत्र और चन्द्रगुप्त के समकालीन और भाग्य–विधाता थे। चन्द्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् चाणक्य कुछ समय तक सम्राट् विन्दुसार के महामात्य रहे। बाद में श्रमण साधु बनकर आत्म चिन्तन में लीन हो गये। जैन ग्रंथ आराधना हरिषेण कथा कोष और आराधना कथा कोष आदि में चाणक्य के श्रमण–दीक्षित होने और ५०० श्रमणों के साथ तपस्या करके स्वर्गस्थ होने का उल्लेख है। यही उल्लेख हेमचन्द्राचार्यकृत परिशिष्ट पर्व में है। उनके जीवन के उत्तरार्धकाल के विषय में इतिहासकारों को इससे अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है।

चाणक्य के अर्थशास्त्र की प्राप्ति १६०५ में हुई तथा उसके खोज–कर्ता और अनुवादक श्री आर. शामशास्त्री थे। यह लगभग तीसरी से पांचवीं शती ईसवी की रचना मानी गई है। यही कौटिलीय अर्थशास्त्र भी कहलाता है। यह राजनीति का उत्कृष्ट ग्रंथ है जो चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के लिये लिखा था। यह इससे

१. आराधना कथा कोष (भाग ३, पृष्ठ ५१–५२) –नेमिदत्त।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्व के प्रसिद्ध अर्थशास्त्रों पर आधारित है तथा जैन परम्परा की रचना है। इसमें स्थान–स्थान पर सर्वत्र ऐसे प्रसंग, विवरण और उल्लेख मिलते हैं जो जिन धर्म से संबंधित और उसके बोधक हैं।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में पशुओं के भोजन, गौओं के दुहने और दूध–मक्खन आदि की स्वच्छता के सम्बन्ध में विस्तार से नियम दिये गये हैं तथा पशुओं को निर्दयता और चोरी से बचाने के लिये सविस्तार नियम निर्धारित किये गये हैं। इसप्रकार पशुओं की रक्षा का विशेष विधान उसके लेखक का अहिंसा प्रेमी होना प्रकट होता है।

अर्थशास्त्र में सर्वत्र अनेक नीतिसूत्र दिये गये हैं जो जैन प्रभाव बोधक हैं। इसमें जैनाचार विषयक सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया है, यथाः–

क. 'दया धर्मस्य जन्मभूमिः'

ख. अहिंसा लक्षणो धर्मः'

ग. 'मांसभक्षणमुक्तं सर्वेषाम्'

घ. 'सर्वमनित्यं भवति'

ड. 'विज्ञानदीपेन संसारभयं निवर्तते' आदि।

इसी प्रकार, अर्थशास्त्र में स्थान–स्थान पर जैन लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। ऐसे शब्द जैन तत्त्वज्ञान में विशेष अर्थ रखते हैं, अन्यथा उनका शाब्दिक अर्थ सर्वथा भिन्न है, यथा, उपभेदवाची 'प्रकृति' शब्द। जैन दर्शन में कर्मों के १४८ भेदों को कर्मों की प्रकृतियां कहते हैं अन्यथा 'प्रकृति' शब्द भेद–प्रभेद वाची नहीं है। कौटिल्य ने 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग जैन विशिष्ट–वाची उपभेद बोधंक अर्थ में ही किया है, जैसे 'अरि और मित्रादिक राष्ट्रों की कुल प्रकृतियां ७२ होती हैं। इसप्रकार के सभी प्रयोग जैन परम्परा बोधक हैं।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राजा को प्रेरणा दी है कि राजा अपने नगर के बीच में 'विजय वैजयन्त, जयन्त और अपराजित' नामक देवताओं की स्थापना करे। ये चारों ही देवता जैन हैं। सांसारिक दृष्टि से नगर के बीच में इनके मन्दिरों के बनवाने की इसलिए आवश्यकता है कि ये चारों ही देवता उस स्थान के रहने वाले हैं जहां की सभ्यता ऐसी बढ़ी–चढ़ी है कि वहां पर प्रजा सत्तात्मक राज्य अथवा साम्राज्य–शून्य ही संसार बसा हुआ है। ये अपनी बढ़ी–चढ़ी सभ्यता के कारण अहमिन्द्र कहलाते हैं और इनके रहने के स्थान को जैन शास्त्रों में ऊंचा स्वर्ग माना गया है। लोक शिक्षा के लिए तथा राजनीति का उत्कृष्ट ध्येय बतलाने के लिए इन देवताओं का प्रत्येक नगर के बीच होना आवश्यक है।

इन उल्लेखों से और ऐसे ही अन्य उल्लेखों से, जो अर्थशास्त्र का अध्ययन करने से प्रकट होते हैं, चाणक्य का जैन धर्म विषयक श्रद्धान ही प्रकट होता है।

इसप्रकार, कौटिल्य अर्थशास्त्र पर जैन परम्परा का व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण इसे जैन परम्परा के ग्रंथों की कोटि में रखा जा सकता है।

● उपाध्यक्ष, वीर सेवा मन्दिर,
२३३, राजधानी एन्क्लेव,
शकूरबस्ती, दिल्ली-३४

□□□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सल्लेखना, समाधिमरण और अन्तहीन यात्रा

प्रो. एल. सी. जैन

सल्लेखना/समाधिमरण की आगमिक सन्दर्भ में व्यावहारिक व्याख्या करने में लेखक ने परिश्रम किया है। विद्वज्जनों को मरण समय सल्लेखना/समाधि की क्रोड सुलभ हो-इस प्रेरणा हेतु इस आलेख की यहाँ उपादेयता है।

- सम्पादक

यात्रा का प्रारम्भ न भी ज्ञात हो तो कोई बात नही। जीवन यात्रा का अंत तो दिखाई देता है। किन्तु दिखाई देने वाला यह अंत क्या अंतिम होता है ? इसके विषय में कई मताभिमत, उत्तर व चिंतन मिलते हैं। जीवन का अंत एक घटना है जो निश्चित रूप से घटित होती है। श्वास के अवरोध से, हृदय स्पन्दन के रुकने से, अथवा मस्तिष्क में अवरोध उत्पन्न होने से। योगी श्वास के अवरोध को जीतने का प्रयास प्राणायाम के द्वारा करना चाहता है। मुनि हृदय स्पन्दन के अवरोध को कषाय शून्यता उत्पन्न कर जीतना चाहता है। ज्ञानी मस्तिष्क के अवरोध को जीतने हेतु अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग के अभ्यास में संलग्न हो जाता है। किन्तु मृत्यु एक अवश्यम्भावी, बारंबारता लिये समयचक्र से बंधी प्रक्रिया होती है, जिसका अन्त देखने में नहीं आया है। ऐसी प्रक्रिया की संभावना का बोध स्वभावतः उस स्वप्निल संसार का पटाक्षेप बतलाता है जिसमें हम जीते हैं, आनन्द, दुःख, दया—क्रूरता, लोभ,त्याग, माया, आर्जव, क्रोध, क्षमा, मान, मार्दवादि भावों में डूबे हुए जीते हैं। ऐसे स्वप्निल संसार की कोई भी जीव क्या समाप्ति चाहता है ? चाहे आकस्मिक हो अथवा विलम्बित क्षण—प्रति क्षण हो या रुक—रुक कर इस स्वप्निल जगत का अंत, एक अज्ञात स्थिति में पहुँचाता होने के कारण उस अज्ञात का भय व्याप्त होना स्वाभाविक है। भय चाहे संज्ञा (उदीरणा) रूप में हो, अथवा नोकषाय (उदय) रूप में हो। भय तो भय ही है। मिथ्यादृष्टि के सप्तभय होते हैं, सम्यग्दृष्टि उन्हें जीत चुका होता है। इनमें एक भय मृत्यु भय हुआ करता है।

नवीं कक्षा में हमने एक कविता याद की थी—

"निर्भय स्वागत करो मृत्यु का, मृत्यु एक है विश्राम स्थल।
जीव जहाँ से फिर चलता है, धारण कर नव जीवन संबल।।
मृत्यु एक सरिता है जिसमें, श्रम से कातर जीव नहाकर।
फिर तूफान धारण करता है, काया रूपी वस्त्र बहाकर।।"

ये पंक्तियां एक उजाला देती हैं। सम्यग्दृष्टि अनेक उजालों के ज्ञान में चरण करता है, आचरण करता चलता है। यदि मृत्यु अंधेरा है, तो क्या हमारा सांसारिक जीवन उजाला है ? बिना सम्यक् दर्शन हुए, हमारे जीवन और मृत्यु दोनों अंधेरे में चल रहे होते हैं। दोनों ही एक ताले बंद कमरे में हो रहे संघर्ष हैं। दोनों की न तो आदि है न अन्त है। जो अंधेरे में चरण या आचरण है, वह चाहे मृत्यु हो या जीवन का, उजाले में न होने से समय का विभाजन पा जाता है। उजाले में आते ही, उनमें समय का विभाजन समाप्त होने से यह 'वह' कालहीन हो जाता है। अंधेरे में ही काल भेद होने से भय होता है, उजाले में काल भेद रहित हो कालहीन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होने से वह जीवन अमर या मृत्युरहित हो जाता है। उजाले में ही मृत्यु का जीवन से कोई अर्थभेद नहीं रह जाता है – जीवन मृत्यु है और मृत्यु जीवन है – दोनों एक हो जाते हैं। यहाँ जीवन का प्रारम्भ जन्म से होता है और अंत मृत्यु से होता है – यह बोध कालांध है, किन्तु कालान्त बोध में न तो जीवन का प्रारम्भ है न ही अंत।

सल्लेखना और समाधिमरण की कथाएं मथुरा के कंकाली टीले में भूली जा चुकी हों किन्तु दक्षिण की हवाओं में, मिट्टी की महक में उनका गुंजन अभी भी, उसी भावना प्रवाह में सुना जा रहा है। मौर्य सम्राट अशोक के शिलालेखों से पूर्व, कर्म सिद्धान्त को ब्राह्मी सुन्दरी लिपियों से हस्ताक्षरित करने वाले आचार्य भद्रबाहु और दीक्षित मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त ने ईस्वी पूर्व चतुर्थ शताब्दी के लगभग कलबप्पु (छोटे पहाड़) पर आचार्य श्री के समाधिकाल में बसेरा लेकर आने वाली शताब्दियों को इतिहास में बदल दिया था। उन्होंने कर्म सिद्धान्त द्वारा अंधेरे से उजाले की ओर आना सिखाया। प्रायः २००० वर्ष बाद यह भयंकर जंगल से घिरा स्थल समाधि विधि से मरण को प्राप्त करने वाले साधुओं का "कटवप्र" नाम से प्रसिद्ध हो गया। शिलालेखों से ज्ञात होता है कि दूर–दूर से आने वाले साधु एवं श्रावक इस स्थल को समाधिमरण के लिए चुनते रहे थे। यह विधि अत्यन्त लोकप्रिय मानी जाने लगी थी। ज्ञानोदय और मुक्ति की खोज में यहाँ आने वालों के खानपान की व्यवस्था का प्रथम प्रयास ८वीं सदी में राष्ट्रदूत रानी मानसिजा द्वारा किया गया। इसके पूर्व समाधिमरण की संख्या अधिक आंकी गयी है, और इसके पश्चात् ६–११ वीं सदी से समाधिमरण करने वाले की संख्या में, मंदिरों की बढ़ती हुई भावना से, विशेष कमी आई दृष्टिगत हुई है। संभवतः पुरोहितों के फलने फूलने से कायक्लेश करने वाले साधुओं का तब यह स्थल समाधिमरण समूह–स्थल न रह सका हो। वस्तुतः कर्म सिद्धान्त का उजाला धीरे–धीरे अंधकार के सायों से ढंकता चल गया। ये आगम ग्रंथ मात्र दर्शन की वस्तु बनकर अंधेरे की ओट को मजबूत करते चले गये । जहाँ जन्म मरण के चक्र से मुक्त होने का उजाला था, वहाँ उसे सद्गति के रूप में पहिचाना जाने लगा। स्थिरता के कालान्त को अस्थिरता के कालान्ध में निरूपित किया जाने लगा। स्थिरता में हम दसों प्रकार के प्राणों की स्थिरता कह सकते हैं जो कालजयी या मृत्युञ्जयी होती है। पांच इंद्रियाँ, मन, वचन, काय के बल, आयु और श्वासोच्छवास की स्थिरता जहाँ हो वहाँ समाधि है, सल्लेखना है, साथ ही अंततः अंत है अंतहीन जीवन यात्राओं का।

अभी तक वर्णन पुद्गल से संबंधित है। पुद्गलों की स्थिरता या कर्म परमाणुओं की स्थिरता तक यह वर्णन सीमित हो गया है। कर्म परमाणु संकेतना देते हैं, संकेतक होते हैं, कि आत्मा के परिणामों में स्थिरता कहाँ तक पहुँच सकी है। कर्म परमाणु सामान्य परमाणुओं से अलग विशेषता रखते हैं जिसे हम नकार नहीं सकते हैं। सामान्य परमाणु बिखराव की ओर बढ़ते हैं, किन्तु कर्म परमाणु एक व्यवस्था की ओर अग्रसर होते हैं, जब तक कि उनमें कर्मत्व नामक विशेषता होती है। कर्मत्व की विशेषता, समय–समय पर निर्जरित होने वाली निषेक व्यवस्था के अधीन, तथा कर्म की अनेक अवस्थाओं को फलित करने वाली विशेष व्यवस्था के अधीन होती है। इन सभी में सम्बन्धित आत्मा के परिणामों की अहं भूमिका हुआ करती है। कर्म–परमाणुओं को स्थिरता की ओर ले जाने के लिए आत्म–परिणामों की स्थिरता की भूमिका हुआ करती है। जो जीवन, आत्म परिणामों के नियन्त्रण में जिया जाता है, वह जीवन वैसे कर्मत्व की तत्सम्बन्धी विशेषता की परिणति में खोया दिखाई देने लगता है। अतः परम योगी जीवन में ऐसे आत्मपरिणामों में जूझता रहता है जहाँ कर्मत्व की विशेषता मरुस्थल में प्रवेश करने वाली नदी की धार के समान विलीन होने वाली हुआ करती है। वर्षों में प्रतिफलित होने वाली उसकी समाधि हर प्रकार के कर्मत्व की विशेषता को हीन क्षीण करने वाली आत्मपरिणामों से अथवा विशुद्धि रूप परिणामों की बाढ़ से ओतप्रोत हुआ करती है। वहाँ रात्रि की अंधकुहाओं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में चन्द्रमा की शीतल चांदनी हुआ करती है। तथा दिन के सुप्त कलुष में सूर्य की प्रखर किरणों की ज्वाला हुआ करती है। वहाँ जन्म और मृत्यु के कोरों की दूरियाँ शून्य की ओर प्रवृत्त होती चली जाती हैं।—कालभेदान्त लिये ज्ञान के अनन्त दीप समग्रता लिए एक साथ वहाँ जलते चले जाते हैं।

अतः वह योगी समाधिकाल में, जो सम्पूर्ण जीवन में चल रहा होता है, कर्मत्व की विशेषता तो प्रतिपल क्षीण होते हुए देखता हुआ उससे अपने आत्म–विशुद्धि रूप परिणामों को तौलता चला जाता है। "तौल का निर्धारण" ही उसका गणित हुआ करता है। जीवन में, अंततः, उसका "जन्म ही मृत्यु और मृत्यु ही जन्म", प्रति अविभागी समय के युगपतत्व की ओर, अर्थ रहित रूप लेता चला जाता है। उसके उन अंतिमस्थ विशुद्धि रूप परिणामों में न तो जन्म ही रह जाता है न ही मृत्यु। क्षमादि दस धर्मों रूप उसके विशुद्धि रूप परिणामों की बाढ़ से समस्त कषायों की बस्तियाँ आदि बहते चले जाते हैं – उखड़ते, नष्ट होते चले जाते हैं। योगी उनकी मात्रा और शक्तियों को जानकर ही उचित समय में उचित पुरुषार्थ को अपनाता हुआ जीवन के स्वप्न को तोड़कर यथार्थ में पहुँच जाता है। यथार्थ नित्य, शाश्वत हुआ करता है, जहाँ जीवन का अंत नहीं होता है।

इस सल्लेखना विशेषांक में अन्यत्र उन सभी विधियों का समाधिमरण और सल्लेखना हेतु विवरण उपलब्ध होगा जिनके द्वारा मृत्यु पूर्व काल में उपर्युक्त विशुद्धि रूप परिणामों की परिणति में मुमुक्षु को सहायता मिलेगी। नियम और यम रूप व्रतादि, महाव्रतादि, दीक्षादि, मृत्यु काल से पूर्व ग्रहण करने का प्रयोजन और लक्ष्य विशुद्धि रूप परिणामों की प्राप्ति ही हुआ करता है। अंधकार में विचरण से परे, उजाले में स्थिरता का यह चरण निभाने को ही हुआ करता है। संक्लेश रूप परिणामों की उत्पत्ति को मृत्यु और विशुद्धिरूप परिणामों का जनन जीवन कहा जा सकता है।

समाधिमरण समय के लिये उपयोगी अनेक पाठ संग्रह हैं जिनमें निम्न लिखित प्रमुख हैं –

(१) संस्कृत में मृत्यु महोत्सव और उसकी पंडित सदासुख कृत हिन्दी वचनिका,
(२) जोगीरासा व नरेन्द्र छन्द में पण्डित द्यानतराय कृत समाधिमरण भाषा,
(३) नरेन्द्र छन्द में पण्डित सूरचंद कृत समाधिमरण भाषा,
(४) आचार्य श्री सकल कीर्ति कृत समाधि–मरणोत्साह दीपक

जहाँ तक विशुद्धि परिणामों जनन है, वह दर्शन विशुद्धि, ज्ञान विशुद्धि और चारित्र विशुद्धि रूप होता है। सल्लेखना में शरीर के पोषण को अनुचित बतलाते हुए उसे निरन्तर शोषण की ओर ले जाना उचित बतलाया गया है। शरीर को सुखाने के लिये प्रतिदिन थोड़ा–थोड़ा अन्न कम करते हुए, शरीर को दुर्बल करते हुए क्रंम से छांछ आदि पेय वस्तु को चित्त की समाधि के लिये कदाचित् पिया जाता है। मस्तिष्क, हृदय और श्वासोच्छवास की स्वस्थ वापिसी हेतु इन्हें जहाँ तक पिया जाता है, उसे सुनिश्चित किये जाते रहना चाहिये। निर्यापक जो भी हों, उन्हें **reani matology** अनुसार अर्थात् इनके बलों को पुनर्जीवित करने हेतु, यथोचित मात्र में तब तक दिये जाने के निर्देश दिये जाते रहना चाहिये, जब तक कि दिये का नेह न चुक जाये। तभी वह संयमी स्वल्प स्वल्प का भी त्याग करते हुए सत्पानक को भी छोड़कर केवल जल को ग्रहण करता है। यह पुनर्जीवन पाने हेतु उपवास की ओर ले जाना है। यह शरीर **skeleton** (ढांचा) मात्र रह जाने पर भी क्षुधादि की दुःसह, असह्य वेदनाओं को विशुद्धि रूप, निर्मल परिणामों व भावनाओं द्वारा योगी प्रवाह में रह जीतता चला जाता है। वह सम्पूर्ण त्रिलोक के जीवन के विभिन्न चित्रों को देखता हुआ स्थिरता को प्राप्त होता है। इस समय वह शंकादि आठ दोषों को, तीन मूढ़ताओं को, जाति कुलादिक अष्टमदों, छः अनायतनों का त्याग कर निशंकादि आठा गुण सम्पन्न हो दर्शन की विशुद्धि बाढ़ में प्रवाहित होता है। वह सप्त भय मुक्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो जाता है। ज्ञान विशुद्धि हेतु वह कालाध्ययनादि आठ पावन ज्ञानाचारों द्वारा छल–प्रपचादि कुटिल भावों का त्यागकर देता है। कर्म सिद्धान्त में लीन हो वह ज्ञानाराधना के विशेष फल को प्राप्त कर लेता है। चारित्र विशुद्धि रूप परिणामों को पाने हेतु वह योगी पांचो महाव्रत, पांचो समितियों, और तीन गुप्तियों का विधिवत् पालन करता है। यह आराधना सर्वोत्कृष्ट फल को देती है। तभी तप की आराधना उत्कृष्टतम फल दायी सिद्ध होती है। वह संवर और निर्जरा को गुणित क्रम में लेती है। इतना होने पर धर्मध्यान की स्थिति स्वयमेव उपस्थित हो जाती है। इस प्रकार मृत्यु और जन्म को जीतने का प्रयास योगी शेष जीवन ही समाधि एवं सल्लेखना को ग्रहण करते हुए लवलीन चित्त से सतत धर्मध्यान में ही विचरण करता रहता है। वह वज्र वृषभ नाराच संहनन की प्राप्ति हेतु ही नाना प्रकार के आसनों, मुद्राओं, प्राणायामों का अभ्यास करते हुए विरक्त होता चला जाता है प्रत्याहार, धारणा ध्यानादि के विस्तृत क्षेत्रों में वह आजीवन भूमिका अदा करता चला जाता है। ऐसी जीवन शैली का अनुसरण करने वाला ज्ञानी तभी अंत करने में समर्थ होता चला जाता है।

सल्लेखना के सम्बन्ध में समन्तभद्राचार्य द्वारा रत्नकरखण्ड श्रावकचार में निम्नलिखित परिभाषा दी गयी है –

"उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।।५-१।।

अर्थात्, अपरिहार्य, उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग– इन अवस्थाओं में आत्मधर्म की रक्षा के लिये जो शरीर का त्याग किया जाता है वह सल्लेखना है। यहाँ सुस्पष्ट है कि जब ऐसी दशा उपस्थित होती है तो प्रतिपल न वापिस आने वाला जीवन मृत्यु की ओर ही शीघ्र अथवा धीरे–धीरे अग्रसर होने लगता है। हो सकता है कि सल्लेखना धारण करने के पश्चात् मस्तिष्क, ह्रदय एवं श्वासोच्छवास सामान्य दशा में आ जावे, तो सल्लेखना को प्रायश्चित द्वारा उल्लंघित भी किया जा सकता है। इसका निर्णय करने हेतु निर्यापक को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में reanimatology (पुनर्जीवन विज्ञान) में दक्षता, निपुणता, क्षमता प्राप्त कर लेना चाहिये। कारण की मरण काल में जीव को हर प्रकार से संक्लेश परिणामों से मुक्ति तथा विशुद्ध परिणामों की सराबोरता आवश्यक होती है। जहाँ मस्तिष्क मन वचन काय की निर्मलता पर विशुद्धि की ओर बढ़ता है, वहीं ह्रदय काषायिक भावों को जीतने वाले क्षमादि निर्मल परिणामों में विशुद्धि की ओर बढ़ता है। साथ ही शुद्ध जल, वायु, पेयादि उसके श्वासोच्छवास में विशुद्धि रूप परिणामों की ओर अग्रसार कराते चले जाते हैं। अतः निर्यापक को इन तीन की विशुद्धि बल का निरंतर अनुमान लगाते हुए उक्त जीव के लिऐ समाधिमरण में सहायक होना चांहिये।

इस प्रकार आत्मा की विशुद्धि रूप परिणाम राशियां दर्शन रूप, ज्ञान रूप तथा चारित्र एवं तपादि रूप होती है तथा इनकी उत्पत्ति का अभ्यास केवल मरण काल तक ही सीमित न रख, आजीवन होना विशेष फलप्रद होता है। अतः किसी भी जीवन शैली में, चाहे मुनि, आर्यिका या श्रावक रूप में विशुद्धि परिणाम–राशि के विशेष अभ्यास में निरन्तर, आजीवन का अभ्यास अपेक्षित होना कहा गया है।

● **J. Krishnmurti Study Centre**
554, Sarafa Bazar, JABALPUR

□□□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Rastrasant Acharya Vidyanandaji's Contribution to Indian Culture

Dr. S.P. Patil

Rastrasant Acharya shri Vidhyanandji is a aminent schollar of Tain Vidya & Indian culture. His contribotion to nation & humanity are more & more, This article shows shorty & sweetly as above. _ Aditor

Acharya shri Vidhyanandji maharaj hails from a village by name shedbal in karnatak state. At this place is on the border of karnatak and maharastra. he has enherited the best culture of both the states. The language, literature, religion and cultural qualities have influenced him from his childhood. He activety participated in freedom movement but later on accepted asectic life. So along with almakalyana welfare of mankind became his life mission. He is a jain muni par excellence but at the same time propogator of vishwadharma. His reading thinking and preaching is free from any limitations. His vihara throughout the country has great impact on common-people. He is a nationalist and rationalist. He is intersted in the great tradition of this country. It includes vedic and non-vedic tradition, Jainism-Buddhism, christianity and Islam. As a pure academicion he is engaged in referring the rare work of great scholars and acharyas of various tradition. a religious saint is supposed to be a master of his faith. But the need of the present hour expects swadharma nistha and Paradharma sahishnuta (faith in his religion and tolerance for other faith). This is what acharya Shri Vidyanandji has brought into practice and showed the world that it is possible to follow.

The great vedic sholoars like Dr. Mandana Mishra, Vice Chancellor of Sampurnand University, Varanasi and Dr. Vachaspati Upadhyaya Vice Chancellor of Lal Bahaddur Shastri Rashtriya Sanskrit University. New Delhi; chief Justic of supreme court; chairman and members of the minority commission, Govt of India, and many more stalwarts, leaders of various political parties, social workers, businesmen, industrialists are seen with acharya shri discussing and seeking guidance and solution to the present problems. The vast reading and deep study, interest in human welfare naturally adores his speech. So he is Rastrasant in the true sense of the term.

He has brought the south and north nearer. Age old religious functions were given new dimension regional peronalities were been shown on national level. He gave guidance to observe 2500 year nirvana mahotsava of lord Mahaveer. It was not only consentrated for urban areas. Smallest village was also taken into account. So almost all people had an occasion to involve himself in this national activity. The Central Government and State Government planned their programmes as designed by him. He was interested to take the message of Mahaveer to common people,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

irrespective of caste and creed. A new wave spread throughout the country. Religions harmony and mutual understanding between the various groups became possible. New institutions came into existance. Educational instituation, hospitals community halls were born to serve the society at large. This is the vision given by Acharya Shri Vidyanandji. Due to his nationalistic out look the teaching of lord Mahaveera became popular and practical. Thinkers, literary persons, artists, musicians, doctors and social workers were been involved to achieve the goal.

Dharma Chakra Shri Vihara was also a novel idea of Acharya shri Vidyanandji. Ahimsa and Mahaveer a's teachings were been taken to common people. It was not only restricted to jains. The teaching of Mahaveera was made known to other people also.

Achrya Shri Vidyanandji's 'Vihara' from Delhi to shravana belgol in Karnataka was a great event in the history of Jainism and Jaina tradition. He was in the north for about 25 year. People from south wanted him to take to their part. But a great occasion was waiting for his visit to south India. He directed the people to celebrate the mahamastakabhisheka of Bahubali at shrvan abelgol in a historical manner. The statue of Bahubali was been installed in 981 by chamundaraya. So it was necessary to celebrate sahashrabdhi Mahotsava, For this function he started from Delhi on foot and reached sharvanabelgol. The function was celebrated in a grand manner. So far the mastakabhisheka was important for jains. But this time the principles of Ahimsa and Tyaga wer focused and people from various countries rushed to shravanabelgol. So mastakabhisheka became an international event, because of Acharya Shri. The Seminars and conferences were held in various place. Janamangla kalasha - plan was introduced to help the development of surrounding area to shravanbelgol.

It was Acharya Shri Vidyanandji who was the initial force behind the foundation of Gommatagiri at Indore. It was been developed under his guidence again this place became an important one to bring the people of north and south nearer. 'Dwisahasrabdi mahotsava of Acharya KundaKunda', Bieth centuary of Padmashri Dr. Karmaveeva 'Bhavnrao Patil,' Sahashrabdi mahotsava of Mahaveerji, are also because historical events because of Acharya shri's vision.

The foundation of KundaKunda Bharati for the development and study of prakrit was with the idea to help the study of Indian culture, 'Prakrit Vidya' a journal of the institution has won the admiration of international scholars. Achara Shri Kunda kund Prashasti and Acharya Shri Umaswami Prashasti - each of one lakh Rupee worth are been established to recognise scholars in the field.

Acharya Shri's Pravchana meludes references from Veda, Upanishad, Gita, Kurana,Ramayana, Jnaeshwari and Kannada poetry. His life work, writing and preaching is to help to understand our national culture. Considering his contribution to Indian culture he is called as Rastra sant.

● **Professor,Dept. of.Jainology**
Karnatak University
'Dhavala' Nirmla Nagar, DHARWAD-580003

□□□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अमृत महोत्सव पर विनम्र प्रणाम

प्रो. डॉ. राजाराम जैन

> *इस शताब्दी में जैनधर्म के प्रचार-प्रसार को गति प्रदान करने में परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनिराज का प्रमुख योगदान हैं।*
>
> *- सम्पादक*

भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद समाज को एक ऐसे समर्थ नेतृत्व की आवश्यकता थी, जिसका व्यक्तित्व विराट हो, जो सन्त साधक हो, जैनधर्म के साथ–साथ सभी भारतीय धर्म दर्शनों का जो गंभीर अध्येता हो तथा समाज की रचनात्मक प्रगति के साथ–साथ राष्ट्र की लोक कल्याणकारी भावनायें जिसमे समाहित हों और सभी का यह अहोभाग्य है कि पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनिराज के रूप में वे चिराकांक्षित प्रायः सभी क्षमतायें साकार हुई हैं। पारिवारिक जीवन त्यागने के बाद उन्होंने लंबी एकान्त साधना और आत्म नियन्त्रण किया है और लोक हितैषी के रूप में उदित होकर हमारे सौभाग्य का संवर्धन किया है।

आचार्यश्री का वैचारिक धरातल सदा से व्यापक रहा है। स्वभाव इतना सरल और वाणी में ऐसा जादू कि जैन समाज ने तो उन्हें अपना प्रेरक मार्गदर्शक माना ही, मस्जिदों में किये गये प्रवचनों के कारण उन्हें वहाँ जो प्रतिष्ठा मिली, वही प्रतिष्ठा बद्री–केदारनाथ, ऋषिकेश एवं हरिद्वार के शिवभक्त साधु सन्तो एवं विद्वानों के मध्य भी मिली है।

उनका व्यक्तित्व इतना आकर्षक है कि साधु साध्वियाँ अथवा विद्वद् समूह निरन्तर ही उनका सान्निध्य पाना चाहते हैं। भारत के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री, लोकसभाध्यक्ष अथवा राजनयिकगण आदि सभी विनम्र भाव से दर्शन कर उनका मार्गदर्शन पाने की आकांक्षा करते हैं। चाहे सामाजिक समस्यायें हों, चाहे आपदग्रस्त राष्ट्र की समस्यायें और चाहे साहित्यिक समस्यायें हों, उन्हें यदि कोई उनके सम्मुख प्रस्तुत करता है, तो वे अपने प्रवचनों के प्रसंगों में रोचक शैली में उनका निष्पक्ष एवं निरपेक्ष वृत्ति से सन्तोषजनक अहिंसक समाधान अवश्य करते हैं।

वे भारत के उस भूभाग से आते हैं, जो सहस्राब्दियों से महान ऐतिहासिक रहा है और जिसने आपत्ति पड़ने पर जैनधर्म एवं उसके साधकों को सुरक्षा प्रदान की है। उसी भारत के दक्षिणी–पश्चिमी भूभाग के शेडवाल ग्राम जिसे जैन मुनियों का जनक केन्द्र कहना ही उपयुक्त होगा, वहीं उनका भी २२ अप्रैल १९२५ में जन्म हुआ। उस भूभाग के लोगों में अपने प्राचीन आदर्शों के प्रति जन्म से ही गौरव की अनुभूति होती रही है। आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामीकार्तिकेय, स्वामी समंतभद्र, पूज्यपाद अकलंक, विद्यानन्दि आदि भी तो उसी भूभाग के थे, अतः मुनिश्री भी उनकी गौरव गाथाओं की सुगन्ध से प्रारम्भ से ही मंत्रमुग्ध थे। फिर उनके गुरु मुनि समन्तभद्रजी तथा अन्य मुनियों एवं विद्वानों ने उनके जीवन को सन्त साधना की ओर मोड़ दिया।

दिगम्बर जैन मुनि चूंकि पैदल बिहार करते हैं, देश के कौने–कौने में पहुंचते हैं, अतः उनकी सार्थकता के लिये यह आवश्यक है कि वे अपनी शास्त्रोक्त चर्या की निर्दोष विधिपूर्वक पालना के साथ–साथ इतिहास, संस्कृति, साहित्य, धर्म दर्शन तथा प्राच्य एवं अर्वाचीन स्थानीय भाषाओं के सम्यग्ज्ञान के साथ–साथ प्रभावी वक्तृत्व शक्ति का भी विकास करें। हम यह गौरव के साथ कह सकते हैं कि मुनिश्री विद्यानन्दजी ने इन क्षमताओं को प्राप्त किया है। उनके प्रवचनों एवं प्रकाशित ग्रन्थों में इसकी झांकी सहज सुलभ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सन् १९६५ के दशक में मुनिश्री के जब जयपुर एवं इन्दौर सम्भाग में चातुर्मास हुए और उनके प्रभावकारी उपदेशों ने वहाँ के जैन समाज को नई स्फूर्ति दी, साहित्यकारों में नई चेतना फूंकी, उनके उपदेशों से जैनेतरों को जैनधर्म का मर्म समझाने में कठिनाई न हुई। तब से समाज में प्रगति का एक नया दौर चला। जैनों की बात तो छोड़ दीजिये, हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई एवं पारसी, हरिजन आदि अगड़े एवं पिछड़े सभी लोग उन्हें अपना मार्गदर्शक मानने लगे। आचार्य हरिषेण कृत बृहद्कथा कोष , आराधना कथाकोष एवं पुण्यास्रव कथाकोषों में पतितों के उद्धार सम्बन्धी जो मार्मिक आख्यान मिलते हैं, उनकी अभिव्यक्ति आचार्य विद्यानन्दजी के प्रवचनों में स्पष्ट मिलती है।

मुनिश्री की हार्दिक इच्छा थी कि जैनधर्म की आभा महलों से झोपड़ों तक, अमीर से गरीब तक, सभी शिक्षितों एवं अशिक्षितों तक और विदेशों तक तथा देशी विदेशी साहित्यकारों, दार्शनिकों और विचारशील एवं सामान्य कोटि के व्यक्तियों के दरवाजों तक पहुंचे। इसके लिये उनके चिन्तन ने भगवान महावीर का २५००वां परिनिर्वाण महोत्सव के आयोजन की परिकल्पना की और यह मुनिश्री का चमत्कार ही माना जायेगा कि अल्पकाल में ही सन् १९७४–७५ में देशव्यापी आयोजन हो गया। उसके कारण देश विदेश में तीर्थंकर महावीर के सर्वोदयी उपदेशों का जैसा प्रभावशाली प्रचार हुआ, सभी उसे जानते हैं। विविध भाषाओं में विविध शैलियों में जैन जैनेतर लेखकों , कवियों, नाटककारों एवं उपन्यासकारों ने जैसा जैन साहित्य लिखा, सरकारी मीडिया ने जैसे रोचक कार्यक्रम प्रस्तुत किये उसे २०वीं सदी की एक अपूर्व ऐतिहासिक घटना माना जायेगा। उसी समय आचार्य विनोबा भावे की प्रेरणा से 'समणसुत्त' नामक सर्वसम्मत आगम ग्रन्थ तैयार किया गया तथा मुनिश्री विद्यानन्दजी के सान्निध्य में समस्त जैन सम्प्रदाय के चतुर्विध संघ की संगति हुई और उस स्नेह सम्मिलन का अपूर्व भव्य वातावरण जैन इतिहास का एक स्वर्णिम अध्याय बन गया।

जैन विद्वानों के जीवन में भी सम्भवतः वह पहली घटना थी, जब उन्हें चाहे वे किसी भी प्रान्त या भाषा या विषय के रहे हों, उन्हें मुनिश्री के खोजियों ने कौने अन्तरे से खोज न निकाला हो और उन्हें दिल्ली के विज्ञान भवन के सर्वोच्च शिखर पर बैठाकर सम्मानित पुरस्कृत न कराया गया हो। विद्वानों ने भी अपने को उस सम्मान से गौरवान्वित समझा और आगे चलकर द्विगुणित उत्साह से साहित्यलेखन एवं शोध सम्बन्धी कार्य किये। वह सम्मान समारोह भी ऐतिहासिक था। आज जैन विद्या के क्षेत्र में जैन लेखकों, जिज्ञासुओं एवं शोधार्थियों की जो लम्बी पंक्ति दिखाई दे रही है, उसमें महावीर परिनिर्वाण समारोह का विशेष योगदान है।

भारत जैसे महान राष्ट्र की राजधानी दिल्ली में एक विशाल सर्व सुविधा सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के शोध केन्द्र की कमी बहुत खटक रही थी मुनिश्री ने अपने किसी प्रवचन में इसकी आवश्यकता की ओर संकेत किया होगा और उसी का सुपरिणाम था कि दिल्ली के एक ऐतिहासिक स्थल पर 'कुन्दकुन्द भारती' की स्थापना कर दी गई। उसके प्राकृत भवन का उद्घाटन तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी ने किया था और उसके बहुमुखी विकास के लिये उन्होंने पूर्ण सहयोग का आश्वासन भी दिया था। यद्यपि अपने लक्ष्यों के अनुसार उसे सर्वांगीण विकसित रूप नहीं मिल पाया है क्योंकि किसी भी संस्था के विकास के लिये दीर्घावधि की आवश्यकता तथा पर्याप्त साधनों एवं सहयोग की आवश्यकता होती है। फिर भ झी, उसके अनेक महत्वपूर्ण प्रामाणिक प्रकाशनों, प्राचीन दुर्लभ पाण्डुलिपियों का संग्रह एवं सुरक्षा समय–समय पर आयोजित साहित्यिक एवं दार्शनिक संगोष्ठियाँ, शोध–सन्दर्भ आदि के संग्रह हेतु देश के कौने–कौने से आगत शोधार्थियों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के गमनागमन, श्रावक–श्राविकाओं एवं त्यागी–व्रतियों के द्वारा निरन्तर स्वाध्याय एवं पठन–पाठन के लाभ से इस स्थल का वातावरण भव्य एवं श्रमण संस्कृति से ओतप्रोत रहता है और कर्नाटक एवं गुजरात के पूर्व मध्यकालीन जैन विद्या केन्द्रों (तलकाड एवं बाटनगर) का सुखद स्मरण दिलाता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समाज में जागरुकता लाने हेतु महान आचार्यों एवं राष्ट्रभक्तों की स्मृति में समारोह मनाना आवश्यक होता है। उससे उनके गौरवपूर्ण कार्यों का स्मरण भी हो जाता है, साथ ही नई पीढ़ी के लिये उनके चरित्रों से प्रेरणा भी मिलती है। कुछ समय पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द का द्विसहस्राब्दि समारोह तथा गोम्मटेश्वर तथा उसके निर्माता प्रतिष्ठाता महामना वीर सेनापति चामुण्डराय का एक हजारवां वर्ष समारोह उसी की अभिव्यक्ति थी, जिसके मूल में पूज्य आचार्यश्री की प्रेरणा थी। इन समारोहों का फल यह हुआ कि आज कुन्दकुन्द एवं उनका साहित्य तथा गोम्मटेश एवं उसके निर्माता से सारा देश सुपरिचित है एवं उनसे सम्बन्धित विविध भाषाओं में लिखित सत् साहित्य घर–घर में विराजमान होकर सभी को प्रेरणा दे रहा है।

आचार्यश्री जैन विद्या की प्रगति के लिये अहर्निश चिन्तित रहते हैं। जो स्वाभाविक है। प्राचीन काल में लेखन कार्यों में अनेक समस्यायें थीं फिर भी हमारे महामहिम आचार्यों ने उच्चकोटि का शास्त्रीय साहित्य लिखा और उनके आधार पर परवर्तीकालों में हजारों लाखों ग्रन्थ लिखे गये, जो हमारी अमूल्य धरोहर हैं। उनमें से अनेक ग्रन्थों के कालकवलित हो जाने के बाबजूद भी जो ग्रन्थ अभी बचे हैं, उनकी सुरक्षा की चिन्ता मुनिश्री को है। अतः उनके सम्मुख एक समस्या है उनका वैज्ञानिक सूचीकरण तथा उनके सुयोग्य सम्पादन, अनुवाद एवं प्रकाशन की। इस क्षेत्र में योजनाबद्ध तात्कालिक कार्यवाही अत्यावश्यक है।

यूनान, मिश्र, ईरान, श्रीलंका, जर्मनी आदि देशों में प्राथमिकता के आधार पर अपनी राष्ट्रीय धरोहर मानकर अपने यहां सुरक्षित लगभग सभी पाण्डुलिपियों का प्रकाशन कर लिया है, किन्तु भारत इसमें अभी बहुत ही पिछड़ा हुआ है क्योंकि नष्ट होने के बाद जो साहित्य अभी बच सका है, उसमें संभवतः २० प्रतिशत ही छप सका है और बाकी का अपने उद्धार अथवा काल कवलित होने की प्रतीक्षा में है।

पूज्य विद्यानन्दजी वर्तमान में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हैं। कुछ वर्ष पूर्व उनका दीक्षा वर्ष चारित्र–वर्धनोत्सव के रूप में दिल्ली में मनाया गया था। इस अवसर पर लोकसभा में तत्कालीन विपक्ष के नेता श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने आचार्यश्री के गुणानुवाद के प्रसंग में उपयुक्त हीं कहा था कि – "भारत में सदैव ही धर्म का प्रभाव रहा है। पहले राजा शासन करता था और ऋषि मुनि अनुशासन करते थे। आचार्य विद्यानन्दजी ने अभी तक लगभग ७५ हजार मील से भी अधिक की पदयात्रा कर जन–जन को ज्ञान का लाभ दिया है। जीवन को सन्मार्ग की ओर ले जाने का यह विवेक और ज्ञान हमें आचार्यश्री के सदृश आप्त पुरुषों से ही प्राप्त होता है।"

आचार्यश्री ने समाज एवं राष्ट्र के उत्थान के लिये जैसा मार्गदर्शन किया उसके प्रति सारा राष्ट्र कृतज्ञ है और उनके स्वस्थ अमृत महोत्सव के पावन अवसर पर उनके दीर्घायुष्य की मंगल कामना करता है। अरिहन्तदेव से प्रार्थना है कि राष्ट्र को उनका सान्निध्य दीर्घकाल तक निर्बाध रूप से प्राप्त होता रहे।

● महाजन टोली नं. २
आरा (बिहार)

□□□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्वत परिषद् क्यों और किसलिए ?

प्रतिष्ठाचार्य पं. विमलकुमार जैन सोंरया
एम.ए., शास्त्री, आ. रत्न,

इस लघु लेख में श्री सोंरयाजी ने विद्वत्परिषद् के सुगठित स्वरूप को दर्शाया ह उसे समाज हित के लिए सार्थक व अपरिहार्य भी बताया है। विद्वत्परिषद् की गौरवपूर्ण परम्परा के प्रहरी के रूप में आज उन्हें जो पीड़ा है उसकी अभिव्यक्ति भी यहाँ हुई है। - सम्पादक

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् भारतीय दिगम्बर जैन समाज के विद्वत वर्ग की एक सुसंगठित संस्था है। दिगम्बर आम्नाय के विद्वानों को इसमें मतभेद के बिना सम्मलित किया जाता है। वह विद्वान चाहे सोनगढ़ पंथी मान्यता वाले हों, तारणतरण मान्यता वाले हों, वीसपंथी मान्यता वाले हों अथवा तेरह पंथी मान्यता वाले हों – जो भी दिगम्बर जैन आम्नाय से आबद्ध हैं उन विद्वानों को इस परिषद् में इसीलिए समाहार किया कि वह दिगम्बर आम्नाय की परस्पारा के समर्थक–पोषक और आराधक हैं।

जहाँ तक विद्वत वर्ग की परिभाषा को लें तो वह चाहे साहित्कार हो, कवि हो, समीक्षक या लेखक हो, आलोचक या सम्पादक हो, – प्रतिष्ठाचार्य या प्रवचनकार हो अथवा किसी भी पाठशाला से विश्वविद्यालय तक अध्यापन कार्य में संलग्न शिक्षक हो वह दिगम्बर जैन परस्परा का व्यक्ति है तो इस परिषद् का सदस्य बनाया गया है। एक बात निर्विवाद है कि दिगम्बर आम्नाय की इस विद्वत् परिषद् में किसी पंथ विशेष की परम्परा का पोषण तथा उस परम्परा के अनुकूल आचरणों का प्रचार प्रसार हेतु इस परिषद् को नहीं बनाया जाएगा। इस परिषद में लगभग ४०० से अधिक अस्थाई और स्थाई दो प्रकार के सदस्य हैं। परिषद् के इन सदस्यों की भी एक बहुत बड़ी गरिमा है। जिन विद्वानों को किसी अवधि तक के लिए पदाधिकारी के रूप में किसी भी चयनित प्रक्रिया के द्वारा चयनित किया गया है उसे निर्विवाद स्वीकार करना चाहिए। यदि चुनाव प्रक्रिया में किसी प्रकार का छल–फरेब अथवा अन्य किसी प्रकार की गलत–प्रयोजन नीति को साकार कर व्यक्ति विशेष के प्रतिपक्ष में किसी विद्वान का पदाधिकारी के रूप में चयन हो गया है, और पराजित व्यक्ति को इस विषयक जानकारी का अभाव भी हुआ है, तो सर्वप्रथम अपने दस्तावेजों को लेकर न्यायिक निर्णय लेना संस्था या परिषद के हित में है। ऐसा नहीं है कि पराजित व्यक्ति किसी अन्य प्रसंग में १०–२० विद्वानों की हुई उपस्थिति में उस नाम की संस्था का स्वयंभू बनकर बैठ जाय एक बड़े दुर्भाग्य की बात है। फिर परिषद् के सदस्यों का क्या महत्त्व रहा यह समझ के परे है। अच्छा होता परिषद के ४०० से अधिक विद्वानों के समीप पुनः डाक द्वारा पत्र भेजकर एक सीमा अवधि के अन्तर्गत चयनित विद्वानों के प्रति उनका मत पुनः हासिल किया जाता। तथा समस्त लिफाफे किसी विशिष्ट आचार्य या जैन मुनि की पावन सान्निध्यता में खोलकर तथ्य के सत्य को उद्घादित कर संस्था के हित में उसकी गरिमा को गौरवान्वित किया जाता।

लोक सभा अथवा विधान सभा के चुनावों में भारी स्तर पर हेराफेरी करके बहुत से उम्मीदवार जीतते हैं इसका यह मतलब नहीं कि पराजित हजारों उम्मीदवार मिलकर नई संसद या विधान सभा का गठन कर लें और अपने स्वामित्व की ढोल बजाने लगें। हाँ हारे हुए व्यक्ति के साथ कोई चार सौबीसी की गई है और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके तथ्य सत्य सबूत उसे हासिल हो जाते हैं तो वह मय दस्तावेजों के उच्च न्यायालय में जाता है और वहाँ के निर्णय को स्वीकार करता है। वह निर्णय पक्ष या विपक्ष में हो अथवा शीघ्र या लम्बे समय बाद हों यही नैतिकता–वैधानिकता है।

आज हम पद की आकांक्षा से यदि अपनी ही परिषद् के दो टुकड़े करके भारतीय दिगम्बर जैन समाज के बीच अपने अस्तित्व को रोपना चाहें तो यह एक गम्भीर हास्यास्पद बात होगी। अपने परिवार के प्रति द्रोह, वैमनस्व और कलह के परिवेश में रहने वाला धर्म और साहित्य संस्कृति के माध्यम से समाज को कैसे एकता के सूत्र में बांध सकता है। फिर भी मेरा कथन प्रति पक्ष को न रुचे और उसे पद की वेदी पर बैठने की तीव्र लालसा हो तो यह तो काल का प्रभाव है– ऐसी मान्यता मानते हुए हम सन्तोष करें और अपनी–अपनी पद कुर्सी पर बैठकर अपनी–अपनी प्रतिभा अनुसार धर्म–संस्कृति–साहित्य के माध्यम से समाज की सेवा करते रहें। एक दूसरे पर प्रतिपक्षता का कटाक्ष न कर अपनी पतित विद्वत्ता को दाद न दें।

अ. भा. दिगम्बर जैन विद्वत परिषद ने अपने अर्द्धशतक कार्यकाल में विद्वानों की गरिमा की अक्षुण्णता प्रदान करने में तथा जैन वांगमय के प्रचार प्रसार में गौरवपूर्ण कार्य किया है तथा अपने नैमित्तिक और वार्षिक अधिवेशनों द्वारा दिगम्बर जैन समाज में एक जबरदस्त जागृति दी है। तथा जैन समाज–धर्म–साहित्य और संस्कृति की समुन्नति विषयक पारित प्रस्तावों से अपनी गरिमा को गौरवता के सिंहासन पर अधिष्ठित किया है।

पण्डित प्रवर डॉ श्री पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर के दीर्घकालीन महामंत्रीत्व काल में इस परिषद ने अपनी सफलता के जो सोपान चढ़े हैं वह अवश्य परिषद् के इतिहास में सदैव चिरस्मरणीय रहेंगे। आशा है यह परिषद् अपने वर्तमान विवादों के घेरे से पृथक रहकर अपने अस्तित्व को उन्नति के शिखर पर पदस्थ होने का गौरव प्राप्त करेगी।

प्रसन्नता है भारत के इस सदी में महान विद्वान दिगम्बर जैनाचार्य श्री १०८ विद्यानंदजी के पावन सान्निध्य में अवश्य एक समाधान प्राप्त होगा तथा डा. राजाराम जी आरा के अध्यक्षीय विद्वत्परिषद् का जो व्यापक स्तर पर विद्वत सम्मान के साथ स्वर्ण जयन्ती का जो राष्ट्रस्तरीय आयोजन किया जा रहा है अवश्व विद्वत जगत के लिए गौरव पूर्ण रहेगा। देश के विशिष्ट ५५ विद्वानों का एक साथ सम्मान किया जाना –स्वर्ण जयंती स्मारिका का प्रकाशन होना तथा भावी व्यापक योजनाओं का साकार होना परिषद् की अपनी प्रस्तावक विशिष्टता है। आशा है परिषद् की स्वर्ण जयन्ती महोत्सव अपनी ऐतिहासिक गुणवत्ता के साथ सम्पन्न होगा।

● **प्रधान सम्पादक - वीतरागवाणी मासिक**

टीकमगढ़ (म. प्र.)

❑❑❑

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्वत् परिषद पारित प्रस्ताव एवं उनका कार्यान्वयन

श्रीमती रंजना बंसल

> *विदुषी लेखिका ने १६८६ से १० वर्षों में विद्वत्परिषद् में प्रस्तुत व पठित प्रस्तावों का संकलन प्रस्तुत लेख में किया है। इससे जनसामान्य को विद्वत्परिषद् की गरिमा का अनुमान हो सकेगा।* - सम्पादक

जैन सिंद्धातों एवं संस्कृति की रक्षा उन्नयन हेतु पूज्य गणेश प्रसाद वर्णी जी की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन में (१) दि. जैन संस्कृति की स्थिति संरक्षण एवं संवर्धन, (२) दि. जैन विद्वानों का संगठन, (३) सदस्यों का बौद्धिक तथा आर्थिक विकास, (४) दि. जैन साहित्य, न्याय, दर्शन का अध्ययन शिक्षण एवं प्रचार इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कलकत्ता में दि. २/११/६४ को वीर शासन जयंती के दिन श्री अखिल भारत वर्षीय दि. जैन विद्वत् परिषद् की स्थापना हुई। विद्वत् परिषद् का प्रथम अधिवेशन सन १६४५ में कटनी में वर्णीजी के सानिध्य में सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर पू. वर्णीजी ने विद्वानों के समागम पर अपनी प्रसन्नता व्यक्त कर प्रगति पर संतोष व्यक्त किया।

विद्वत् परिषद ने अपनी स्थापना के ४५ वर्ष पूर्ण कर लिए हैं। इन वर्षों में परिषद ने विभिन्न क्षेत्रों में बहुमुखी विकास कर, जैन सिंद्धात एवं संस्कृति का संरक्षण, साहित्य प्रचार, साहित्य सृजन, विभिन्न विषयों पर संगोष्ठीयों का अयोजन, प्राचीन दुर्लभ ग्रंथों का प्रकाशन, ग्रंथों की टीकाएं, विद्वानों को उनकी कृतियों पर पुरस्कृत कर सम्मानित करना, सामाजिक क्षेत्रों में आए शिथिलाचार को दूर कर आचार विचार में सुधार हेतु प्रयत्न करना आदि अनेक क्षेत्रों में अपना अभूतपूर्व योगदान दिया है।

प्रस्तुत आलेख में विगत दशाब्दी में अर्थात १६८६ से १६६६ तक कार्यकाल में भाषा, साहित्य, संस्कृति, सामाजिक एकता के क्षेत्रों में जो महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पारित हुए उनका ब्योरेवार विवरण प्रस्तुत है:-

साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में -

(१) ६८-६६ फरवरी सिद्धक्षेत्र कुंडलपुर में वि. प. निश्चित करती है कि जैन संस्कृति पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों एवं विविध प्रचार माध्यमों में आये दिन अनर्गल चर्चा आती रहती हैं, उसका आगमोक्त प्रतिवाद होना चाहिए। उसके लिए एक समिति का गठन होना चाहिए, जो तथ्यों का विश्लेषण कर जैन पत्रों एवं अन्य राष्ट्रीय पत्रों में प्रकाशित करे। समिति के निम्नलिखित सदस्य मनोनीत किए गये।

समिति के सदस्य :-	डॉ सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी
	डॉ शीतलचंद जैन, जयपुर
	डॉ फूलचंद जैन प्रेमी, वाराणसी,
परामर्शदाता :-	सिंद्धाताचार्य पं. जगन्मोहन लाल जी शास्त्री, कुंडलपुर
	डॉ दरबारी लाल जैन कोठिया न्यायाचार्य बीना
प्रस्तावक :-	श्री सत्यंधर कुमार सेठी, उज्जैन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समर्थक :— डॉ फूलचंद जैन प्रेमी, वाराणसी

(२) १६/२/८६ कुंडलपुर में — जैन धर्म अहिंसा प्रधान धर्म है। हमारी सारी क्रियाएं, साहित्य एवं गतिविधियां तदनुकूल अहिंसक होती है। आजकल धर्म के नाम पर हिंसा पोषक साहित्य जैसे — मंत्रानुशासन लघु विद्यानुवाद आदि जैन समाज में देखने में आये हैं जो प्रामाणिक नहीं है। उससे धार्मिक एवं मानवीय गरिमा को आघात पहुंचा है। ऐसे साहित्य की विद्वत् परिषद इस प्रस्ताव द्वारा निंदा करती है और उसे अप्रामाणिक मानती है।

प्रस्तावक - डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल, अमलाई
अनुमोदक - सत्यंधर सेठी, उज्जैन
समर्थक - कंछेदीलाल जैन, रायपुर, सत्यप्रकाश जैन, दिल्ली

(३) १०—११ अप्रैल ६० सतना में:— अ.भा. दि. जैन विद्वत् परिषद प्रस्ताव करती है कि न्याय प्रक्रिया की उदार मान्यताओं की ओट में पुरातत्व तस्कर तथा प्रतिरूपक व्यवसाय कर्ता समुचित एवं प्रभावक दंड से बच जाते हैं। अतः परिषद भारतीय एवं प्रादेशिक शासन से आग्रह करती है कि न्यायसंहिता को ऐसा रूप दे जिसके द्वारा उक्त प्रकार के विधि विराधकों में भय हो और नागरिकों को शुद्ध पदार्थ मिल सके तथा राष्ट्र के उज्ज्वल अतीत तथा संस्कृति के सबल स्रोतों का अपहरण रुके।

प्रस्तावक - राजेन्द्र कुमार बंसल
अनुमोदक - पं. सत्यधरजी सेठी, उज्जैन

(४) अ. भा. दि. जैन विद्वत् परिषद की यह सर्व साधारण सभा के संस्थापक एवं भूतपूर्व अध्यक्ष सिद्धांताचार्य पं. जगन्मोहन लालजी शास्त्री के सम्मान में आयोजित साधुवाद—समारोह में अपना अधिवेशन करके अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करती है और इस 'साधुवाद समारोह' तथा उन्हें समर्पित साधुवाद ग्रंथ मर अपना हर्ष व्यक्त करती हुई हार्दिक बधाई प्रेषित करती है। परिषद के पदाधिकारी एवं सदस्यगण श्रद्धेय पंडितजी के शतायु होने की मनोकामना करते हैं। सर्वानुमति से पारित —

प्रस्तावक - नीरज जैन
समर्थक - श्रेयांस कुमार जैन
अनुमोदक — सत्यप्रकाश जैन

(५) अ. भा. दि. जैन विद्वत् परिषद सतना अधिवेशन परिषद के भूतपूर्व अध्यक्षों श्री विद्वद्वर पण्डित बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना एवं विद्वद्वर पं. डॉ पन्नालालजी साहित्याचार्य के अभिनंदन समारोहों एवं अभिनंदन ग्रंथ समर्पणों के प्रति हर्ष व्यक्त करती है और मा. श्री व्याकरणाचार्य जी और मा. श्री साहित्याचार्य जी को बधाई प्रेषित करती है और शतायु की मनोकामना करती है। सर्वानुमति से पारित —

प्रस्तावक - पं. कमल कुमार शास्त्री
समर्थक - पं. गुलाबचंद पुष्प
अनुमोदक - सुखानंदजी, टीकमगढ़

(६) १४—१५ नवंबर १६६२ को सतना में आयोजित बैठक में निम्न निर्णय लिए गए —

(१) जैन धर्म, जैन साहित्य व जैन संस्कृति से जैन समाज के विभिन्न वर्गों को सही व सम्यक् रूप से अवगत कराने के लिए विभिन्न स्थानों पर वि. प. के तत्वावधान में जैन शिक्षण शिविर आयोजित किये जाएं। वि.प. के विद्वान इसमें सक्रियता से सहयोग करेगें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२) आगम में वर्णित सच्चे देव शास्त्र गुरु के स्वरूप का वर्णन एवं विवेचन करते हुए वि.प. की ओर से एक पुस्तिका का प्रकाशन किया जाए, जिससे समाज का सही मार्गदर्शन हो सके।

(३) दि. जैन आम्नाय का सच्चा स्वरूप प्रगट करने वाले धर्म ग्रंथों को विदेशो में भेजने की व्यवस्था करना तथा वहां रहने वाले जैन बंधुओं से संपर्क कर अन्य प्रचार संबंधी साहित्य का निर्माण करना।

(७) २६–२७ जून १९९३ खुरई – वर्तमान काल में जैन समाज में कुछ ऐसी प्रवृतियां प्रारम्भ हो गई है जिनमें प्राचीन कलाकृतियों मूर्तियों और पुरातन शिल्पावशेषों को जीर्णोद्धार कर पुनः प्रतिष्ठित करने के नाम पर मनमाने ढंग से काटा छँटा जा रहा है जो उनकी ऐतिहासिकता व उनके मूल स्वरूप पर आघात हैं। देवगढ़, सेरौन एवं चंदेरी आदि स्थानों पर इसी प्रकार के आगम विरुद्ध कार्य किय गए हैं जिनमें कला कृतियों पर अंकित चिन्हों के स्थान पर नए चिन्ह अंकित किए गए हैं। कहीं–कहीं तो इस प्रकार के कार्यों में त्यागी वर्ग की प्रेरणा एवं सक्रिय सहयोग भी लक्षित होता है। इस प्रकार के आगम विरुद्ध कार्यों से हमारी संस्कृति और कला की जो हानि हो रही है वह अक्षम्य है। अतः विद्वत परिषद सभी त्यागियों व श्रावकों से सविनम्र अनुरोध करती है कि इन प्राचीन कला–कृतियों व पुरातन शिल्पावशेषों के संरक्षण में सजग सहयोग प्रदान करें।

प्रस्तावक - प्रो. खुशालचंद गोरावाला

अनुमोदन - डॉ. कस्तूरचंद कासलीवाल, डॉ राजेन्द्र कुमार बंसल
श्रीमती रंजना बंसल

(८) जैन धर्म, दर्शन, अध्यात्म, संस्कृति, इतिहास, साहित्य, पुरातत्व, प्राच्य पांडुलिपि आदि की ऐतिहासिक मूल्य की उपेक्षित बहुमूल्य विरासत को प्रकाश में लाने के लिए वार्षिक शोध भाषण माला के आयोजन का प्रस्ताव करती है।

प्रस्तावक - डॉ. राजेन्द्र बंसल

अनुमोदक - डॉ. सत्यप्रकाश जैन, दिल्ली

(२) भाषा के क्षेत्र में –

(१)१७–४–९५ प्रयाग में यह प्रस्ताव पारित करती है कि श्रुत पंचमी को 'प्राकृत दिवस' के रूप में मनाया जाए। अ.भा.दि. जैन विद्वत् परिषद की कार्यकारिणी राष्ट्रीय स्तर पर प्रत्येक वर्ष मनाए जाने वाले संस्कृत दिवस, हिन्दी दिवस की तरह राष्ट्रीय स्तर पर प्रत्येक वर्ष श्रुत पंचमी को प्राकृत दिवस के रूप में मनाये जाने का प्रस्ताव सर्व सम्मति से स्वीकृत करती हुई सभी से अनुरोध करती है कि प्राकृत भाषा और साहित्य की उन्नति तथा प्रचार–प्रसार हेतु 'प्राकृत–दिवस' उक्त तिथि को मनाए और इसकी प्रभावना हेतु प्रयास करे।

प्रस्तावक - डॉ फूलचंद प्रेमी, वाराणसी

अनुमोदन - डॉ लालचंद वैशाली

(२) पांडुलिपियों के संबंध में सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया गया कि डॉ कस्तूरचंद जी कासलीवाल, जयपुर अपने किसी सहयोगी के साथ सर्वेक्षण कर पांडुलिपियों की सूची तैयार करे। सर्वानुमति से पारित

(३) २४–२५ जून १९९५ को कुंदकुंद भारती प्राकृत भवन दिल्ली में प्रस्तावितः– सर्वानुमति से पारित–

१. अ.भा. दि. जैन वि. की कार्यकारिणी के सदस्य राष्ट्र संत परम पूज्य आचार्यश्री विद्यानंदजी मुनिराज के पावन सान्निध्य में भारत सरकार से अनुरोध करते हैं कि अन्य भाषाओं की अकादमियों की तरह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारत सरकार द्वारा अपने राष्ट्र की प्राचीनतम जन भाषा – प्राकृत के सम्यक् प्रचार–प्रसार और सम्यक् मूल्यांकन हेतु 'राष्ट्रीय प्राकृत साहित्य अकादमी' की स्थापना की जाए।

२. अ.भा. दि. जैन विद्वत्परिषद की कार्यकारिणी के सदस्य राष्ट्रसंत परम पूज्य आचार्य श्री विद्यानंदजी मुनिराज के पावन सान्निध्य में परिगणित भाषाओं की अनुसूची में प्राकृत को भी परिगणित कर सम्मिलित किया जाए और शिक्षण, अनुसंधान पुरस्कार आदि की वे सभी सुविधाएं प्राकृत को भी प्रदान की जाएं जो अन्य भारतीय भाषाओं को प्रदान की जा रही है।

३. राष्ट्रसंत परम पूज्य आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज के पावन सान्निध्य में आयोजित अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद की कार्यकारिणी यह बैठक भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और जैन समाज से यह अनुरोध करती है कि वह भारतीय लिपि, भाषा, अध्यात्म, दर्शन, आचार साहित्य, इतिहास, संस्कृति और लोक–जीवन के प्रामाणिक दस्तावेजों की अमूल्य धरोहर के स्वरूप इन पांडुलिपियों की सुरक्षा एवं प्रकाशन की व्यवस्था हेतु उदार आर्थिक सहायता प्रदान करे।

(४) राष्ट्रसंत परम पूज्य आचार्य जी विद्यानंदजी मुनिराज के पावन सान्निध्य में आयोजित अ.भा.दि. जैन वि. प. की कार्यकारिणी की यह बैठक अपनी लोकप्रिय केन्द्रीय सरकार तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से यह साग्रह अनुरोध करती है कि वह भारतीय भाषाओं की जननी प्राकृत भाषा की सुरक्षा करे तथा संस्कृत, उर्दू, अरबी एवं फारसी भाषाओं के समान ही प्रत्येक भारतीय विश्वविद्यालय में प्राकृत के पठन–पाठन की व्यवस्था करे।

(३) सामाजिक एकता व चेतना –

१. १८-१६ फरवरी १६८६ कुंडलपुर में

पनागर (जबलपुर) के समीप पूज्य श्री १०८ आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज एवं उनके संघ पर कुछ असामाजिक तत्त्वों द्वारा जो आक्रमण किया गया है वह अत्यंत अशोमनीय एवं निंदनीय कार्य है। अ.भा. दि. जैन वि.प. इस कार्य की घोर निंदा करती है तथा भविष्य में इस प्रकार के कार्य की पुनरावृति न हो इसके लिए जागरूक रह कर संगठित प्रयत्न की आवश्यकता अनुभव करती है।

प्रस्तावक - डॉ कमलेश कु. जैन, वाराणसी
समर्थक - डॉ कंछेदीलाल जैन, रायपुर

२. १०-११ अप्रैल १६६० सतना में

अ.भा. दि. जैन वि.प. प्रस्ताव करती है कि दिगंबर जैन समाज में कोई प्रति साधु तथा गृहस्थ अपनी श्रद्धानुसार पंथ पूजा–पद्धति स्वीकार करने को स्वतंत्र है। उनसे अनुरोध है किं वे ऐसा उपदेश न दे, आचरण न करे, जिससे स्थानीय मूल आम्नाय की धार्मिक पद्धतियों में भ्रांति उत्पन्न हो अकारण ही स्थानीय समाज में अशांति हो या सौहार्द में कमी आवे। सर्वानुमति से पारित।

प्रस्तावक - राजेन्द्र कुभार बंसल
समर्थक – देवेन्द्र कुमार जैन
अनुमोदक – एम.सी. जैन, सिवनी

३. २६-२७ जून १६६३, खुरई

समाज में शोध प्रबंध व पाठमालाओं के रूप में पूजन–पाठ की कुछ ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन हो रहा है जिसमें समाज को अपनी–अपनी आम्नाय व परंपरा को बनाए रखने में कठिनाई का अनुभव हो रहा है। इस प्रकार के प्रकाशनों से समाज में विघटन संभव है। इस प्रकार के प्रयत्नों की पुनरावृति रोकने के प्रयासों पर गंभीरता से विचार करने के लिए निम्नलिखित समिति का गठन किया गया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संयोजक - डॉ फूलचंद प्रेमी,

सदस्य - डॉ शीतलचंद जैन, डॉ राजेन्द्र कुमार बंसल

४. २६ नवंबर १९९८ दिल्ली जैन बालाश्रम दरियागंज

महिलाओं के जागरण एवं उनके बहुमुखी विकास हेतु विद्वत्परिषद के अंतर्गत एक महिला समिति का गठन किये जाने का प्रस्ताव करती है।

प्रस्तावक - श्रीमती रंजना बंसल,

अनुमोदक - श्रीमती कमलेश जैन अमलाई, दिल्ली
डॉ नीरा जैन, दिल्ली, श्रीमती बिंदु जैन, दिल्ली

५. जैन समाज भारतीय संस्कृति की मूल धारा में समाविष्ट होकर भी अल्पसंख्यक की श्रेणी में आता है, जिसे म. प्र. शासन ने अल्पसंख्यक घोषित किया है। परिषद की कार्य–कारिणी सभा यह प्रस्ताव पारित कर भारत सरकार से यह अनुरोध करती है कि वह जैन समाज को अल्प संख्यक समाज घोषित करे। साथ ही जनगणना के विहित प्रपत्र में अन्य धर्मो/जाति के साथ जैन शब्द भी जोड़े जाने का अनुरोध हो।

प्रस्तावक - डॉ राजेन्द्र बंसल, अमलाई

अनुमोदक - डॉ गोकुल प्रसाद जैन, दिल्ली

६. श्री अंबिका प्रसाद 'दिव्य' द्वारा लिखित 'असीम की सीमा' जिसका प्रकाशन दिशा प्रकाशन १३८/१६ त्रिनगर दिल्ली द्वारा किया गया है, पुस्तक में भगवान बाहुबली के चरित्र चित्रण के बहाने जैनागम के विरुद्ध अर्नगल रूप से लिखा गया है तथा जैन इतिहास को तोड़ मरोड़कर प्रस्तुत किया है। लेखक की जैन आगम के विरुद्ध कल्पित मान्यताओं के कारण जैन समाज की भावनाओं पर कुठाराघात हुआ है। इस संबंध में पं अरविंद कु. शास्त्री सुजानगढ़ का लेख 'जैन साहित्य इतिहास पर कुठाराघात' समन्वय वाणी अक्टूबर (प्रथम पक्ष) १९९८ में प्रकाशित है जो दृष्टव्य है।

इस संबंध में लेखक व प्रकाशक महोदय को विसंगतियों की ओर बिन्दुसार ध्यान दिलाते हुए तत्काल सुधार हेतु लिखा जाकर समुचित/संशोधन करवाने का प्रस्ताव करती है तथा वैकल्पिक रूप से समुचित कार्यवाही हेतु राज्य शासन/ केंद्रीय शासन में अनुरोध करती है एवं अन्य/विविध कार्य किए जाने का प्रस्ताव करती है।

प्रस्तावक - डॉ पदम कुमार जैन, दिल्ली

समर्थक - डॉ गोकुल प्रसाद जैन, दिल्ली
श्री जयन्ती प्रसाद जैन, दिल्ली (परीक्षा बोर्ड)

(४) अहिंसा के क्षेत्र में :–

१०/४/९० सतना में - १. जैन धर्म अहिंसा प्रधान धर्म है। मध्यप्रदेश में पशु–पक्षी बलि प्रतिषेध अधिनियम (क्रमांक २) १९७६ को माननीय राष्ट्रपतिजी की अभिस्वीकृति फरवरी ८३ को प्राप्त हो चुकी है फिर भी अधिसूचना के अभाव में उक्त अधिनियम म. प्र. में प्रभावशाली नहीं हुआ है। अस्तु विद्वत्परिषद म. प्र. राज्य शासन से मांग करती है कि निरीह प्राणियों की रक्षा–सुरक्षा हेतु उक्त अधिनियम शीघ्र प्रभावशाली कर अहिंसा प्रेमीजनों की भावनाओं का समादर करे।

प्रस्तावक - डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल, अमलाई

अनुमोदक - डॉ. देवकुमार जैन, रायपुर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(५) जैन तत्त्व का प्रचार –

१८-१६ फरवरी १६८६ कुंडलपुर १. वि.प. के प्रायः सभी विद्वान विशिष्ट अवसरोंपर प्रवचनार्थ देश के विभिन्न भागों में जाते हैं। वि.पि. के सभी सदस्य अपने आने जाने की सूचना वि.प. कार्यालय को दे जिससे यह जानकारी मिल सके कि वि.प. के विद्वानों ने समाज की क्या सेवा की है, जिसकी सूची के प्रकाशन की व्यवस्था जैन पत्रों में की जाए।

प्रस्तावक - डॉ कपूरचंद जैन खतौली
समर्थक - डॉ कस्तूरचंद कासलीवाल, जयपुर

२. वि.प. निश्चय करती है कि कुंदकुंद द्विसहस्त्राब्दि के शुभ अवसर पर वि.प. के सदस्य अपने नगरों/ग्रामों कालोनियों में प्रतिदिन/प्रवचनों एवं साप्ताहिक/मासिक शिबिरों का आयोजन करे जिससे स्वाध्याय की परंपरा अक्षुण्ण बनी रहे।

प्रस्तावक – डॉ शीतलचंद जैन, जयपुर
समर्थक - डॉ जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर

३. १४-१५ नवबंर १६७२ सतना में

जैन धर्म, जैन साहित्य व जैन के विभिन्न वर्गों को सही व सम्यक् रूप से अवगत कराने के लिए विभिन्न स्थानों पर वि.प. के त[illegible]वधान में जैन शिक्षण शिविर आयोजित किये जाए। वि.प. के विद्वान इसमें सक्रियता से सहयोग करेगें।

(६) शिथिलाचार के क्षेत्र में –

१. १८-१६ फरवरी १६८६ कुंडलपुर

वर्तमान समय में दि. जैन समाज में विविध विषयों को लेकर परस्पर तीव्र गति से मतभेद बढ़ रहे हैं। समाज में नवयुवक तथा युवतियां धर्म–श्रद्धान तथा आचार में भी शिथिल हो रहे हैं। कुछ दिगम्बर जैन साधुओं के शिथिलाचार के समाचार भी मिलते रहते हैं यह स्थिति बहुत ही गंभीर और चिंतनीय है। अतः विद्वत परिषद का यह प्रस्ताव है कि विद्वत् परिषद और शास्त्रीय परिषद के वरिष्ठ विद्वानों और अन्य मान्य विद्वानों का एक सम्मेलन आयोजित किया जाये जो इस स्थिति को संभालने हेतु मार्गदर्शन का प्रयत्न करे। इस सम्मेलन का संयोजन विद्वत् परिषद करे।

प्रस्तावक - सिद्धांतचार्य पं. जगन्मोहनलाल जैन, कुंडलपुर
समर्थक - डॉ कस्तूरचंद जैन कासलीवाल, जयपुर, डॉ शिखरचंद जैन हटा

२. २४-२५ जून १६६५ कुन्दकुन्द भारती प्राकृत भवन दिल्ली

धार्मिक क्षेत्र में आई शिथिलता पर सदस्यों से गंभीर चिता व्यक्त की और यह आशा व्यक्त की कि चतुर्विध संघ आगम सम्मत आचरण कर जैन धर्म की प्रभावना में प्रयत्नशील हो।

सर्वानुमत से पारित

(७) सामान्य क्षेत्रों में –

१. १८-१६ फरवरी १६८६ कुंडलपुर में

वि.प. के युवा विद्वान सदस्य डॉ जयकुमार जैन एवं डॉ कपूरचंद जैन को महावीर पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। वि.प. इसमें अपना गौरव मानती हुई इन दोनों विद्वानों का सम्मान एवं अभिनंदन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करती है।

प्रस्तावक – डॉ फूलचंद प्रेमी, वाराणसी
समर्थक – डॉ सुरेशचंद जैन, वाराणसी

२. आज सर्वत्र नये विद्वान तैयार न होने पर चिंता प्रकट की जाती है। विद्यालयों के लिए धर्माध्यापक नहीं मिलते हैं इसका एकमात्र प्रमुख कारण यह है कि विद्वानों को समाज की ओर से उचित वेतन नहीं दिया जाता और उनकी विद्यालयों में उपेक्षा की जाती है। अतः वि.प. का यह अधिवेशन प्रस्ताव करता है कि विद्वानों को वही वेतन दिया जाए जो राज्य सरकारो द्वारा निर्धारित है और समाज में उन्हें उचित सम्मान दिया जाये।

प्रस्तावक – सत्यंधर कुमार सेठी
समर्थक – डॉ. सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी,
पण्डित बालचंद शास्त्री, नवापारा राजिम

३. ११ अप्रैल १९९० सतना

अ.भा. दि. जैन वि.प. के सक्रिय सदस्य एवं जैन संदेश के संपादक श्री डॉ कंछेदीलाल जैन, रायपुर की नृशंस हत्या दि. ४–७–९८ को कर दी गई। वि.प. का सतना अधिवेशन इस जघन्य हत्या पर गहरा क्षोभ व्यक्त करती है। तथा इसे जैन समाज की अपूरणीय क्षति मानता है।

श्री डॉ कंछेदीलाल अत्यंत सरल स्वभावी, मृदुभाषी, कर्मठ तथा जैन विद्या के समर्पित कार्यकर्ता थे। उनके दिवंगत आत्मा को शांति लाभ की कामना करते हुए यह सभा राज्य शासन से अनुरोध करती है कि निर्मम हत्याकांड के अपराधियों को पकड़कर दंडित करे ताकि देश के या प्रदेश के बुद्धिजीवियों को पेशेवर या दादागिरी करने वाले असामाजिक व्यक्ति नष्ट न कर सकें।

अध्यक्ष द्वारा पारित।

४. २४-२५ जून १९९५ दिल्ली, कुंदकुंद भारती, प्राकृत भवन

अ.भा. दिन. जैन वि.प. केंन्द्र सरकार से यह अनुरोध करती है कि बिहार सरकार शाश्वत तीर्थ क्षेत्र सम्मेद शिखरजी के उद्धार व विकास के लिए अध्यादेश तुरन्त लागू करे। विद्वत् परिषद श्री सम्मेद शिखर आंदोलन समिति के साथ अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त करती है और यह आश्वासन देती है कि दिगम्बर जैनों की न्यायोचित मांगों की पूर्ति हेतु विद्वान मनसा–वाचा–कर्मणा उनके साथ है।

साहू श्री अशोककुमारजी तथा सम्मेद शिखर आंदोलन समिति के प्रति उनके कुशल नेतृत्व के प्रति विद्वत परिषद अपनी पूर्ण आस्था व्यक्त करती है।

सर्वानुमति से पारित

इसके अतिरिक्त १० वर्षों में विभिन्न विद्वानों, साधुओं के निधन पर शोक प्रस्ताव सर्वानुमति से पारित किए गए। दशाब्दी में वि.प. के विभिन्न क्षेत्रों में पारित प्रस्ताव तथा उनके कार्यान्वयन पर विस्तृत दृष्टिपात किया। आगे भी यह सफल हो यही मनोकामना है।

● **अमलाई (म. प्र.)**

□□□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्वत्परिषद् की भावी योजनाएँ

ब्र. यशपाल जैन, एम. ए.

अनेक वर्षों से मैं विद्वत्परिषद् का सदस्य हूँ तथापि कभी विद्वत्परिषद् के अधिवेशन में सहभाग लेने का अवसर नहीं मिला। इस समय (२६/११/६८) श्री अखिलजी की प्रेरणा से विद्वत्परिषद् के अधिवेशन में उपस्थित रहने का सौभाग्य मिला। अनेक नये साधर्मियों का परिचय हुआ और श्री राजारामजी का उत्साह जानकर हार्दिक खुशी हुई।

अधिवेशन के बाद अनेक उत्साहपूर्ण कार्य विद्वत्परिषद् कर रही है, इसका भी मुझे समाधान है। प्रमुख तीन कार्य मुझे जानने को मिले – (१) 'विद्वत्सन्देश' नामक त्रैमासिक पत्रिका (२) विद्वानों को पुरस्कृत करने का निर्णय (३) समयसार पर वाचना।

विद्वत्परिषद् विद्वानों की विद्वानों के लिये विद्वत्ता प्रचार–प्रसार हेतु समर्पित संस्था है। आज जरूरत मूल को सुरक्षित रखने की है। हमारा हर कार्य उसी दिशा में संचालित होना चाहिये, जिससे हमें हमारी लक्ष्य की प्राप्ति हो। संगठन समाज की आत्मा है, इसी अभिधेय को लेकर लिया हुआ "साथियों की सौगात" नामक पण्डित विमलकुमारजी सोंरया का लेख पढ़कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। विद्वत्परिषद् की भावी योजनाओं के संबंध में कुछ उत्साह भी जागृत हुआ।

संस्था का मूल उद्देश्य तभी फलित हो सकता है जब वह जन–जन में अपने सुयोग्य कार्य से परिचित हो न कि व्यक्तियों से। यदि हमें जिनधर्म प्रभावना करनी है तो जिनधर्म प्रभावक भी तैयार करने होंगे। सर्व१थम हमें विद्वत्परिषद् में समाहित सभी विद्वानों को परिपक्व करना होगा, जिससे उनके हृदय में जिन धर्म प्रभावना की निर्मल भावना जागृत हो सके। इन्हीं परिपक्व विद्वानों के साथ हमें अन्य विद्वानों को तैयार करने की मुहिम छेड़ना चाहिये। जब विद्वान् तैयार होंगे तो उनके द्वारा उनकी विद्वत्ता का भी प्रचार–प्रसार होगा ही। इसलिए सर्वप्रथम हमें जिनधर्म प्रभावना हेतु जिनधर्म प्रभावकों को तैयार करना होगा।

हमारे यहाँ कुछ प्रसंग ऐसे हैं, जिन प्रसंगों में हम समाज में पहुंचकर जिनधर्म प्रभावना कर सकते हैं। दशलक्षण एवं अष्टान्हिका ये दोनों पर्व विद्वानों को समाज में पहुंचने के लिये प्रवेश द्वार का कार्य करते हैं। वहीं इन्हीं दिनों में समाज की रुचि धर्ममय होती है अतः सच्ची प्रभावना भी होती है। इन्हीं धर्म प्रभावकों को हमें जैनतत्त्व की सच्ची श्रद्धा होने के उपरान्त अष्टान्हिका एवं दशलक्षण पर्व में धर्म प्रभावना हेतु समाज में भेजना चाहिये और इन्हीं के माध्यम से हमें विद्वत् परम्परा बढ़ाने का भी प्रयास करना चाहिए। एक विद्वान के द्वारा अष्टान्हिका एवं दशलक्षण पर्व के माध्यम से एक नूतन विद्वान भी बनेगा तो भी वह हमारे लिये सार्थक ही है। इन्हीं दिनों में हमें गांव–गांव में पाठशाला की स्थापना कर उसमें तत्त्वरुचिवन्त शिक्षक नियुक्त करना चाहिए। पाठशाला में बालक अपनी जैनधर्म की शिक्षा को ग्रहण करेगा तो वह नैतिक जीवन में तो सफल होगा ही वह पारमार्थिक जीवन में भी स्वयं को कृतार्थ महसूस करेगा।

पाठशाला को जीवित रखने के लिये हमें स्कूल के अवकाश के दिनों में १५–१५ दिन का बाल संस्कार शिविर भी चलाना चाहिये। जिसमें बच्चे सम्मिलित होकर राष्ट्रीय, स्तरीय अपने धार्मिक अस्तित्व को महसूस कर सकें।

इन सबका उद्देश्य एकमात्र जिनवाणी का प्रचार–प्रसार ही है; क्योंकि इस वैज्ञानिक जगत् में हर व्यक्ति वास्तविकता जानना चाहता है। वह वास्तविकता ज्ञान के माध्यम से ही उद्‌घाटित हो सकती है। सच्चा ज्ञान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनवाणी में ही निहित है। अतः जब यह स्वयंप्रेरित तत्त्व प्रसारक भी होगा। अतः जिनवाणी प्रचार–प्रसार हेतु साहित्य प्रकाशन की भी नितान्त आवश्यकता है।

ध्यान रहे हमारे राष्ट्र के कौने–कौने में जैन बसे हुए हैं; अतः हमारा जो भी कार्य हो वह राष्ट्रस्तरीय ही होना चाहिये वह मात्र हिन्दी प्रान्त में ही न पल्लावेत हो उसमें पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व हो।

हमें ऐसा महसूस हो सकता है की यह योजना मात्र कागजी उड़ान है; इसे वास्तविकता के धरातल पर लाना अत्यन्त कठिन है। सच्ची लगन एवं निष्काम भाव से किया गया हर कार्य फलित होता है। यदि हमारे पास अच्छे विद्वान हैं तो अच्छे कार्यकर्ता भी तैयार होंगे। जिस संस्था में समर्पित कार्यकर्ता हैं, वहाँ अर्थ (पैसा) भी नदी की तरह जमा होता है और सागर की तरह अपने कार्य को फैलाता है। जैन समाज अच्छे कार्यकर्ता चाहती है जिन्हें वह अपना सर्वस्व समर्पित कर सके, जिन्हें वह जिनधर्म के सच्चे प्रभावक स्वीकार कर सके। अतः हमारे पास जब अच्छे कार्यकर्ता होंगे तो अच्छे अर्थदाता भी जरूर आयेंगे।

संक्षेप में मैं कुछ कार्यों की योजना आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ –

१. विद्वत्परिषद् में समाहित विद्वानों की परिपक्वता की परीक्षा के उपरान्त इन्हीं विद्वानों के माध्यम से अन्य शास्त्रीय विद्वान तैयार कराना।

२. तैयार विद्वानों को दशलक्षण एवं अष्टान्हिका पर्व में भेजना एवं इन्हीं के माध्यम से पाठशाला की स्थापना करवाना एवं सुयोग्य पाठशाला शिक्षक तैयार करना।

३. गांव–गांव में पाठशाला चलाना जिससे कि विद्वत्परिषद् का क्षेत्र बढ़े एवं शास्त्र स्वाध्याय की परम्परा प्रारम्भ हो।

४. वर्ष में दो बार स्कूल के अवकाश के दिनों में राष्ट्रीय स्तर पर "बाल संस्कार शिविर" चलाना।

५. साहित्य प्रकाशन।

● ए-४, बापूनगर
जयपुर

□□□

अखिल भारतवर्षीय दिग. जैन विद्वत्परिषद् के
स्वर्ण जयन्ती समारोह पर
हमारी हार्दिक शुभकामनायें
– जवाहरलाल जैन

मंगलधाम, बापूनगर जयपुर–302015

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्वत्परिषद् का स्वरूप, औचित्य एवं सुझाव

✍ डॉ. श्रीयांशकुमार सिंघई

सदैव स्मरणीय परमपूज्य आध्यात्मिक संत १०५ श्री क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी के आशीर्वाद से उनके ही जैन विद्या में निष्णात विद्वान् शिष्यों ने समाज की एकता, अखंडताको बनाये रखने, शास्त्रों के प्रामाणिक स्वरूप को सुरक्षित करने, शास्त्रों के सिद्धान्तों, रहस्यों को जन–जन तक पहुँचाने आदि के उद्देश्य से ही अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् की स्थापना की होगी। आज हम उक्त विद्वत्परिषद् की स्वर्ण जयन्ती मना पा रहे हैं यह सचमुच हम सबके लिये सौभाग्य का प्रसंग तो है ही उत्तरदायित्वों को निभाने का भी अवसर है। यदि हम अपने पूर्वज विद्वज्जनों के प्रति कृतज्ञ हैं, उनके अवदान को अमर बनाना चाहते हैं तो आज हम सभी विद्वज्जनों का यह नैतिक दायित्व है कि हम सभी विद्वत्परिषद् के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये निःस्वार्थभाव से जुट जायें। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति, प्रचार एवं श्रुतभण्डारों की सुरक्षा के गुरुतर भार का निर्वहण विद्वान ही कर सकते हैं। हमारे पूर्वज विद्वानों ने जो गरिमापूर्ण आदर्श हमारे सामने रखा है, हम उससे भटकें नहीं और कूटनीतिक कुचक्रों से अछूते रहकर निःस्वार्थ भावना से समाज को धर्म बोध देने में व श्रुतभण्डारों को समृद्ध बनाने में आगे बढ़ें, बढ़ते चले जायें तो मैं समझता हूँ कि स्वर्ण जयन्ती वर्ष मनाना सार्थक होगा और उससे विद्वज्जनों की गरिमा बढ़ेगी।

मैं जैन विद्या के क्षेत्र में २०–२२ वर्षों से हूँ, जैन विद्या विषयक अध्ययन अध्यापन अन्वेषण आदि के अलावा मेरा अन्य कोई कार्य–व्यवसाय नहीं है। देश के कई ग्रामों, नगरों में शास्त्र प्रवचन हेतु पहुँचना मेरे लिये संभव रहा है जिससे सामाजिकों के साथ–साथ मुनिराजों, विद्वानों और कई संस्थाओं से परिचय होना मुझे सुलभ हुआ है। अपने सम्पर्क और सामाजिक जीवन के अनुभवों से जो भी मैंने जाना है वह उत्साहप्रद नहीं है क्योंकि समाज में फिरकापरस्ती, जाति या वर्ग संघर्ष आदि की प्रवृत्तियाँ बदस्तूर आज भी मौजूद हैं। समाज तो क्या विद्वान भी वर्गों में बंटे हुए हैं। स्वार्थपरता की प्रवृत्ति उन्हें कूटनीति से जोड़ने लगी है। परिणामतः जैसे कूटनीतिज्ञों को छलछद्म से परहेज नहीं होता वैसे ही विद्वान् भी आज छलछद्म प्रिय होते जा रहे हैं। ऐसी अभिव्यक्ति से मैं किसी की निन्दा नहीं करना चाहता अपितु कूटनीति विहीन धर्मनीतिज्ञ विद्वानों का अधमर्ण होता हुआ उनका गौरव बढ़ा रहा हूँ, और अपरिहार्य बता रहा हूँ ताकि पूर्वज विद्वानों के अवदान विषयक अमर मूल्यों को पहिचानना।

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् इस नामकरण से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह सम्पूर्ण भारत में कहीं पर भी निवास करने वाले दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी विद्वानों का संगठन है जिसके सैद्धान्तिक व्यावहारिक उद्देश्य भी जैनधर्म की प्रभावना और मुक्तिपरक पुरुषार्थ को लक्षित करते होंगे। इस संगठन का सदस्य बनने वाला विद्वान् जैनधर्म की प्रभावना विषयक औचित्य को स्वीकार करता है और एतदर्थ सच्चे देव–गुरु–शास्त्र का भक्त होकर उनकी साक्षी में ईमानदारी व निर्लोभवृत्ति से जैसी व जितनी क्षमता उसमें है तदनुसार प्रभावना के कर्त्तव्य को पूरा करता है। क्या आज तक बने विद्वत्परिषद् के सदस्यों ने उक्त कर्त्तव्य निर्वाह का सकल्प लिया है ? क्या सामान्य सामाजिकों, श्रेष्ठिजनों, डाक्टर, इंजीनियरों, उद्योगपतियों, पत्रकारों, वकीलों, बुद्धिजीवियों, विद्वानों, विदुषियों आदि को समान रूप से इस परिषद् का सदस्य बनने का अधिकार है ? क्या किसी को भी इसका सदस्य बनने की स्वीकृति देते समय यह ध्यान रखा जाता है कि यह सोनगढ़ी, गैर सोनगढ़ी या अन्य में कौन है ? इसके सदस्य बन जाने से कहीं भविष्य में हमारी कुर्सी खतरे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में तो नहीं पड़ जायेगी ? चुनावी गणित गड़बड़ा तो नहीं जायेगा अथवा अपने वर्चस्व को सुरक्षित बनाये रखने हेतु यह उपयोगी अभीष्ट होगा या नहीं ? आखिरकार कोई मानदण्ड है भी या नहीं ? नहीं तो गंभीरता से विमर्श कर इस परिषद् के स्वरूप को अखिल भारतीय विद्वानों का समवाय–संगठन के समकक्ष बनाना चाहिये। जहाँ तक मेरी जानकारी है उसके बल पर मैं कह सकता हूँ कि इस समय समाज के उन सभी वर्गों के पुरुष व महिलायें इस परिषद् के सदस्य हैं जो समाज में प्रचलित–स्वीकृत विद्वान् या विदुषी की श्रेणी में परिगणित नहीं होते। समाज में सामान्यतः विद्वान् या विदुषी उसे माना जाता है जो शास्त्रों के अवबोधन की क्षमता रखता हो और उसका व्यक्तित्व–जीवन जैन संस्कारों से अनुप्राणित हो।

यदि विद्वान् और समाज की कोई कसौटी ही नहीं तो फिर इसका नाम अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद् ही क्यों न हो ? समस्या बड़ी गंभीर है क्योंकि है तो यह विद्वत्परिषद् ही। "विद्वत्" शब्द हटने से उद्देश्यों से भटकना अपरिहार्य हो जायेगा और विद्वत्परिषद् में सभी रहेंगे तो विद्वज्जन समादरणीय आचरण न हो सकेगा। धर्म प्रभावना और शास्त्र सम्पदा की सुरक्षा में सैद्धान्तिक तथ्यों–सत्यों या नीतिगत निर्णयों की स्वीकृति अस्वीकृति बहुमत का खेल बन जायेगी। जहाँ कूटनीति और व्यक्तिगत स्वार्थ पनपे बिना रह नहीं पायेंगे जो सर्वथा अनुचित है और है उस गंभीर संकट की चेतावनी जहाँ विद्वत्ता के प्रति तथाकथित विद्वानों की लापरवाही भी उन्हें विद्वान् घोषित कर देती है। जिससे प्रमाण–अप्रमाण की चिन्ता आगमपरक न होकर समाजपरक हो जाती है। सचमुच ही यह जैन विद्वानों एवं सांस्कृतिक मूल्यों की संरक्षण के लिये घातक या पतन का हेतु है।

विद्वत्परिषद् का स्वरूप विद्वत्ता की देखरेख में ही सुनिश्चित हो, विद्वानों की गरिमा वहाँ झलके और उनके निर्णय वीतराग भाव से आगमिक और आध्यात्मिक हों। उन पर राग–द्वेष की काली छाया न मँडराये और न ही कोई दबाव उनपर डाला जाये। विद्वज्जन भी आगम प्रतिकूल समर्थन का फल नरक निगोद समझें और अपयश दुर्दशा का पात्र बनने से बचने के लिए विपरीत कथन से डरें और ईमानदारी से सत्योद्घाटन का ही निर्वाह करें।

मेरा सुझाव है कि विद्वत्परिष्द् के स्वरूप को सार्थक बनाने हेतु इसकी सदस्यता निम्नांकित वर्गीकरण के अनुसार की जाये –

१. **विशिष्ट सदस्य** - जैनधर्म–दर्शन आदि में निर्धारित योग्यता परीक्षोत्तीर्णता के आधार पर विद्वानों को ही इस श्रेणी का सदस्य बनाया जाये।

२. **संवाहक सदस्य** - विद्वत्परिषद् के कार्यों के लिये धन एवं आवश्यक सामग्री संसाधनों की आवश्यकता होती है। विद्वत्परिषद् के संवाहक सदस्य के रूप में समाज के श्रेष्ठीजन इस दायित्व को संभालें। एतदर्थ श्रेष्ठीजनों को विद्वत्परिषद् का संवाहक सदस्य बनाया जाये।

३. **प्रचारक सदस्य** - विद्वत्परिषद् के कार्यों का परिज्ञान समाचार पत्रों, आकाशवाणी, दूरदर्शन आदि प्रचार माध्यमों से हो। इससे समाज और विद्वद्वर्ग दोनों में ही उत्साह का संचार होगा। इसके लिए आवश्यक है कि पत्रकारिता से सम्बन्ध रखने वाले दिगम्बर जैन बन्धुओं को, जो विद्वान् न भी हों, उन्हें विद्वत्परिषद् का प्रचारक सदस्य बनाया जाये।

४. **सचेतक सदस्य** - लोकतांत्रिक देश में सर्वधर्म समभाव की निष्ठा बनाये रखने एवं संवैधानिक विधिसम्मत परामर्श देने हेतु विधिवेत्ता वकीलों को परिषद् का सचेतक सदस्य बनाया जाये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. **साधारण सदस्य -** उपर्युक्त से अतिरिक्त में परिगणित कोई भी दिगम्बर जैन धर्मावलम्बी, जो जैनधर्म का सामान्य ज्ञान रखता हो, और विद्वत्परिषद् का सदस्य बनने की इच्छा रखता हो तो उसे साधारण सदस्य बनाया जाये।

विशिष्ट श्रेणी के सदस्यों द्वारा ही अध्यक्ष का निर्वाचन हो तथा अध्यक्ष का निष्ठा सम्पन्न व ख्यातिप्राप्त विद्वान् होना आवश्यक हो। अध्यक्ष कार्यकारिणी का गठन सदस्यता श्रेणियों में से करे। कुल संख्या के ५० प्रतिशत विशिष्ट श्रेणी से, २० प्रतिशत संवाहक श्रेणी से तथा १०–१० प्रतिशत अन्य तीनों श्रेणियों से चयन कर उन्हें उनकी योग्यता के अनुरूप पद दायित्व सौंपे जा सकते हैं।

उपर्युक्त के अनुरूप विद्वत्परिषद् का गठन होने पर विद्वत्ता की सुरक्षा तो होगी ही विद्वत्परिषद् का स्वरूप अन्य अनेक विसंगतियों से बचकर प्रगतिशील बन सकेगा।

विद्वत्परिषद् का औचित्य स्थापना के समय से अब तक बरकरार है, आगे भी रहेगा। समाज को विद्वानों से तत्त्वज्ञान, धर्मबोध व सुसंस्कारों की प्रेरणा मिले तथा समाज से विद्वानों को समादर एवं परिषद् के संचालन की सामग्री संसाधन मिलें तो विद्वत्परिषद् का औचित्य अक्षुण्ण बना रहेगा। यदि इसके विपरीत परस्पर स्वार्थपरता, चाटुकारिता आदि का प्रवेश हुआ तो औचित्य रह न पायेगा। विद्वानों का दायित्व एतदर्थ अपरिहार्य है क्योंकि समाज उनका ही अनुसरण करती है। यदि वे ही अहंकारी, पदलोलुपी, ईर्ष्यालु हुए तो विद्वत्परिषद् का औचित्य गर्त में समा जायेगा। मुझे आशा है कि विद्वानों व सामाजिकों द्वारा विद्वत्परिषद् का औचित्य अक्षुण्ण बनेगा एतदर्थ परमपूज्य आचार्यों, उपाध्यायों, मुनिराजों का मार्गदर्शन भी वीतराग भाव से सामाजिक अखण्डता के लिये मिलता रहेगा।

विद्वत्परिषद् ने सचमुच ही सामाजिक एकता और आगम सुरक्षा के लिये महनीय योगदान दिया है अभी तक जो अधिवेशन हुए उनमें माननीय अध्यक्षों द्वारा दिए गए उद्‌बोधन इसके प्रमाण हैं। सामाजिक सहिष्णुता बनी रहे, स्वाध्याय सभायें संचालित हों और जैन संस्कारों की निष्ठापूर्वक अनुपालना हो इसमें विद्वानों की महनीय भूमिका है मुझे प्रसान्नता है कि हमारे पूर्वज विद्वानों ने पूज्य मुनिराजों के शुभाशीर्वाद से अपने उत्तरदायित्व को निबाहा। फलस्वरूप परिषद् ने अर्ध शताब्दी पूर्ण कर स्वर्ण जयन्ती मनाने का गौरव हासिल किया। इस अवसर पर निरपेक्ष भाव से कुछ सुझाव स्वरूप बिन्दु प्रस्तुत कर रहा हूँ। औचित्यानौचित्य के आधार से उन पर विमर्श हो, ऐसी कामना भी है। बिन्दु इसप्रकार हैं –

१. परिषद् के प्रादेशिक या क्षेत्रीय केन्द्रों का गठन कर गांव, नगर और कालोनियों तक समितियां, उप समितियां आदि बनाकर समाज को सक्रिय करने के साथ–साथ सबकी सामूहिक सहभागिता को सुनिश्चित करते हुए उद्देश्यों की पूर्ति में गतिशीलता लाई जाये। यदि आवश्यक हो तो पृथक् से महिला प्रकोष्ठ का गठन कर उन्हें भी दायित्व सौंपे जायें।
२. दशलक्षण, अष्टान्हिका आदि पर्वों, पंचकल्याणक विधानों, धार्मिक अनुष्ठानों के आयोजनों पर विद्वानों की उपलब्धता हेतु विद्वत्परिषद् समाज और विद्वानों के लिए मानक नीति निर्धारित कर समाज और विद्वानों के बीच कड़ी का कार्य करे।
३. उदीयमान विद्वानों की खोज खबर के लिए आवश्ययक कार्यक्रम संचालित किये जायें तथा प्रतिवर्ष १०–१५ प्रतिभागियों का चयन कर उन्हें अध्ययन, अनुवाद, सम्पादन आदि विधाओं में निष्णात होने हेतु प्रशिक्षण देने का दायित्व विद्वत्परिषद् संभाले।
४. विद्वानों में प्रौढ़ पाण्डित्य के विकास के लिए शास्त्रार्थ की परम्परा को पुनजीर्वित करने का सुनियोजित परिश्रम हो। गुरु–शिष्य भावना से ऐसा करना हितकर ही होगा।
५. परिषद् का प्रमुख पत्र विद्वत्सन्देश निष्पक्ष, समाजोपयोगी एवं प्रामाणिक बने एतदर्थ दूरगामी नीति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बनाई जाये।

६. विदेशों में जैनधर्म के प्रचार–प्रसार हेतु विद्वत्परिषद् की भूमिका का निर्धारण हो।

७. देश में विद्यमान उदासीन आश्रमों में विद्वान की उपलब्धता सुनिश्चित करना जिससे उदासीन श्रावकों को तत्त्वज्ञान का महनीय लाभ भी मिल सके।

८. पत्राचार पाठ्यक्रम–कार्यक्रम संचालित करना।

९. सामाजिक एकता के लिए स्थानीय विद्वानों व प्रतिष्ठित श्रावकों का सहयोग प्राप्त कर समुचित कार्यक्रमों का संचालन।

१०. बालकों को सुसंस्कारित करने हेतु योजनाओं एवं बाल साहित्य का निर्माण कराना।

११. विश्वविद्यालय स्तर पर जैन विद्या का अध्ययन या शोध करने वाले विद्यार्थियों को प्रोत्साहन देने हेतु स्थायी फण्ड बनाना।

१२. उच्चस्तरीय मूल्य वाला जैन वाङ्गमय सृजित हो सके एतदर्थ आकर्षक योजनाओं, पुरस्कारों का निर्धारण हो।

१३. प्रतिवर्ष श्रुतपंचमी पर परिषद् का स्थापना दिवस राष्ट्रीय स्तर पर 'आगम वाचना' पूर्वक मनाया जाये।

१४. विद्वानों के अस्वस्थ होने पर या वृद्धावस्था के समय उनके लिए चिकित्सा, सल्लेखना आदि हेतु कल्याणकारी योजना का प्रारम्भ।

१५. परिषद् के केन्द्रीय कार्यालय हेतु स्वतत्र भवन का निर्माण कराना तथा सदस्यों का विस्तार हो इस दिशा में प्रयास करना।

● अध्यक्ष जैनदर्शन विभाग
केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जयपुर

□□□

With Best Compliments From

Jain Industries

- Surendra Jain

645, Gangauri Bazar, Jaipur - 302001
☎ (0141) 311275, 317336 (O)654261, 650898(R)
Mfrs. of all kinds of "Classical Envelops"
Specialise in Recycled Handmade Paper and Products

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समयसार का प्रतिपादन-केन्द्रबिन्दु

भगवान आत्मा

✍ डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

ग्रन्थाधिराज समयसार का मूल प्रतिपाद्य अर्थात् प्रतिपादन–केन्द्रबिन्दु परम पारिणामिकभाव रूप वह भगवान आत्मा ही है, जिसके जानने का नाम सम्यग्ज्ञान, जिसमें अपनापन स्थापित करने का नाम सम्यग्दर्शन और जिसमें जमने–रमने का नाम सम्यक्–चारित्र है।

परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत इस भगवान आत्मा को जिनागम में – विशेषकर समयसार में – ज्ञायकभाव, परमभाव, परमपदार्थ, परमात्मा, कारणपरमात्मा, निजभाव, ज्ञानघन, त्रिकालीध्रुव, समय, समयसार, एकत्व–विभक्त, अतीन्द्रिय महापदार्थ आदि नामों से अभिहति किया गया है।

अपने सम्पूर्ण प्रज्ञारूपी वैभव से इसी एकत्व–विभक्त भगवान आत्मा को दिखाने की प्रतिज्ञा समयसार के प्रारम्भ में की गई है।[१]

चेतनागुण से समृद्ध यह भगवान आत्मा अरस है, अरूप, अंगध है, अस्पर्श है, अशब्द है; अतः इन्द्रियग्राह्य नहीं है; अव्यक्त, अतीन्द्रिय महापदार्थ है।[२] पर और पयार्य से पृथक् यह भगवान आत्मा मोह–ममता से रहित होने के कारण निर्मम है, स्वयंभू है, परमशुद्ध एवं स्वयंसिद्ध है।

ज्ञानानन्दस्वभावी यह भगवान आत्मा न तो प्रमत्त है, न अप्रमत्त है, न मात्र ज्ञान है, न मात्र दर्शन है और न मात्र चारित्र ही है, दर्शन–ज्ञान–चारित्र का एक अभेद अखण्ड पिण्ड है।[३] परमध्यान का ध्येय परमश्रद्धेय वह भगवान आत्मा न कर्मों से बद्ध है और न कोई परपदार्थ उसे स्पर्श ही कर सकता है। वह परमपदार्थ पर से पूर्णतः असंयुक्त अपने में सम्पूर्णतः नियत, हानि–वृद्धि रहित, स्वयं से अनन्य एवं समस्त विशेषों से रहित है।[४]

यह भगवान आत्मा न केवल समयसार का ही मूल प्रतिपाद्य है, समस्त जिनागम का भी मूल प्रतिपाद्य यही भगवान आत्मा है। यही कारण है कि भगवान आत्मा के जानने वाले को सम्पूर्ण जिनशासन का ज्ञाता कहा है,[५] निश्चयश्रुतकेवली कहा है।[६]

समयसार की ५० वीं गाथा से ५५ वीं गाथा तक कहा गया है कि इस भगवान आत्मा के वर्ण नहीं है, गंध नहीं है, संस्थान नहीं है, संहनन नहीं है, राग नहीं है, द्वेष नहीं है, मोह नहीं है, प्रत्यय नहीं है, कर्म नहीं है, नाकर्म नहीं है, वर्ग नहीं है, वर्गणा नहीं है, स्पर्धक नहीं है, अध्यात्म स्थान नहीं है, बंधस्थान नहीं है, उदयस्थान नहीं है, स्थितिबंधस्थान नहीं है, संक्लेशस्थान नहीं है, विशुद्धिस्थान नहीं है, संयमलब्धिस्थान नहीं है, जीवस्थान नहीं है, मार्गणास्थान नहीं है और गुणस्थान भी नहीं है।

यह स्वसंवेद्य भगवान आत्मा तो अनादि–अनन्त, चैतन्यमय, स्वयं अत्यन्त प्रकाशमान प्रगट परमज्योतिस्वरूप है।[७] जिसप्रकार घृत का संयोग देखकर मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कह दिया जाता

१. समयसार, गाथा ५
२. समयसार, गाथा ४६
३. समयसार, गाथा ६–७
४. समयसार, गाथा १४
५. समयसार, गाथा, १५
६. समयसार, गाथा ९
७. आत्मख्याति कलश ४१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, उसी प्रकार वर्णादिभावों का संयोग देखकर जीव को वर्णादि वाला कह दिया जाता है; परन्तु जिसप्रकार घी का घड़ा कह देने मात्र से मिट्‌टी का घड़ा घृतमय नहीं हो जाता, रहता तो वह मिट्‌टीमय ही है; उसी प्रकार वर्णादि भावों का संयोग देखकर जीव को वर्णादिमय कर दिया जाता है, वह कह देने मात्र से जीव वर्णादिमय नहीं हो जाता, रहता तो वह चैतन्यमय ही है। भगवान आत्मा को वर्णादिवाला और गुणस्थानादिवाला कहना मिट्‌टी के घड़े के घड़े जैसा ही व्यवहार है।[1] परमार्थ से यह भगवान आत्मा वर्णादि से गुणस्थान पर्यन्त इन सभी भावों से भिन्न ही है।

वर्णादिरूप परपदार्थों, रागादिरूप विकारी भावों एवं गुणादि के भेद–विकल्पों से भी भिन्न यह भगवान आत्मा ही आत्मार्थिजनों का एकमात्र आराध्य है और इन भगवान आत्मा की उत्कृष्ट आराधना ही परम साध्य है तथा तरतमभाव से नित्य वृद्धिंगत आराधना ही परमाराधना है, साधकभाव है। इसलिए कहा गया है –

"एष ज्ञानघनों नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम्।।[2]

जिन्हें आत्मसिद्धि अभीष्ट है, वे आत्मार्थी जन साध्यभाव एवं साधनभाव से दो प्रकार से इस ज्ञान के घनपिण्ड भगवान आत्मा की ही नित्य उपासना करें।"

तात्पर्य यह है कि उपासना करने योग्य तो यह ज्ञान का घनपिण्ड एवं आनन्द का रसकंद निज भगवान आत्मा ही है। चाहे हम साध्यभाव से उपासना करें चाहे साधक भाव से, पर उपास्य तो एक मात्र निज भगवान आत्मा ही है, उपासना तो निज भगवान आत्मा की ही करनी है, पर की उपासना से बंधनों का नाश नहीं होता, बंधनों का नाश तो निज भगवान आत्मा की आराधना से ही होता है।

निज भगवान आत्मा को जानना–पहिचानना, उसमें ही अपनापन स्थापित करना, उसमें ही जमना–रमना, उसका ही ध्यान करना – यही निज भगवान आत्मा की उपासना है और इसे ही जिनागम में निश्चय से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र कहा गया है, यही साक्षात् मुक्ति का मार्ग है। अतः यह स्पष्ट है कि निज भगवान आत्मा की आराधना ही दुःखों से मुक्ति का सच्चा उपाय है। इसीलिए कहा गया है:–

"एक देखिये, जानिए, रमि रहिये इक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहिं और।।[3]"

जिसे देखने, जानने और जिसमें रमने की प्रेरणा यहाँ दी गई है, वह एक निज भगवान आत्मा ही है और उसको ही आराधना को यहाँ एकमात्र सिद्धि का उपाय बताया गया है, यह सिद्धि भी आत्मा की दुःखों से मुक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है

मोह का नाश कर अनन्त सुखी होकर अनन्त काल तक जीने का उपाय बताते हुए कविवर पण्डित बनारसीदासजी भी उसी भगवान आत्मा की शोध–खोज करने की, उसी का चिन्तन करने की, जन्म भर उसका ही परमरस पीने की प्रेरणा इसप्रकार देते हैं –

"बनारसी कहै भैया भव्य सुनौ मेरी सीख,
कैहू भांति कैसै हूं कै ऐसौ काजु कीजिए।
एकहू मुहूरत मिथ्यात कौ विधुंस होइ,
ग्यान कौं जगाइ अंस हंस खोजि लीजिए।।

---

१. आत्मख्याति, कलश ४०
२ आत्मख्याति, कलश १५
३. समयसार नाटक, जीवद्वार, छन्द २०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाही कौ विचार वाकौ ध्यान यहै कौतूहल,
यौही भरि जनम परम रस पीजिए।
तजि भव-वास कौ विलास सविकाररूप,
अंत करि मोह कौ अनंतकाल जीजिए।।"[1]

ज्ञान को जगाकर जिस हंस को खोजने की प्रेरणा उक्त छन्द में दी गई है, वह हंस निज भगवान आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसी का विचार, उसी का ध्यान, उसी में तल्लीनता ही सच्चा सुख प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है।

समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं भी तो यही कहते हैं:–

"एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो ह्रोहदि तुह उत्तमं सोक्खं।।२०६।।"

"ज्ञानस्वभावी इस भगवान आत्मा में ही नित्य रत रहो, इसमें ही संतुष्ट रहो, इससे ही पूर्ण तृप्त हो जावो, तुम्हें उत्तम सुख की प्राप्ति होगी।"

पर व पर्यायों से विभक्त एवं अपने में अविभक्त इस एकत्व–विभक्त निज भगवान आत्मा को जाने–पहिचाने बिना ही जो साधक आत्मा की साधना करना चाहते हैं, वे न तो स्वयं ही सन्मार्ग में हैं और न अपने अनुयायियों को सन्मार्ग दिखा सकते हैं, इस परमसत्य की ओर आज किसी का भी ध्यान नहीं है। यही कारण है कि आज हम सभी व्यर्थ के विवादों में उलझकर रह गये हैं और निरन्तर उलझते ही जा रहे हैं।

आश्चर्य की बात तो यह है कि समयसार का स्वाध्याय एवं पठन–पाठन के उपरान्त भी ऐसा हो रहा है। इसका एकमात्र कारण यह है कि हम समयसार का स्वाध्याय भी शुद्ध आत्महित की दृष्टि से न करके अपने पक्ष के पोषण के लिए ही करने लगे हैं, परिणाम यह होता है कि रुचि की प्रतिकूलता में समयसार का मूल प्रतिपाद्य जो भगवान आत्मा है, वह हमारी पकड़ में नहीं आ पाता और हम अन्य प्रकरणों में ही उलझ कर रह जाते हैं।

समयसार के मर्मज्ञ भी जो विवेचन करते हैं, उसे या तो हम सुनते–पढ़ते ही नहीं हैं, यदि प्रसंगवश सुनना–पढ़ना हो भी जाय तो अपने ही पूर्वाग्रहग्रस्त विकृत दृष्टिकोण से पढ़ने–सुनने के कारण उनका मूल प्रतिपाद्य हमारे खयाल में नहीं आ पाता; अतः समयसार पढ़ने या सुनने से पूर्व दृष्टि की पवित्रता एवं परिणामों की निर्मलता अत्यन्त आवश्यक है।

विद्वत्ता का अभिमान और त्याग का बड़प्पन भी एक सशक्त कारण है, जो विनम्र चित्त से समयसार की चर्चा सुनने पढ़ने में अवरोध उत्पन्न करता है। समयसार की मूल विषयवस्तु सभी के गले उतरे – इसके लिए समाज का शान्त वातावरण अपेक्षित है।

उक्त तथ्य शत–प्रतिशत सत्य होने पर भी आत्मार्थियों के लिए यह संभव नहीं है कि वे शांत सामाजिक वातावरण की प्रतीक्षा में अपने अमूल्य नरभव का एक पल भी व्यर्थ जाने दें, पर उनसे भी यह अपेक्षा तो की ही जा सकती है कि सामाजिक वातावरण निर्मल करने में उनसे जो भी संभव हो, अवश्य करें।

यह बात तो समस्त जिनागम में सर्वत्र अत्यन्त स्पष्ट रूप से कही गई है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता, अतः सबसे पहले सम्पूर्ण शक्ति लगाकर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान

---

१. समयसार नाटक, जीवद्वार, छन्द २४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्त करना चाहिए, तदुपरान्त निर्मल और दृढ़ चारित्र धारण करना चाहिए; तथापि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए जितना सशक्त सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए जितना सशक्त और स्पष्ट दिशानिर्देश समयसार में प्राप्त होता है, वैसा अन्यत्र असंभव नहीं तो विरल अवश्य है।

समयसार की ही यह विशेषता है कि जिसमें दृष्टि के विषय को – सम्यग्दर्शन के विषयभूत भगवान आत्मा को – हाथ में रखे आंवले के समान दिखाने का सफल प्रयास किया गया है और यह स्पष्ट किया गया है कि परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत परम पारिणामिकरूप, त्रिकाली ध्रुव, पर और पयार्य से अत्यन्त, भिन्न, गुणभेद से भी भिन्न, अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड, अनादि–अनन्त, ज्ञानानन्द स्वभावी निज भगवान आत्मा में अपनापन आना ही सम्यग्दर्शन, अनुभवपूर्वक मात्र उसे ही निज जानना सम्यग्ज्ञान है और उपयोग को अन्यत्र सभी जगह से हटाकर मात्र उसमें ही लगा देना, उसी का ध्यान करना, उसी में जम जाना रग जाना सम्यक्चारित्र है तथा यही सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र सच्चा मुक्ति का मार्ग है।

इसी मुक्ति के मार्ग में अर्थात् भगवान आत्मा में ही स्थापित होने की, जमने–रमने की पावन प्रेरणा समयंसार के समापन में दी गई है, जो इस प्रकार हैः–

"मोक्षपथ में थाप निज को, चेतकर निज ध्यान धर।
निज में ही नित्य विहार कर, परद्रव्य में न विहार कर।।४१२।।"

समयसार की मूल विषयवस्तु तक पहुँचने के लिए मात्र स्वाध्याय ही पर्याप्त नहीं है, मर्मज्ञों का मार्गदर्शन भी अत्यन्त आवश्यक है, सम्यक्दिशानिर्देश के बिना उसके मर्म तक पहुँच पाना असाध्य नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है, भटक जाने के अवसर भी कम नहीं हैं; अतः आत्मार्थियों के लिए स्वाध्याय के साथ–साथ सत्समागम भी अपेक्षित है।

देशनालब्धि में पढ़ने की अपेक्षा सुनने को अधिक महत्त्व दिया गया है, क्योंकि भाषा के साथ हाव–भावों से बहुत कुछ स्पष्टीकरण होता है। सर्वाधिक महत्त्व तो अंतरंग आत्मरुचि का ही है, जब तक अन्तर में विषयों से अरुचि और निज भगवान आत्मा में सच्ची रुचि जागृत नहीं होगी, तब तक ऊपर–ऊपर से अध्ययन करने से भी कुछ होने वाला नहीं है। बाह्य क्रियाकाण्ड से तो कुछ होता ही नहीं है।

यदि हम अन्य सभी प्रकार के विकल्पों का शमन कर विशुद्ध आत्महित की दृष्टि से त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा को लक्ष्य में लेकर इस ग्रन्थाधिराज समयसार का गंभीरता से स्वाध्याय करें तो मेरा विश्वास है कि इसमें सर्वत्र ही वही निज भगवान आत्मा ही नजर आयेगा।

विद्वत्परिषद् के स्वर्ण जयन्ती समारोह के अवसर पर आयोजित समयसार वाचना के प्रसंग पर मैं आप सभी विद्वानों से ग्रन्थाधिराज समयसार का आत्महित की दृष्टि से गहरा अध्ययन करने का हार्दिक अनुरोध करता हूँ तथा भावना भाता हूँ कि सभी आत्मर्थियों को समयसार के मूल प्रतिपाद्य निज भगवान आत्मा का अनुभव – दर्शन, ज्ञान और तल्लीनता – अवश्य प्राप्त हो।

● टोडरमल स्मारक भवन
ए-४, बापूनगर, जयपुर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समयसार : संक्षिप्त सार

✍ पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

समयसार शास्त्र को जितना कठिन समझ लिया गया है, वस्तुतः वह उतना कठिन है नहीं। कुन्दकुन्दाचार्य का मूल समयसार तो अत्यन्त सुगम शैली और सरल भाषा में ही लिखा गया है। सरलीकरण के लिए स्थान–स्थान पर दैनिक जीवन के सरलतम उदाहरणों का प्रयोग भी इसमें हुआ है।

कठिन लगने का मूल कारण ग्रन्थ की कठिनता नहीं, बल्कि तत्सबन्धी अनादिकालीन अपरिचय और अनभ्यास है। यदि हम इसका रुचिपूर्वक अभ्यास करें, नियमित स्वाध्याय द्वारा ग्रन्थ की विषयवस्तु से परिचित होने का प्रयत्न करें तो अल्पकाल में ही हमें यह ग्रन्थ भी अत्यन्त सरल प्रतीत होने लगेगा।

इस ग्रन्थ के कठिन लगने का दूसरा कारण इस ग्रन्थ पर लिखी गई विस्तृत एवं गंभीरतम आचार्य अमृतचन्द्र की 'आत्मख्याति' एवं आचार्य जयसेन की 'तात्पर्यवृत्ति' टीकाएँ भी हो सकती हैं। यद्यपि इन दोनों टीकाओं ने आचार्य कुन्दकुन्द के पेट को खोल कर रख दिया है, परन्तु ये टीकाएँ संस्कृत–निष्ठ और वृहदाकार होने से संस्कृत भाषा एवं सूक्ष्म तत्त्व से अनभिज्ञ पाठकों को कठिन लगना अस्वाभाविक नहीं है। परन्तु यदि चित्त स्थिर करके हिन्दी अनुवादों के माध्यम से स्वाध्याय करने का दृढ़ संकल्प कर लें तो यह काम कठिन नहीं हैं। किन्तु जिन्हें इस भावताप हारी एवं उत्तम सौख्यकारी–समयसार ग्रन्थ की महिमा आयेगी, वे ही ऐसा संकल्प करेंगें।

समयसार की महिमा वाचक आ. कुन्दकुन्द के कथनों का उल्लेख करने के पूर्व मैं धर्मवत्सल आचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज की समयसार के प्रति अनन्य भक्ति–भावना का उल्लेख करना चाहता हूँ।

ज्ञातव्य है कि आचार्यश्री ने बहुत पहले मूल समयसार का संक्षिप्त छात्र संस्करण प्रकाशित किया था। वैसे भी आपका समयसार की एक–एक गाथा पर भाषा शैली और विषय वस्तु की दृष्टि से गहन अध्ययन है। तभी तो आपको इसकी इतनी महिमा है।

समयसार की वांचना का यह लोक कल्याणकारी उपक्रम भी समयसार के प्रति आचार्यश्री की भक्ति–भावना का ही प्रतीक है। सचमुच इस स्तुत्य कार्य के पीछे भी आचार्य श्री की इसे जन–जन तक पहुँचाने की भावना ही प्रमुख है। आशा है कि पूज्य आचार्यश्री की यह भावना सहस्त्र गुणी होकर फलीभूत होगी।

देखो इस समयसार परमागम की स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द के ह्रदय में कितनी महिमा थी ? यह उन्हीं के शब्दों में द्रष्टव्य है। समयसार का उपसंहार करते हुए वे कहते हैं कि –

"जो भव्य आत्मा इस समयाप्राभृत को पढ़कर और उसे अर्थ तत्त्व से जानकर अर्थभूत शुद्धात्मा में ठहरेगा, वह उत्तम सौख्य स्वरूप हो जायगा।[१]"

आचार्य कुन्दकुन्द को अपने इस ग्रन्थ का नाम 'समयपाहुड' रखना ही अभष्ट था। उन्होंने प्रथम गाथा के उत्तरार्द्ध में ग्रंथ बनाने के प्रतिज्ञा वाक्य में ग्रंथ का नामकरण करते हुए स्वयं कहा है:– **'वोच्छामि समयपाहुडमिणं'** अर्थात् में **'समयपाहुड'** ग्रंथ को कहता हूँ। तथा अन्त में समापन करते हुए पुनः ४१५ गाथा में जो 'समयपाहुडमिणं' कहकर 'समयपाहुड' नाम की पुष्टि की है। इससे स्पष्ट है कि आचार्यदेव ने तो इस

---

१. जो समयपाहुडमिणं पढिदूणं अथ्थतच्चदो णादुं।
अत्थे ठाही चेदा सो होही उत्तमं सोक्खं।।४१५।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थ का नामकरण 'समयापहुड' ही किया था, परन्तु बाद में प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रंथों के सारान्त नामों के समान 'समयपाहुड' भी 'समयसार' नाम से ही विख्यात हो गया। प्रस्तुत ग्रन्थ की १४१,१४४ एवं ४१३ वीं गाथाओं में 'समयसार' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। इसी ग्रथ की 'आत्मख्याति' टीका के मंगलाचरण में भ 'नमः समयसाराय' की व्याख्या करते हुए कहा गया है –"समय अर्थात् जीब नामक पदार्थ, उसमें सार जो द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्म रहित शुद्ध आत्मा, उसे मेरा नमस्कार हो"। 'समयसार' नाम प्रचलन में आने का एक कारण यह भी हो सकता है; परन्तु 'समयपाहुड' व 'समयसार' दोनों नामों का अर्थ लगभग एक ही है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं 'समयो खलु णिम्मलों अप्पा' कहकर मिर्मल आत्मा को 'समय' कहा है तथा जयसेनाचार्य ने 'प्राभृतं सारं सारः' कहकर प्राभृत का अर्थ आत्मा का शुद्ध स्वरूप किया है। समयसार का अर्थ भी शुद्धात्मा ही होता है। वस्तुतः आत्मा का शुद्धस्वरूप ही समयसार है, किन्तु आत्मा के शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादक होने से इस ग्रंथ का 'समयसार' या 'समयपाहुड' नाम भी सार्थक है।

यह 'समयपाहुड' नाम सीधा द्वादशांग वाणी से सम्बद्ध है, क्योंकि गणधरदेव द्वारा रचित द्वादशांग वाणी के बारहवें अंग के प्रभेद जो चौदह पूर्व हैं, उनमें प्राभृत (पाहुड) नामक एक अवान्तर अधिकार है। उन्हीं पूर्वों का यत्किंचित् ज्ञान आचार्य कुन्दकुन्द को था, जो समयपाहुड के रूप में निबद्ध हुआ है।

समयपाहुड में आत्मतत्त्व का जैसा प्रतिपादन है, वैसा जैन वाङ्मय में अन्यत्र दुर्लभ है। उसे कुन्दकुन्द ने स्वयं श्रुतकेवली–कथित कहा है।

1. जीवाजीवाधिकार : भेदविज्ञान का अधिकार –

समयसार परमागम के जीवाजीवाधिकार में भेदविज्ञान का जैसा सूक्ष्मतम विश्लेषण हुआ है, वैसा अन्यत्र विरल है इसमें शुद्ध जीवपदार्थ का अजीवपदार्थों से भेदज्ञान कराते हुए यहाँ तक कह दिया गया है कि एक निज शुद्धात्मतत्त्व के सिवाय अन्य समस्त परपदार्थ अजीव तत्त्व हैं। जड़–अचेतन पदार्थ तो अजीव हैं ही, अन्य अनंत जीव राशि को भी निज ज्ञायकस्वभाव से भिन्न होने के कारण अजीव तत्त्व कहा गया है। तथा अपने आत्मा में उत्पन्न होने वाले क्षणिक क्रोधादि विकारीभावों तथा मति–श्रुतज्ञानादि अपूर्ण पर्यायों को भी अपने त्रिकाल परिपूर्ण ज्ञायक स्वभाव से भिन्न होने के कारण अजीव तत्त्व कहा है।

ऐसा जीव नामक शुद्धात्मतत्त्व देह एवं रागादि औपाधिक भावों से भिन्न है – यह बात स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचंद ने कहा है कि चैतन्यशक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्व सार है ऐसा यह जीव इतना मात्र ही है। इस चित्शक्ति से अन्य जो भी औपाधिक भाव हैं, वे सब पुद्गलजन्य हैं, अतः पुद्गल ही हैं।[1]

उन पौद्गलिक और पुद्गजन्य भावों का उल्लेख करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जीव के वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श नहीं है; शरीर, संस्थान, संहनन भी नहीं है; तथा राग, द्वेष, मोह, कर्म व नोकर्म भी नहीं है; वर्ग, वर्गणा और स्पर्धक भी नहीं है; अध्यात्म के स्थान, अनुभाग के स्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थन, जीवस्थान आदि कुछ भी नहीं है; क्योंकि ये सब तो पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं। जीव तो परमार्थ से चैतन्यशक्तिमात्र है।[2]

गुणस्थानादि को यद्यपि व्यवहार से जीव गहा गया है, पर वे सब वस्तुतः ज्ञायक स्वभाव से भिन्न होने से जीव के भाव ही नहीं हैं और जीवस्वरूप भी नहीं है। आचार्य अमृतचंद्र ने भी इसी बात पर अपनी मुहर (छाप) लगाते हुए कहा है कि वर्णादिक व रागादिक भाव आत्मा से भिन्न हैं, इसलिए अन्तर्दृष्टि से देखने

१ समयसार, कलश ३६   २ समयसार, गाथा ५० से ५५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
वाले को ये सब दिखाई नहीं देते। उसे तो मात्र एक चैतन्यभावस्वरूप सर्वोपरि आत्मतत्त्व ही दिखाई देता है।[1]

जीव का वास्तविक लक्षण तो चेतनामात्र है। अस्ति से कहें तो वह ज्ञान–दर्शन मय है और नास्ति से कहें तो वह अरस, अरूप, अगंध और अस्पर्शी है। तथा पुद्गल के आकार रूप नहीं होता, अतः उसे निराकार व अलिंगग्रहण कहा जाता है।[2]

परन्तु आत्मा के ऐसे स्वभाव को न जानने वाले, पर का संयोग देखकर आत्मा से भिन्न परदार्थों व परभावों को ही आत्मा मानते हैं। इस कारण कोई राग–द्वेष को, कोई कर्मफल को, कोई शरीर को और कोई अध्यवसानादि भावों को ही जीव मानते हैं। जबकि वस्तुतः ये सब जीव नहीं है, क्योंकि ये सब तो कर्मरूप पुद्गलद्रव्य के निमित्त से होने वाले या तो संयोगीभाव हैं या संयोग है, अतः अजीव है।[3]

ज्ञानी इन सब आगन्तुक भावों से भेदज्ञान करके ऐसा मानता है कि "मैं एक हूँ, अरूपी हूँ, ज्ञान–दर्शनमय हूँ, इसके सिवाय अन्य द्रव्य किंचित्मात्र भी मेरे नहीं है।[4]" इसी दृष्टि से समयसार गाथा–२,६ एवं ७ भी महत्वपूर्ण हैं, जिनमें क्रमशः स्व-समय–पर-समय एवं प्रमत्त–अप्रमत्त के संदर्भ में पर एवं पर्यायों से भेदज्ञान कराके शुद्धात्मस्वरूप का विशद स्पष्टीकरण किया गया है।

2. कर्ता–कर्म : अकर्तावाद का एक अद्भुत सिद्धान्त –

समयसार के कर्ता–कर्म अधिकार के वस्तुस्वातन्त्र्य या छहों द्रव्यों के स्वतंत्र परिणमन का निरूपण, प्रकारान्तर से परद्रव्य के अकर्तृत्व का ही निरूपण है। यह अकर्तावाद का सिद्धान्त आगमसम्मत युक्तियों एवं सिद्धान्तशास्त्रों की पारिभाषिक शब्दावलियों द्वारा तो स्थापित है ही, साथ ही अपने व्यावहारिक लौकिक जीवन में भी उसकी उपयोगिता असंगिग्ध है।

आगम के दबाव और युक्तियों की मार से सिद्धान्ततः अकर्तृत्व को स्वीकार कर लेने पर भी अपने दैनिक जीवन की छोटी–मोटी पारिवारिक घटनाओं के सन्दर्भ में उन सिद्धान्तों के प्रयोगों द्वारा आत्मिक शान्ति और निष्कषाय भाव रखने की बात जगत के गले आसानी से नहीं उतरती, उसके अन्तर्मन को सहज स्वीकृत नहीं होती। जबकि हमारे धार्मिक सिद्धान्तों की सच्ची प्रयोगशाला तो हमारे जीवन का कार्यक्षेत्र ही है।

क्या अकर्तावाद जैसे संजीवनी सिद्धान्त केवल शास्त्रों की शोभा बढ़ाने या बौद्धिक व्यायाम करने के लिए ही हैं ? अपने व्यवहारिक जीवन में प्रामाणिकता, नैतिकता, निराकुलता एवं पवित्रता प्राप्त करने में इनकी कुछ भी भूमिका – उपयोगिता नहीं है ?

जरा सोचो तो, अकर्तृत्व के सिद्धान्त के आधार पर जब हमारी श्रद्धा ऐसी हो जाती है कि **'कोई भी जीव किसी अन्य जीव का भला या बुरा कुछ भी नहीं कर सकता'**, तो फिर हमारे मन में अकारण ही किसी के प्रति राग–द्वेष–मोहभाव क्यों होंगे ?

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि – अकर्तृत्व की सच्ची श्रद्धा वाले ज्ञानियों के भी क्रोधादि भाव एवं इष्टानिष्ट की भावना प्रत्यक्ष देखी जाती है तथा उनके मन में दूसरों का भला–बुरा या बिगाड़–सुधार करने की भावना भी देखी जाती है – इसका क्या कारण है ?

यद्यपि सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा सिद्धों जैसी पूर्ण निर्मल होती है, तथापि वह चारित्रमोह कर्मोदय के

१. समयसार, कलश ३६ २. समयसार, गाथा ४६
३. समयसार, गाथा ३६ से ४३ ४. समयसार, गाथा ३८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निमित्त से एक स्वयं के पुरुषार्थ की कमी के कारण दूसरों पर कषाय करता हुआ भी देखा जा सकता है; पर सम्यग्दृष्टि उसे अपनी कमजोरी मानता है। उस समय भी उसकी श्रद्धा में तो यही भाव है कि – पर ने मेरा कुछ भी बिगाड़–सुधार नहीं किया है। अतः उसे उसमें अनन्त राग–द्वेष नहीं होता। उत्पन्न हुई कषाय को यथाशक्ति कृश करने का पुरुषार्थ भी अन्तरात्मा में निरन्तर चालू रहता है।

अतः इस अकर्तावाद के सिद्धान्त को धर्म का मूल आधार या धर्म का प्राण भी कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

वस्तुतः पर में अकर्तृत्व की यथार्थ श्रद्धा रखने वाले का तो जीवन ही बदल जाता है। वह अन्दर ही अन्दर कितना सुखी, शान्त निरभिमानी, निर्लोभी और निराकुल हो जाता है, अज्ञानी तो उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता।

समयसार के अकर्तावाद का तात्पर्य यह है कि – जो प्राणी अपने को अनादि से परद्रव्य का कर्ता मानकर राग-द्वेष-मोह भाव से कर्मबन्धन में पड़कर संसार में परिभ्रमण कर रहा है, वह अपनी इस मूल भूल को सुधारे और अकर्तृत्व की श्रद्धा के बल से राग–द्वेष का अभाव कर वीतरागता प्रगट करे क्योंकि वीतरागता हुए बिना पूर्णता, पवित्रता व सर्वज्ञता की प्राप्ति संभव नहीं है। एतदर्थ अकर्तावाद को समझना अति आवश्यक है।

वस्तुतः कर्ता–कर्म सम्बन्ध दो द्रव्यों में होता ही नहीं, एक ही द्रव्य में होता है। इस विषय में आचार्य अमृतचन्द्र का निम्नांकित पद्य द्रष्टव्य है –

"यः परिणमित स कता, यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणति क्रिया सा, त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया।।५१।

जो परिणमित होता है, वह कर्ता है, जो परिणाम होता है उसे कर्म कहते हैं और जो परिणति है वह क्रिया कहलाती है, वास्तव में तीनों भिन्न नहीं है।

इस कलश से स्पष्ट है कि जीव और पुद्गल में कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः कर्तृ-कर्म सम्बन्ध वहीं होता है, जहाँ व्याप्य-व्यापक भाव या उपादान-उपादेय भाव होता है। जो वस्तु कार्यरूप परिणत होती है वह व्यापक है, उपादान है तथा जो कार्य होता है वह व्याप्य है, उपादेय है।

यदि आत्मा परद्रव्यों को करे तो नियम से वह उनके साथ तन्मय हो जाये, पर तन्मय नहीं होता, इसलिए वह उनका कर्ता नहीं है, वीतरागता प्राप्त करने के लिए अकेला अकर्ता होना ही जरूरी नहीं है; बल्कि अपने को पर का अकर्ता जानना, मानना और तद्रूप आचरण करना भी जरूरी है। एक–दूसरे के अकर्ता तो सब हैं ही, पर भूल से अपने को पर का कर्ता मान रखा है, इस कारण अज्ञानी की अनन्त आकुलता और क्रोधादि कषायें कम नहीं होतीं। अन्यथा इस अकर्तृत्व सिद्धान्त की श्रद्धा वाले व्यक्ति के विकल्पों का तो स्वरूप ही कुछ इस प्रकार का होता है कि उसे समय–समय पर प्रतिकूल परस्थितिजन्य अपनी आकुलता कम करने के लिए वस्तु के स्वतंत्र परिणमन पर एवं उस परिणमन में अपनी अकिंचित्करता के स्वरूप के आधार पर ऐसे विचार आते हैं कि जिनसे उसकी आकुलता सहज ही कम हो जाती है। उदाहरणार्थ, वह सोचता है कि–

(१) यदि मैं अपने शरीर को अपनी इच्छानुसार परिणमा सकता तो जब भी अपशकुन की प्रतीक मेरी बाईं आँख फड़कती है, उसे तुरन्त बन्द करके शुभ शकुन की प्रतीक दायीं आँख क्यों नहीं फड़ता लेता?

(२) यदि मैं अपने प्रयत्नों से शरीर को स्वस्थ रख सकता हूँ तो प्रयत्नों के बावजूद भी यह अस्वस्थ क्यों हो जाता है? जब किसी को केंसर, कोढ़ एवं दमा–श्वांस जैसे प्राणघातक भयंकर दुःखद रोग हो जाते हैं तो वह उन्हें अपने प्रयत्नों से तत्काल ठीक क्यों नहीं कर लेता?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३) यदि मैं किसी का भला कर सकता होता तो सबसे पहले अपने कुटुम्ब का भला क्यों न कर लेता? फिर मेरे ही परिजन–पुरजन दुःखी क्यों रहते ? मैंने अपनी शक्ति अनुसार उनका भला चाहने व करने में कसर भी कहाँ छोड़ी, पर मेरी इच्छानुसार किसी का कुछ भी तो नहीं कर सका।

(४) इसीप्रकार, यदि कोई किसी का बुरा या अनिष्ट कर सकता होता तो आज संभवतः यह दुनिया ही इस रूप में न होती, सभी कुछ नष्ट–भ्रष्ट हो गया होता; क्योंकि दुनिया तो राग–द्वेष का ही दूसरा नाम है, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जिसका कोई शत्रु न हो; पर आज जगत यथावत् चल रहा है। इससे स्पष्ट है कि कोई किसी के भले–बुरे, जीवन–मरण व सुख–दुःख का कर्ता–हर्ता नहीं है। जो होना होता है वही होता है, किसी के करने से नहीं होता।

लोक में सभी कार्य स्वतः अपने–अपने षट्कारकों से ही सम्पन्न होते हैं। उनका कर्ता–धर्ता मैं नहीं हूँ। ऐसी श्रद्धा से ज्ञानी पर के कर्तृत्व के भार से निर्भार होकर अपने ज्ञायकस्वभाव का आश्रय लेता है। यही आत्मानुभूति का सहज उपाय है।

प्रत्येक द्रव्य व उनकी विभिन्न पर्यायों के परिणमन में उनके अपने–अपने कर्ता, कर्म, करण आदि स्वतन्त्र षट्कारक हैं; जो उनके कार्य के नियामक कारण हैं। ऐसी श्रद्धा का बल बढ़ने से ही ज्ञानी ज्यों–ज्यों उन षट्कारकों की प्रक्रिया से पार होता है, त्यों–त्यों उसकी आत्मशुद्धि में वृद्धि होती जाती है।[1]

जब कार्य होना होता है, तब कार्य के नियामक अंतरंग षट्कारक एवं पुरुषार्थ, काललब्धि एवं निमित्तादि पाँचों समवाय स्वतः मिलते ही हैं और नहीं होना होता है तो अनंत प्रयत्नो के बावजूद भी कार्य नहीं होता तथा तदनुरूप कारण भी नहीं मिलते ।

मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव से अकर्तावाद सिद्धान्त की ऐसी श्रद्धा हो जाती है कि जिससे उसके असीम कष्ट सीमित रह जाते हैं। जो विकार शेष बचता है, उसकी उम्र भी लम्बी नहीं होती।

बस, इसलिए तो आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में जीवाजीधिकार के तुरन्त बाद ही यह कर्ताकर्म अधिकार लिखने का महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया है। इसमें बताया गया है:– जगत का प्रत्येक पदार्थ पूर्णतः स्वतंत्र है, उसमें होने वाले नित्य नये परिवर्तन या परिणमन का कर्ता वह पदार्थ स्वयं है। कोई भी अन्य पदार्थ या द्रव्य किसी अन्य पदार्थ या द्रव्य का कर्ता–हर्ता नहीं है।

समयसार के कता–कर्म अधिकार का मूल प्रतिपाद्य ही यह है कि परपदार्थ के कर्तृत्व की तो बात ही क्या कहें, अपने क्रोधादि भावों का कर्तृत्व भी ज्ञानियों के नहीं है। जबतक यह जीव ऐसा मानता है कि मैं (आत्मा) कर्ता व क्रोधादि भाव मेरे कर्म हैं, तब तक वह अज्ञानी है। तथा जब स्व–संवेदन ज्ञान द्वारा क्रोधादि आस्रवों से शुद्धात्म–स्वरूप को भिन्न जान लेता है, तब ज्ञानी होता है।

यद्यपि जीव व अजीव दोनों द्रव्य हैं, तथापि जीव के परिणामों के निमित्त से पुद्गल कर्मवर्गणाएँ स्वतः अपनी तत्समय की योग्यता से कर्मरूप परिणत होती हैं और पौद्गलिक कर्मों के निमित्त से जीव अपनी तत्समय की योग्यता से रागादि परिणामरूप से परिणमित होता है। इस प्रकार जीव के व कर्म के कता–कर्म सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि न तो जीव पुद्कलकर्म के किसी गुण का उत्पादक है औन न पुद्गल जीव के किसी गुण का उत्पादक है। केवल एक–दूसरे के निमित्त से दोनों का परिणमन अपनी–अपनी योग्यतानुसार होता है। इस कारण जीव सदा अपने भावों का कर्ता होता है, अन्य का नहीं।

यद्यपि आत्मा वस्तुतः केवल स्वयं का ही कर्ता–भोक्ता है, द्रव्यकर्मों का नहीं, तथापि द्रव्यकर्मों के

[1] समयसार, गाथा ७३ की आत्मख्याति टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उदय के निमित्त से आत्मा का सांसारिक सुख–दुःख का कर्ता–भोक्ता कहा जाता है, परन्तु ऐसा कहने का कारण पर का या द्रव्यकर्म का कर्तृत्व नहीं है, बल्कि आत्मा में जो अपनी अनादिकालीन मिथ्या मान्यता या अज्ञानता से राग–द्वेष–मोह कषायादि भावकर्म हो रहे हैं, उनके कारण यह सांसारिक सुख–दुख का कर्ता–भोक्ता होता है। वस्तुतः आत्मा किसी से उत्पन्न नहीं हुआ, अतः वह किसी का कार्य नहीं है तथा वह किसी को उत्पन्न नहीं करता, इस अपेक्षा वह किसी का कारण भी नहीं है। अतः दो द्रव्यों में मात्र निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ता–कर्म सम्बन्ध नहीं है।

आत्मा जब तक कर्मप्रकृतियों के निमित्त से होने वाले विभिन्न पर्यायरूप उत्पाद–व्यय का परित्याग नहीं करता, उनके कर्तृत्व–भोक्तृत्व की मान्यता नहीं छोड़ता, तबतक वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि एवं असंयमी रहता है। जब वह अनंत कर्म व कर्मफल के कर्तृत्व–भोक्तृत्व के भाव का परित्याग कर देता है, तब वह बन्ध से रहित होकर केवल ज्ञाता–द्रष्टा हो जाता है।

जिस प्रकार नेत्र विभिन्न पदार्थों को देखता मात्र है, उनका कर्ता व भोक्ता नहीं होता; उसी प्रकार ज्ञान बन्ध तथा मोक्ष का एवं कर्मोदय तथा निर्जरा को जानता मात्र है, उनका कर्ता व भोक्ता नहीं होता। ऐसी श्रद्धा से ज्ञानी पर के कर्तृत्व–भोर्क्तृत्व के अहंकारादि एवं असंयमादि दोषों से निर्वृत्त हो स्वरूपसन्मुख हो जाते हैं।

3. पुण्य–पाप : स्वर्ण–लोहमय बेडियाँ –

आचार्य कुन्दकुन्द शुभ और अशुभ दोनों कर्मों को कुशील कहते हैं। अशुभकर्म को कुशील और शुभकर्म को सुशील मानने वाले अज्ञानीजनों से वे पूछते हैं कि जो कर्म हमें संसाररूप बन्दीगृह में बन्दी बनाताहै वह सुशील कैसी हो सकता है ?[1]

जैसे पुरुष को सोने की बेड़ी भी बाँधती है और लोहे की बेड़ी भी बाँधती है, उसी प्रकार शुभ व अशुभ कर्म भी जीवों को समान रूप से सांसारिक बन्धन में बाँधते हैं।[2]

दुर्जन पुरुष के संसर्ग की भाँति इन दोनों कुशीलों के साथ राग व संसर्ग करना उचित नहीं है, क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग एवं राग करने से स्वाधीनता का नाश होता है।[3]

जिनेन्द्र भगवान का यह उपदेश है कि रागी जीव कर्म से बँधता है और वैराग्य को प्राप्त जीव कर्मबंधन से छूटता है, अतः शुभाशुभ कर्मों में प्रीति करना ठीक नहीं है।[4]

वस्तुतः यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि शुद्धोपोग पर ही केन्द्रित है, वे शुभाशुभ दोनों ही भावों को एक जैसा संसार का कारण होने से हेय मानते हैं।

कविवर बनारसीदास ने तो इस अधिकार का नाम ही पुण्यपाप–एकत्वद्वार रखा है। उनके अनुसार–

पापबन्ध व पुण्यबन्ध – दोनों ही मुक्तिमार्ग में बाधक हैं, दोनों के कटु और मधुर स्वाद पुद्गल के हैं, संक्लेश व विशुद्धभाव दोनों विभाव हैं, कुगति व सुगति दोनों संसारमय हैं। इस प्रकार दोनों के कारण, रस, स्वभाव और फल – सभी समान हैं। फिर न जाने क्यों, अज्ञानी को इनमें अंतर दिखाई देता है ? दोनों आत्मा के स्वरूप को भुलाने वाले हैं, अतः अंधकूप हैं व कर्मबंधरूप हैं, अतः दोनों का ही मोक्षमार्ग में निषेध है।[5]

समयसार के हिन्दी–टीकाकार पण्डित जयचंदजी छाबड़ा कहते हैं कि –

१ समयसार, गाथा १४५ २. समयसार, गाथा १४६ ३. वही, गाथा १४७
४. वही, गाथा १५० ५. समयसार नाटक, पुण्य–पाप–एकत्वद्वार, छन्द ६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"पुण्य-पाप दोऊ करम, बन्ध रूप दुर मानि।
शुद्ध आतमा जिन लह्यो, नमूँ चरण हित जानि।।'[1]

पुण्य व पाप दोनों ही कर्म बन्धरूप हैं, अतः दोनों एक समान दुःखद हैं।"

कविवर बनारसीदासजी ने गुरु–शिष्य–संवाद के रूप में पुण्य–पाप की यथार्थ स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जबतक शुभ–अशुभ क्रिया के परिणाम रहते हैं तबतक ज्ञान–दर्शन उपयोग और मन–वचन काय योग चंचल रहते हैं तथा जबतक ये स्थिर न होंवें तबतक शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता। इसलिए दोनों ही क्रियाएँ मोक्षमार्ग का छेद करने वाली हैं, दोनों ही बंध कराने वाली है, दोनों में से कोई भी अच्छी नहीं है। इसप्रकार दोनों ही मोक्षमार्ग में बाधक हैं – ऐसा विचार करके शुभ–अशुभ क्रिया का निषेध किया गया है।[2]

इस प्रकार मोक्षमार्ग में पुण्य–पाप का क्या स्थान है, यह बात अत्यंन्त स्पष्ट हो गई, फिर भी पापकार्यों से बचने के लिए पुण्य की भी अपनी उपयोगिता है – इस बात को दृष्टि से ओझल न करते हुए यथायोग्य पुण्याचरण करते हुए पुण्य के प्रलोभन से बचे और पुण्य को ही धर्म न समझ लिया जाय – इस बात से भी सावधान रहे।

4. आस्रव तत्त्व : संसार कारण तत्त्व –

समयसार के आस्रव के प्रकरण में आचार्य कुन्दकुन्द ने संसार के कारणों की मीमांसा करते हुए मुख्य रूप से यह बताया है कि ज्ञानी अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के रागादिरूप भावास्रवों का अभाव होने से कर्मों का आस्रव व बंध नहीं होता; क्योंकि सम्यग्दर्शन मात्र मोक्ष का ही कारण है, बन्ध का कारण नहीं है। हाँ, अविरत सम्यग्दृष्टि के अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन के साथ विद्यामन अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायों के उदयजनित जो रागादि भाव होते हैं, उनसे कर्मों का आस्रव व बन्ध होता है, परन्तु उसकी यहाँ गिनती नहीं की गई है, क्योंकि सम्यग्दर्शन की ऐसी अद्भुत महिमा है कि उसके उत्पन्न होने की भूमिका में ही बध्यमान कर्मों की स्थिति घटकर अन्तःकोड़ा–कोड़ी सागर प्रमाण हो जाती है। चौथे गुणस्थान में ४१ प्रकृतियों का आस्रव तो रुक ही जाता है तथा जो शेष आस्रव–बन्ध होता है, उसका कारण सम्यग्दर्शन नहीं है, बल्कि सम्यग्दर्शन के साथ रहने वाला आस्रवभाव है।

आस्रवभाव के अभाव में द्रव्यप्रत्ययों को बन्धक नहीं कहा है, क्योंकि बंध का मूल कारण तो भावास्रव ही है।

यहाँ महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठाया गया है कि वह जब ज्ञानगुण के जघन्यभाव को बन्ध का कारण कहा है तो फिर ज्ञानी निरास्रव कैसी ?

समाधान यह है कि यहाँ ज्ञानगुण के जघन्यभाव का अर्थ है मिथ्यात्वसहित अज्ञानभाव अर्थात् मिथ्यात्वादि के उदय में जब ज्ञान–दर्शन–गुण रागादिमय हो जाते हैं, तब वे अज्ञानभाव से परिणत ज्ञान–दर्शन ही बंध का कारण है। ज्ञानी के उस अज्ञानमय जघन्य भाव का अभाव हो गया है, अतः ज्ञानी निरास्रव ही है।

5. संवर तत्त्व : भेदविज्ञान की भावना का सुफल –

भेदज्ञान की भावना से ही शुद्धात्मा की उपलब्धि – आत्मानुभूति होती है और आत्मानुभूति से

१ समयसार के पुण्यपापधिकार की भाषावचनिका का मंगलाचरण, पृष्ठ २४१
२ समयसार नाटक, पुण्य–पाप–एकत्वद्वार, छन्द १२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राग–द्वेष–मोहरूप भावास्रव एवं नवीन द्रव्यकर्मों का निरोध होता है। तथा भावास्रव–द्रव्यास्रव का रुक जाना ही संवर है।

निश्चय से उपयोग उपयोग में है, क्रोधादि में उपयोग नहीं है और क्रोध–क्रोध में ही हैं, उपयोग में क्रोध नहीं है। इसी प्रकार आठ प्रकार के कर्म और नोकर्म में भी उपयोग नहीं है और उपयोग में भी कर्म–नोकर्म नहीं है, क्योंकि उपयोग चैतन्य का परिणाम होने से ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व शरीरादि नोकर्म सभी पुद्गल के परिणाम होने से जड़ हैं। अतः उपयोग व क्रोधादि में प्रदेशभिन्नता होने से अत्यन्त भेद है। इसप्रकार इनके पारमार्थिक आधरर–आधेय सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानी के दर्शन–ज्ञान उपयोग में स्थित होने से मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग रूप आस्रव का अभाव होता है। आस्रव का अभाव होने से कर्मों का निरोध, कर्मों के निरोध से नोकर्मों का निरोध और नोकर्मों के निरोध से संसार का निरोध हो जाता है।[1]

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ है कि आत्मोपलब्धि में मूल कारण भेदज्ञान ही है। भेदज्ञान पाने की प्रेरणा देते हुए आचार्य अमृतचंद्र ने भी यही कहा है कि भेदज्ञान सदैव भाने योग्य है तथा यह भेदज्ञान अखण्ड प्रवाह रूप से तब तक भाना चाहिए जबतक कि ज्ञान परभावों से छूटकर ज्ञान में प्रतिष्ठित न हो जावे।[2]

6. निर्जरा तत्त्व : ज्ञान–वैराग्य की प्रकट सामर्थ्य –

इस अधिकार में पहले तो द्रव्यनिर्जरा व भावनिर्जरा किन जीवों को किसप्रकार होती है – इसका सामान्य वर्णन किया है, पश्चात् ज्ञान और वैरागय की सामर्थ्य का विस्तृत विवेचन किया है, जिसमें विष को औषधि के रूप में सेवन करने वाले विवेकी वैद्य का और परिस्थितिवश अरुचिपूर्वक मद्यपान करने वाले पुरुष का दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है–जिसप्रकार विषपान करता हुआ वैद्य मरता नहीं है तथा मद्यपान करते हुए अनासक्त पुरुष को नशा नहीं चढ़ता, ठीक उसीप्रकार जो भेदविज्ञानी अनासक्त भाव से कर्म करता है, वह बन्धन को प्राप्त नहीं होता।

आत्माभिमुख रहने की प्रेरणा देते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

"एदम्हि रदो णिच्चं, संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो सो होहिदि उत्तमं सोक्खं।।२०६।।

हे आत्मन! यदि तू सुख चाहता है तो उस आत्मानुभव में तल्लीन होकर रह, उसी में सदा सन्तोष धारण कर और उसी में तृप्त हो, और सब इच्छाओं का त्याग कर दे। ऐसा करने से तुझे संवरपूर्वक निर्जरा होगी, जिससे उत्तम सुख प्राप्त होगा।"

आत्मज्ञान की महिमा करते हुए कहा है कि आत्मा को ही नियम से अपना परिग्रह जानता हुआ कौर ऐसा कहेगा कि यह परद्रव्य मेरा परिग्रह है ? यदि परद्रव्य को कोई अपना मानेगा तो उस अज्ञज्ञनी को स्वयं अजीव होने की आपत्ति आवेगी, जो संभव नहीं है।

ज्ञानी कर्मों से क्यों बँधता है – इस सम्बन्ध में कहा है कि अज्ञानी कर्मफल की भावना से ही कर्म करता है, अतः उसे संसार–परिभ्रमण रूप कमफल की प्राप्ति होती है और ज्ञानी जीव फल की कामना से कर्म नहीं करता, अतः उसे कर्मफल की प्राप्तिरूप संसार–परिभ्रमण नहीं होता। इस प्रकार निर्जरा अधिकार में निर्जरा तत्त्व का आध्यात्मिक दृष्टि से विशद विवेचन हुआ है।

---

१ समयसार गाथा १८१ से १८३ एवं टीका

२ समयसार कलश, १२६ और १३०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

7. बन्धाधिकार : निर्बन्धद्वार –

इस बन्धाधिकार में निर्बन्ध, निष्कषाय और निर्भय होने का मूल मन्त्र या अमोघ उपाय बताया गया है। कर्मबन्ध का मूल कारण अपना अज्ञानजन्य राग–द्वेष–मोह रूप अध्यवसान है। यदि आत्मा में अध्यवसान भाव है तो जीवों को मारो या न मारो, बन्ध निश्चित होगा ही । और यदि राग–द्वेषादि अध्यवसान नहीं है तो भले जीव मर जावे तो भी बंध नहीं होगा।

यद्यपि रागादि अध्यवसान भाव किसी न किसी व्यक्ति या वस्तु के अवलम्बन से होते हैं, परन्तु बन्ध उस व्यक्ति या वस्तु के कारण नहीं, बल्कि अपने अध्यवसान से होता है। अतः परवस्तु या व्यक्ति पर राग–द्वेष करना व्यर्थ है।

जिस प्रकार तेल लगाकर धूल भरे अखाड़े में व्यायाम करने से पुरुष को जो मैल लगता है, उसका कारण तेल है, व्यायाम व अखाड़ा नहीं; उसीप्रकार बन्ध का कारण मात्र रागादि अध्यवसान है, कर्मरज, मन–वचन–काय की प्रवृत्ति तथा चेतन–अचेतन की हिंसा व पंचेद्रिय के भोगादि नहीं है।

इस अधिकार में पर को सुखी–दुःखी करने, मारने–जिलाने या पर के द्वारा सुखी–दुःखी होने, मारने–जीवित रखने की मिथ्या मान्यता सम्बन्धी जो २४७ से लेकर २६६ तक २० गाथाएँ हैं वे अत्यन्त मार्मिक हैं। वे पाठकों की मिथ्या मान्यता पर सीधी चोट करतीं हैं। उनमें कहा गया है कि–

यदि कोई ऐसा मानता है कि मैं अन्य को मार सकता हूँ या अन्य जन मुझे मार सकते हैं, तो उसकी यह मान्यता अज्ञानमय है,क्योंकि जब मरण आयु के क्षय से ही होता है तो तुम किसी को कैसे मार सकते हो ? और अन्य जन भी तुम्हे कैसे मार सकते हैं ? न तो तुम किसी की आयु छीन सकते हो और न कोई तुम्हारी आयु छीन सकता है।

इसीप्रकार मैं अन्य को बचाता हूँ या अन्य जन मुझे बचाते हैं – यह मान्यता भी मिथ्या है, क्योंकि सभी जीव अपने–अपने आयुकर्म से जीवित रहते हैं। न तो हम किसी को आयु दे सकते हैं, न हमें कोई अपनी आयु दे सकता है। तो फिर हमने किसी को बचाया या हमें किसी न बचाया – यह मान्यता भी मिथ्या है।

यही सिद्धान्त पर को सुखी–दुःखी करने के सम्बन्ध में एवं पर से स्वयं के सुखी–दुःखी होने के सम्बन्ध में लागू होता है। अज्ञानी जीव इसी मिथ्या मान्यता से दुःखी हैं।

एतदर्थ आचार्य कुन्दकुन्द ने गाथा २६७ से २६९ तक तीन गाथाओं में मार्मिक उद्‌बोधन करते हुए कहा है कि – **हे भव्य जन ! तुम जरा गहराई से सोचो कि जब तुम्हारा पर में कुछ भी हस्तक्षेप नहीं हो सकता, तुम्हारी कुछ भी नहीं चलती तो फिर तुम क्यों व्यर्थ ही उनमें राग-द्वेष करके कर्मबन्ध करते हो ?**

यदि कोई ऐसा कहे कि ये तो निश्चयनय की बातें हैं और हम तो व्यवहारीजन हैं। अतः हमें तो व्यवहार से ऐसा ही मानना पड़ेगा कि – हम दूसरों का भला–बुरा कर सकते हैं। तो उसका समाधान करते हुए आचार्य २७२ वीं गाथा में कहते हैं कि – निश्चय–नयाश्रित ज्ञानी जन ही निर्वाण की प्राप्ति करते हैं। इसी संदर्भ में समयसार गाथा २७३ से २७५ मूलतः द्रष्टव्य हैं।

8. मोक्ष अधिकार : सम्यक्‌पुरुषार्थ अधिकार –

इस अधिकार में मोक्षप्राप्ति के लिए मुख्य रूप से निम्नलिखित चार बिन्दुओं पर विचार किया गया है –

(१) सम्यक्‌पुरुषार्थ, (२) भेदविज्ञान सहित विराग, (३) पदद्रव्य का ग्रहण करना अपराध, (४) निश्चय से प्रतिक्रमण भी विषकुम्भ। इन चारों बिन्दुओं का मोक्ष एवं मोक्षमार्ग से सीधा सम्बन्ध है।

सर्वप्रथम सम्यक्‌पुरुषार्थ पर जोर देते हुए कहा है कि – जीव अनादि काल से जिन कर्मों से बँधा है उनसे छूटने के लिए उन्हें मात्र जान लेना और उनके प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग आदि तथा उदय, उदीरणा, बन्ध एवं सत्त्व आदि भेद–प्रभेदों की सूक्ष्म चर्चा कर लेने से भी मुक्ति नहीं मिलती। तात्पर्य यह है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि गम्भीर चर्चा–वार्ता एवं उसके स्वरूप का बारम्बार चिन्तन–मनन मुक्ति के सीधे साधन नहीं है। मुक्ति के लिए कर्मबंध के कारण मोह–राग–द्वेष का नाश करना आवश्यक है, जो कि भेद–विज्ञान से होता है।

जिसप्रकार प्रज्ञाछैनी द्वारा कर्मों से आत्मा का भेदज्ञान किया जाता है, उसीप्रकार प्रज्ञाछैनी से ही कर्मों के त्यागपूर्वक निजात्मा का ग्रहण होता है। जब ज्ञानी जीव प्रज्ञा से जीव व कर्म के स्वभाव को भिन्न–भिन्न जानकर यह निश्चिय करता है कि दुःख के कारणभूत बन्ध छेदने योग्य है और सुखस्वरूप शुद्ध आत्मा ग्रहण करने योग्य है, तब वह रागादि कर्मों से विरक्त हो जाता है और तभी उसका कर्मबन्धन से मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त होता है। उस समय उसको प्रज्ञा द्वारा ऐसा विचार आता है कि जो चिदात्मा है, निश्चय से मैं वह हूँ, जो द्रष्टा है वह मैं हूँ, अर्थात् मैं चिदात्मा हूँ, ज्ञाता–दृष्टा हूँ, इसके अतिरिक्त सब भाव मुझसे पर हैं, वे मेरे नहीं है, अतः त्याज्य हैं।

आचार्य कहते हैं कि जिस प्रज्ञा के द्वारा भेदज्ञान किया जाता है, उसी प्रज्ञा के द्वारा आत्मा का ग्रहण करना चाहिए।

ज्ञायक स्वभाव से भ्रष्ट होना ही अपराध है **'अपगत राधः इति अपराधः'**। 'राध' शुद्धात्मा की आराधना को कहते हैं, अतः जो आत्मा राध रहित है – शुद्धात्मा की आराधना से रहित है, ज्ञायकस्वभाव से भ्रष्ट है, वह अपराध है।[1] जब प्रज्ञा से शुद्धात्मा ग्रहण होता है, तब आत्मा निरपराधी होता है।

व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि आत्मा प्रतिक्रमण से शुद्ध होता है, परन्तु वस्तुतः प्रतिक्रमणादि पुद्गलाधीन हैं, वे बन्ध के कारण हैं। शुद्धात्मतत्त्व तो प्रतिक्रमण से रहित है। इस दृष्टि से द्रव्य व भाव – दोनों ही प्रतिक्रमण विषकुंभ हैं।

जो मुनिराज प्रतिक्रमणादि के विकल्प से भी रहित हो गये हैं, वे आत्मानुभवी शुद्ध ज्ञान–दर्शन सहित हैं। ऐसे पुरुष थोड़े ही समय में कर्म रहित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।[2]

इसप्रकार इस अधिकार में मोक्षतत्त्व के सम्यक् साधनों पर विचार किया गया है।

9. सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार : प्रकारान्तर से अकर्तृत्व का ही अधिकार –

इस अधिकार में पर के कर्तृत्व–भोक्तृत्व से रहित सर्वविशुद्ध आत्मतत्त्व का विवेचन है, जो कि कर्त्ता–कर्म, पुण्य–पाप, बन्ध–मोक्ष आदि भावों से दूर, पर से एवं परनिमित्तम अपने विभावभावों से सर्वथा भिन्न, अपने स्वरूप में सदा एकाकार, ज्ञानानन्दस्वरूप परमतत्त्व है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र का विषय भी मूलतः शुद्ध आत्मतत्त्व ही है और वह शुद्धात्म तत्त्व सर्वविशुद्ध ज्ञानस्वरूप है।[3] यह सर्वविशुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व न किसी का कार्य है औन न किसी का कारण। उसका परद्रव्य के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है, इसी से उस शुद्धात्मा में एवं परद्रव्य में कर्ता–कर्म, भोक्त–भोग्य सम्बन्ध नहीं है। अज्ञानवश ही अज्ञानी जीव आत्मा को परद्रव्य का कर्ता–भोक्त मानते हैं।

ज्ञान का स्वभाव तो ज्ञेय को जानना मात्र है। ज्ञेय के जानने मात्र से ज्ञान में विकार नहीं होता। सम्पूर्ण कर्तृत्व का निषेध करते हुए यहाँ कहा गया है कि प्रत्येक पदार्थ अपने गुण–पर्यायों से अनन्य होता है, अतः वह अपने ही गुण–पर्याय रूप परिणमन करता है, अन्य द्रव्य–गुण व पर्याय रूप नहीं है, इसलिए उसमें कर्तृत्व की कल्पना ही निरर्थक है।

द्रव्यकर्मों का कर्ता पुद्गलद्रव्य है, क्योंकि द्रव्यकर्म पुद्गलद्रव्य से अनन्य है और रागादि परिणामों से अन्य है – भिन्न है; उसी प्रकार अज्ञानदशा में रागादि का कर्ता आत्मा ही है, क्योंकि रागादिरूप परिणमन का कर्ता आत्मा ही है, अतः वह आत्मा से अनन्य है व कर्मों से अन्य है – भिन्न है।

---

१ समयसार गाथा ३०४ की 'आत्मख्याति' टीका

२. समयसार नाटक, मोक्ष द्वार, छन्द ४३

३. वही, सर्वविशुद्धि द्वार, छन्द १२६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवजीवाधिकार में शुद्धात्मा को श्रद्धा का विषय बनाने के लिए भेदज्ञान की मुख्यता से रागादि भावों को पुद्गलकर्मनिमित्तक होने से पुद्गलद्रव्य का कहा है और यहाँ उपादान की मुख्यता एवं कर्ता–कर्म की दृष्टि से राग आत्मा की ही अवस्था होने से आत्मा का कहा गया है। दोनों अपेक्षाएँ जुदी–जुदी हैं, अतः कोई विरोध नहीं है।

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार को कर्ता–कर्म का उपसंहार भी कहा जा सकता है, क्योंकि इस अधिकार में प्रकारान्तर से कर्ता–कर्म की ही मुख्य चर्चा की है। जो बातें कर्ता–कर्म अधिकार में अनुक्त रह गई, कारणवश्य कही नहीं जा सकीं, उन्हें भी यहाँ कह दिया गया है। उदाहरणार्थ – आठ कर्म या एक सौ अड़तालीस कर्मप्रकृतियाँ आत्मा के रागादि विकारी भावों की कर्त्ता नहीं है – यह बात बहुत विस्तार से यहाँ कही गई है तथा सांख्य, बौद्धादि की एकान्त मान्यताओं का भी यहाँ निराकरण किया गया है।

दूसरी बात, यहाँ सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र रूप साक्षात् मोक्षमार्ग को भी विशद रीति से प्रकट करके प्राणियों को मोक्षमार्ग में स्थापिंत करने की प्रेरणा दी गई है, जो कुन्दकुन्द के शब्दों में ही द्रष्टव्य है –

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु।।४१२।।

हे भव्य! तू निज आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित कर, उसी का ध्यान कर, उसी का अनुभव कर और उसी में निरन्तर विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर!

10. समयसार में दृष्टान्तों का प्रयोग –

समयसार में सामान्य जनों को समझाने के लिए लौकिक जीवन के ऐसे–ऐसे अनुभूत उदाहरणों का प्रयोग किया गया है जो वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने में बहुत सहायक है। जिस प्रकार अनार्यजनों को अनार्य भाषा में समझाये बिना समझ में नहीं आता, उसी प्रकार व्यवहारी जनों को व्यवहार की भाषा और सरल दृष्टान्तों के बिना वस्तुस्वरूप समझ में नहीं आता। इसी कारण समयसार में सूक्ष्म सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए आचार्यदेव ने दृष्टान्तों का प्रयोग किया है।

१७ वीं १८वीं गाथा में राजा के दृष्टान्त से जीवराज को समझाते हुए कहा है जैसे धनार्थी पहले राजा को पहचानकर अपने मन में ऐसा विश्वास जागृत करता है कि – **यह वस्तुतः राजा है, यदि मैं इसकी सेवा करूँगा तो मुझे अवश्य ही इससे धन की प्राप्ति होगी, फिर वह उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है' उसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक पुरुष को पहले जीवरूपी राजा को जानना चाहिए, श्रद्धान करना चाहिए और अनुचरण करना चाहिए तथा उसी में तन्मय हो जाना चाहिए।**

३४ वीं गाथा में प्रत्याख्यान का स्वरूप समझाने के लिए परवस्तु का दृष्टान्त दिया है। लोक में सब कोई पर को पर जान कर तुरन्त उसका त्याग कर देता है; उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष समस्त परद्रव्यों को पर जानकर उन्हें त्याग देता है, उनसे ममत्व छोड़ देता है।

गाथा ४७ व ४८ में व्यवहारनय के समझाने के लिए सहित राजा के निकलने पर राजा निकला है – ऐसा दृष्टान्त दिया है – इसी प्रकार अध्यवसानादि भावों को 'यह जीव है' – ऐसा जो कहा जाता है सो वह भी व्यवहार दर्शाया है। ५० से ६० गाथा में इसी को विस्तार से समझाने के लिए 'व्यक्ति को लुटता देख मार्ग लुटता है' – ऐसा दृष्टान्त देकर समझाया है। इसी प्रकार कर्ता–कर्म अधिकार की गाथा १३०–१३१, पुण्य–पापाधिकार की गाथा १४६–१४७, तथा १५७ से १५९, संवर अधिकार की गाथा, १८४ से १८५, निर्जरा अधिकार की गाथा १९५–१९६ एवं २२० से २२३,, बंधाधिकार की गाथा २४० व २४१, मोख अधिकार की गाथा २८८ से २९० भी द्रष्टव्य हैं। इन सबमें विभिन्न दृष्टान्तों से वस्तुस्वरूप को बहुत ही सरल ढंग से स्पष्ट किया है, जो मूलः पठनीय हैं।

❑❑❑

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

युगदृष्टा एंव जैनत्व के जीवन्त प्रतीक : वर्णी गणेशप्रसादजी

✍ डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल

जैन जगत के क्षितिज पर विक्रम की २० वीं सदी में तीन जाज्वल्यमान नक्षत्रों का उदय हुआ, जिन्होंने दि. जैनधर्म, साहित्य संस्कृति और जन–जीवन पर गहरा प्रभाव डाला। उनके नाम है – श्रीमद् राजचद्र (वि. सं. १६२४–१६५७), श्री गणेशप्रसाद वर्णी (वि. सं. १६३१–२०१८) और श्री कानजी स्वामी (वि. सं. १६४६ से २०३७) शताबधानी श्रीमद राजचन्द्र काठियावाढ़ के कृष्णभक्त परिवार में जन्मे थे। गांधीजी आपको अपना गुरु मानते थे। आपने बाद में दि. जैन धर्म अपनाया। श्री गणेश प्रसाद वर्णी बुन्देलखण्ड के वैष्णव परिवार के थे। आपने बचपन से ही जैन धर्म अपनाया और समस्त दि. जैन समाज को एकता, सद्भाव और ज्ञान–यज्ञ के सूत्र में पिरोया। श्री कानजी स्वामी काठियावाढ़ के स्थानकवासी श्वेताम्बर सम्प्रदाय के साधु थे। आपने सम्वत् १६६१ में अपने हजारों भक्तों सहित दि. जैन धर्म अपनाया और लाखों भक्त बनाये। आपने प्रेरणा से अनेकों दि. जैन मंदिरों का निर्माण तो हुआ ही, तत्वज्ञान के प्रसार–प्रचार हेतु स्वाध्याय की परम्परा प्रचलित हुई। ये तीनों महानुभाव स्वभाव से भद्र, शांत परिणामी, परोपकारी, नित–स्वाध्यायशील, आत्मचिंतन, गुणग्राही, निर्भीक, निश्छल, निरभिमानी, निस्पृही और जिनेन्द्र भक्त थे। इन्होंने जीवन भर समयसार रूप शुद्धात्मा के गीत गाये और आत्मानुभव के सहचारी ज्ञान–वैराग्य, प्रशम–सम्वेग–अनुकम्पा–आस्तिक्य बोध तथा वात्सल्य भाव आदि गुणों के द्वारा सभी को आत्म कल्याण परक जीवन जीने का बोध कराया। जैन जगत में इनका योगदान सदैव स्मरणीय रहेगा। प्रस्तुत आलेख में पूज्य गणेश प्रसाद वर्णी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व विवेच्य है, जो बुन्देलखण्ड में जैन सन्त (वर्णीजी) के नाम से हृदय–हृदय में धड़कते हैं।

जन्म, बचपन और प्राथमिक शिक्षा –

पूज्य गणेश प्रसाद वर्णी का जन्म आश्विन कृष्ण ४, वि.सं. १६३१ में ललितपुर जिलान्तर्गत हंसेरा ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम श्री हीरालाल और माता का नाम उजियारी बाई था। ये असाटी वैश्य जाति के वैष्णव धर्मावलम्बी थे। ग्राम में शिक्षा की सुविधा न होने के कारण आपके पिता मडांवरा आ गये वहाँ बालक गणेश प्रसाद ने चौदह वर्ष की उम्र में मिडिल पास किया। आपके मकान के सामने एक दि. जैन मंदिर था जिसके विशाल चबूतरे पर गर्मी में पद्मपुराण (जैन रामायण) का प्रवचन होता था बालक गणेश इन प्रवचनों को रुचिपूर्वक सुनता और रामायण तथा पद्मपुराण के कथानकों की तुलना कर पद्मपुराण के कथानकों को सही मानता। यही वह विचार बिन्दु था जहाँ से बालक गणेश दि. जैन धर्म की ओर आकर्षित हुआ। उसने वैष्णव मंदिर के प्रसाद को खाने से मना कर दिया। उसे कृपा नहीं पुरुषार्थ प्रिय था। एक बार गुरुजी ने हुक्का भरने का कहा तो उसे फोड़ दिया। इससे प्रभावित होकर गुरुजी ने हुक्का पीना बंद कर दिया। सदाचारी बालक की यह पहली सफलता थी।

स्व जिनदीक्षा –

बारह वर्ष की अवस्था में कुल परम्परानुसार बालक का यज्ञोपवीत होना था। बालक ने मंत्र लेने से अरुचि व्यक्त कर माँ से कहा कि मेरी श्रद्धा इन क्रिया काण्डों में नहीं, मैं तो जैनधर्म को ही कल्याणकारी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानता हूँ। इस प्रकार बालक गणेश स्वतः दि. जैन धर्म में दीक्षित हो गया। अट्ठारह वर्ष की आयु में आपका विवाह हुआ। विवाह के कुछ समय बाद पिता का देहावसान हो गया। आपके पिता की णमोकार मन्त्र पर श्रद्धा थी। मृत्यु पूर्व पिता ने बालक गणेश को संसार बन्धन से मुक्त होने हेतु णमोकार मंत्र की श्रद्धा करायी। पितृ वियोग में ग्रह का सारा भार बालक गणेश पर आ गया अतः आपने मदनपुर में मास्टरी कर ली। बाद में आगरा में प्रशिक्षण प्राप्त कर इंदौर राज्य के शिक्षा विभाग में नौकरी की। आप की मां, पत्नी और समाज ने आपको जैनधर्म त्याग कर वैष्णव धर्म अपनाने का आग्रह किया और जात से निकाले जाने की धमकी दी किन्तु दृढ़ प्रतिज्ञ गणेश निश्चल रहा और कारीटोलन ग्राम से टीकमगढ़ आ गया। वहीं श्रीराम मास्टर ने आपको जतारा में स्कूल मास्टर बना दिया।

धर्ममाता चिरोंजाबाई का अपूर्व मिलन –

जतारा में मास्टर गणेश का सम्पर्क श्री मोतीलालजी वर्णी तथा स्वरूपचन्दजी बानपुरिया से हुआ। इनकी प्रेरणा से आप सिमरा ग्राम गये और चिरोंजाबाई के सम्पर्क में आये। आपको देखते ही चिरौंजा बाई के हृदय में सहज वात्सल्य भाव उमड़ आया और युवा गणेश को अपना पुत्र बना लिया। चिरौंजा बाई ने आपको जीवन पर्यंत पुत्रवत स्नेह दिया, आर्थिक सहयोग और ज्ञानार्जन के साधन उपलब्ध कराये। कर्मबंधन से मुक्ति हेतु युवा गणेश की ज्ञान–साधना इस बिन्दु से प्रारम्भ होकर अनवरत ३५ वर्ष की आयु तक चलती रही।

ज्ञान साधना के बढ़ते चरण : बात का शूल बना संकल्प –

युवा गणेश के मन में जैन धर्म के चारों अनुयोगों का ज्ञान तथा व्रतधारण करने का तीव्र भाव था। आपकी धर्म माता ने समझाया कि पहले ज्ञानार्जन करो, पश्चात् व्रतों को पालना। व्रत लेकर प्रमादी नहीं होना चाहिये। आपकी सहमति पाकर बाई जी ने जयपुर जाने की व्यवस्था कर दी। आप सोनागिर के दर्शन कर ग्वालियर पहुँचे, वहाँ छाता को छोड़ सब सामान चोरी चला गया। अतः छह आने में छाता बेचकर दो–दो पैसे के चने चबाते हुए घर वापिस आ गये। जतारा से तीन मील दूर मार्चा ग्राम के स्वरूप चन्द जी के साथ तत्व अभ्यास किया और उनके साथ खुरई गये। वहां पं. पन्नालाल जी न्याय दिवाकर के प्रवचन सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। आपने अपना वैष्णव कुल का परिचय देते हुए संसार सागर से तिरने का मार्ग पूंछा। इस पर पं. जी ने कहा कि 'लोक जैनधर्म के तत्व को नहीं समझते किन्तु भोजन के लोभ में जैन धर्म स्वीकार कर लेते हैं'। यह बात स्वाभिमानी युवा गणेश के मन में चुभ गयी और तत्व–मर्मज्ञ होने की प्रतिज्ञा कर ली।

बम्बई–पूना प्रयास –

खुरई से लौटने पर आप बमराना के सेठ लक्ष्मीचन्दजी के पास रहे। उनके द्वारा दी गई दस रु. की पूंजी से आप पैदल बम्बई की ओर ज्ञानार्जन हेतु चले। कुण्डलपुर, जबलपुर, रामटेक, मुक्तागिरी की यात्रा कर गजपंथा पहुँचे। बीमार हो गये और अंतिम इक्कनी दान में दे दी। आपसे आरदी के सेठ बहुत प्रभावित हुए और वे अपने साथ बम्बई ले गये, आठ आने भी दिये। भूलेश्वर मंदिर में स्वाध्याय करते देख खुरजा निवासी बाबा गुरुदयाल सिंह ने आपका परिचय पूंछा और भोजन–वस्त्र की व्यवस्था की। दस रु. की कापियाँ खरीदकर विक्रय करने दी जिससे इकतीस रु. छह आने हो गये। बम्बई में आपने श्री पन्नालाल वाकलीवाल से रत्नकरण्ड श्रावकाचार और श्री जीवारामजी से कातन्त्र व्याकरण पढ़ा। इनकी परीक्षा उत्तीर्ण कर रु. २५/– का पुरस्कार प्राप्त किया। श्री पं. गोपालदासजी बरैया ने भी उत्साह वर्धन किया। श्री लक्ष्मीचन्द झवेरी दिल्ली ने भी रु. १०/– प्रति माह छात्रवृत्ति देकर सहयोग किया। जलवायु अनुकूल न होने से आप पूना गये और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केकड़ी होते हुए जयपुर पहुँच गये।

जयपुर में धर्माध्यान –

जयपुर में श्री जमुना प्रसाद काका ने आपकी व्यवस्था की। वहाँ श्री वीरेश्वर प्रसाद जी से एक वर्ष तक कातन्त्र व्याकरण, चन्द्रप्रभ चरित्र, तत्वार्थ सूत्र और सर्वार्थ सिद्धि का अध्ययन किया। कातंत्र व्याकरण की परीक्षा दी। परीक्षा देते समय पत्नी वियोग का तार मिला परन्तु आप अविचलित हुए परीक्षा देते रहे। पत्नी के वियोग पर आपने बाई जी को लिखा 'मैं निःशल्य होकर अध्ययन करूंगा, बंधन मुक्त हुआ।'

अध्ययन हेतु आगरा–मथुरा–खुरजा प्रवास –

श्री पं. गोपालदास बरैया ने आपको नव–स्थापित दि. जैन महाविद्यालय में अध्ययन करने हेतु मथुरा बुलाया। आगरा में आपने पं. बरैया जी से न्याय दीपिका पढ़ी पश्चात् मथुरा विद्यालय में पं. ठाकुरदासजी के सहयोग से दो वर्ष तक अध्ययन किया। पश्चात् खुरजा चले गये। मथुरा में पं. बलदेव प्रसाद जी से सर्वार्थ सिद्धि पढ़ी। पं. बरैया जी ने प्रसन्न होकर दुग्धपान हेतु दो रु. प्रति माह सहयोग दिया। खुरजा में आप दो वर्ष रहे और बनारस की प्रथमा परीक्षा तथा न्याय मंध्यमा प्रथम खण्ड उत्तीर्ण किया खुरजा से शिखर जी की यात्रा पर आप बाई जी के पास सिमरा आ गये।

टीकम्मगढ़–हरिपुर–वाराणसी की ओर –

टीकमगढ़ जाकर आपने महा नैयायिक श्री दुलार झा से मुक्तावली तथा पंच लक्षणावली आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया। श्री झा न्याय शास्त्र के विद्वान होते हुए वली प्रथा के समर्थक थे अतः ज्ञानार्जन का लोभ त्याग उनकी संगति छोड़ दी। उस समय पं. ठाकुरदास जी इलाहाबाद के निकट हरिपुर में थे। वे और उनकी पत्नी का आप पर विशेष स्नेह था अतः आप हरिपुर गये और पं. ठाकुरदास जी के घर ३–४ माह पुत्रवत रहकर प्रमेयकमल मार्तण्ड और सिद्धान्त कौमुदी का कुछ अंशपढ़ा पश्चात् आप वि.सं. १९६१ में संस्कृत नगरी वाराणसी अध्ययन हेतु गये।

वाराणसी में जैनत्व का अपमान : जैन विद्यालय का संकल्प –

संस्कृत नगरी में वाराणसी में कोई जेन संस्कृत विद्यालय नहीं था। अतः विश्व होकर युवा विद्यार्थी गणेश क्वीन्स कालेज के मुख्य न्याय–अध्यापक श्री जीवनाथ मिश्रा के पास गये और एक रुपया भेंट चढ़ाकर न्यायशास्त्र पढ़ाने की प्रार्थना की। यह जानकारी मिलने पर कि 'मैं ब्राह्मण नहीं हूँ' श्री मिश्रा जी क्रोधित हो गये और रुपया फेंक कर कहा मैं जैनों को नहीं पढ़ाता। अनुनय–विनय सब व्यर्थ गयी। साम्प्रदायिकता का जहर बड़ा कटु होता है। अतः निराश हो वापिस लौट आये। आप को इस बात का बहुत दुख हुआ कि भगवान सुपार्श्व–पार्श्व की नगरी में जैनधर्म की शिक्षा देने का कोई साधन नहीं। तदनुसार मन में दि. जैन संस्कृत विद्यालय खोलने का संकल्प कर लिया। आपका परिचय श्वेताम्बर विद्यालय के पं. अम्बालाल शास्त्री से हुआ और उनसे न्यायशास्त्र का अध्ययन किया। वाराणसी में दि. जैन संस्कृत विद्यालय खोलने की भावना से आपने बाबा भागीरथजी वर्णी की बुला लिया।

एक रुपये की पूंजी से स्याद्वाद दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय –

जैन दर्शन एकं से अनंत होने में विश्वास करता है। यही कहावत चरितार्थ हुई स्याद्वाद विद्यालय की स्थापना में जब कामा निवासी श्री झम्मकलाल जी ने युवा गणेश को विद्यालय खोलने हेतु एक रुपये का पहला दान दिया। गणेश प्रखर बुद्धि के धनी थे और व्यवहारिक भी। उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक एक रुपये का दान ग्रहण किया और ६४ पोस्ट कार्ड खरीदकर जैन समाज के ६४ विशिष्टदानी महानुभावों को सहायतार्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पत्र लिखे। इसका अनुकूल प्रभाव हुआ। बाबू देवकुमार जी आरा, सेठ माणिकचन्द जी बम्बई आदि ने सहायता का आश्वासन दिया। मनोरथ सफल हुआ और जेठ सुदी पंचमी, वि.सं. १९६२ को स्याद्वाद दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय वाराणसी का उद्‌घाटन श्रीमान सेठ माणकचन्द जी बम्बई द्वारा सम्पन्न हुआ। युवा गणेश विद्यालय के संस्थापक के साथ ही प्रथम छात्र भी बने। धन्य हुए आपके प्रयास। ज्ञानार्जन हेतु दर–दर की खाक छानने वाला युवा गणेश ज्ञान–मंदिर की स्थापना का सूत्रधार बना। इसी महाविद्यालय ने सैकड़ों अग्रगण्य धुरंधर विद्वान–रत्न जैन समाज को दिये।

विद्यार्थी गणेश ने पं. अम्बालाल जी से एक वर्ष तक अष्टसहस्री पढ़ी और गुरु दक्षिणा में रु ५००/– की हीरे की अंगूठी भेंट की। आपने वि.सं. १९६४ में संस्कृत कालेज की न्याय मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण की। कुछ वर्ष पश्चात् हिन्दू विश्वविद्यालय से न्यायशास्त्री परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और न्यायाचार्य ने तीन खण्ड भी पास कर लिये।

ज्ञान साधना हेतु पूर्व–भारत यात्रा –

ज्ञानार्जन की भावना अभी तृप्त नहीं हुई थी। वाराणसी से आप टीकमगढ़ पहुँचे और पं. दुलार झा से न्याय पढ़े। उनके पुत्र श्री शान्तिलाल झा को लेकर बरूआसागर बाई जी के पास गये, वहाँ उनसे न्यायग्रन्थ पढ़े। पश्चात् श्री शान्तिलाल जी के साथ चकौती (दरभंगा) गये और वहाँ श्री सहदेव झा से ज्ञान प्राप्त किया। वहाँ से आप नवदीप (बंगाल) गये। वहाँ के छात्र मांसाहारी थे अतः तत्काल कलकत्ता चले गये। वहां पं. ठाकुरदास जी के सहयोग से एक बंगाली विद्वान से संस्कृत कालेज में न्यायशास्त्र का अध्ययन किया और छह माह बाद वाराणसी आकर श्री शास्त्री जी से अध्ययन करने लगे। इस प्रकार आपने अनेक कष्टों को सहन कर भारत–प्रसिद्ध संस्कृत विद्वानों से न्याय एवं धर्म शास्त्रों का विषद् अध्ययन किया। ज्ञानाराधना से आप अत्यंत विनम्र, मृदु, सहिष्णु निर्हंकारी और गुणग्रही हो गये। अनायास उपलब्धि से अपात्र अहंकारी हो जाता है किन्तु जब वही उपलब्धि सतत् साधना से मिलती है, तब वह आम्र के वृक्ष जैसा अति–विनम्र हो धरा की ओर झुकने लगता है, यह प्रकृति का नियम है।

अध्यात्मिक ग्रंथों का स्वाश्रित अध्ययन एवं समयसार की टीका –

प्रकृति का यह शाश्वत नियम है कि स्वतंत्रता की प्राप्ति स्वतंत्रता के संकल्प, आस्था और स्व–शक्ति के आश्रय से ही होती है, भले ही इस दौरान परिस्थितिजन्य पराश्रय हुआ हो; किन्तु पराश्रयी धारणा परतंत्रता की सूचक है। प्रज्ञावान युवा गणेश इस तथ्य से परिचित थे अतः कर्मबंध से आत्मा की स्वतंत्रता/मुक्ति हेतु आत्मा के स्वभाव आदि के परिज्ञान हेतु आपने आचार्य कुन्दकुन्द के पंचपरमागम, समयसार की आत्मख्याति टीका और मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथों का निज–प्रेरणा से स्वतः अध्ययन किया और अध्यात्म के गूढ़ अर्थ को समझा। उस समय सिद्धान्त और आगम ग्रंथों का पठन–पाठन प्रचलित था, अध्यात्य ग्रंथों का नहीं। अतः आपने स्वतः समयसार आदि ग्रंथों का अनेकों बार स्वध्याय किया। समयसार और आत्मख्याति की गाथायें उन्हें कण्ठस्थ थीं जिन्हें आप सदैव गुनगुनाया करते थे। आपका सम्पूर्ण जीवन–चक्र समयसार के तत्व की धुरी पर घूमता रहा। इटावा वर्षायोग में आप–बीमार हो गये थे। रात्रि के ३.३० बजे आपको १०४.५ डिग्री बुखार में समयसार का स्वाध्याय करते पाया गया। आराम करने के सुझाव पर आपने कहा भइया, (वि.सं.२००८) में आपको गुदा के बगल में अदृष्ट फोड़ा हो गया साथ में मलेरिया बुखार भी। तीव्र वेदना थी। आपरेशन हेतु टीकमगढ़ से डा. सिद्धि सा. आये। आपने बिना बेहोश हुए जाग्रत अवस्था में ही आपरेशन करवाया जो २०–२५ मिनट चला। घाव ४ इंच गहरा और ६ इंच घेरे का था। आप बिना हाथ, पैर हिलाये तटस्थ भाव से लेटे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहे। डाक्टर और सभी हत् स्तब्ध थे। आपकी शरीर के प्रति निस्पृहता–अनासक्ति देखकर। समयसार आपकी श्वासों में समाया था, यह बात भिन्न है कि समीक्षकों ने उस पर अपेक्षित जोर नहीं दिया।

समयसार के स्वाध्याय के साथ आपने उस पर सरल सुबोध हिन्दी टीका भी लिखी जिसका प्रकाशन आपके स्वर्गस्थ होने के उपरांत श्री पं. पन्नालाल जी के सम्पादकत्व में वि.सं. २०२६ में हुआ। आपके जीवन काल में उसके प्रकाशन का प्रयत्न किया किन्तु आप यह कह कर टालते रहे कि आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्ति के सामने इसका क्या स्थान ? स्वरूप–गुप्त रहने का यह अनुकरणीय उदाहरण है, अब जब कि प्रकाशन की हविश का भूत सर्वत्र छाया है। आपके प्रवचन अध्यात्म से ओतप्रोत और संतुलित रहते थे।

आत्माराधना हेतु स्वदीक्षित संयम की साधना –

श्री गणेश प्रसाद जी का अद्भुत व्यक्तित्व था। आपने धर्मांतरण का निर्णय आपने विवेक से लिया और एक अपवाद छोड़कर संयम साधना की दीक्षा/व्रत स्वयं जिनेद्र देव को साक्षी बना कर लिये और उन पर अंत तक दृढ़ रहे अर्थात् उनका पालन सहजता से किया। ज्ञानार्जन के काल में आपने पूर्ण सदाचारी और संयमी जीवन निर्वाह किया। इस कारण आप बड़े पंडित जी के नाम से श्रृद्धा पूर्वक समाज में पुकारे जाते थे। संयम की आराधना हेतु आपने ३८ वर्ष की आयु में कुण्डलपुर में बाबा गोकुलदास जी (पिता श्री पं. जगन्मोहनलाल जी) से ७वीं प्रतिमा 'ब्रह्मचर्य व्रत' धारण किया और वर्णी जी कहलाने लगे। (वि. सम्वत् १९६६)! आपने वि. सं. २००१ (वीर नि. सं.२४७०) में सागर में स्वतः १०वी. प्रतिमा –'आरम्भत्याग' धारण की और वि. सम्वत् २००५ (वीर नि. सं. २४७४) में वरुआसागर में जिनेन्द्र देव को साक्षी बना कर 'क्षुल्लक' दीक्षा (सचेलक साधु) धारण की। और अंत में, वि. सम्वत् २०१८, ईसवी दि. ५/६/६१ को 'आत्मा ही आत्मा के लिए शरण है' का उच्चारण करते हुए स्वतः जिनेन्द्र देव की साक्षी में निर्ग्रन्थ हो गये। नाम रखा गया–श्री १०८ गणेश कीर्ति मुनि ! शुद्ध–बुद्ध आत्मा की स्वीकृति और आत्मानुभव से आत्मा स्वयं ही पूज्य/पूजक हो जाती है। दीक्षागुरु मिल जाये तो श्रेष्ठ हैं, न मिलें तब भी स्वयंबुद्ध आत्मा अपना मार्ग चुन लेती है।

हिन्दू विश्वविद्यालय में जैन पाठ्यक्रम प्रारम्भ –

महामना मालवीय जी के संद्प्रयासों से वाराणसी में हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित हुआ था जिसमें प्राच्य दर्शनों के पाठयक्रम थे। एक दिन पाठयक्रम निर्धारण समिति की बैठक स्व पं. मोतीलाल जी की अध्यक्षता में हो रही थी। पं. अम्बादास शास्त्री और आप अनेक जैन ग्रंथों को लेकर सभा में पहुँचे और जैन दर्शन का कोर्स प्रारम्भ करने का निवेदन किया जो स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार आपने जैन–दर्शन की वैज्ञानिकता और सर्व कल्याण कारकता की जानकारी एवं अध्ययन हेतु विश्वविद्यालय के द्वार खोले। धर्म के प्रति समर्पण का यह उत्कृष्ट उदाहरण है।

सर्वत्रज्ञान मंदिरों की स्थापना, नई चेतना का जागरण –

अनुभव मोक्ष का मार्ग है और मोक्ष स्वरूप है। अनुभव के लिए स्वाध्याय और तत्वचिन्तन आवश्यक है। इसी बात को दृष्टिगत कर जन कल्याण की भावना से वर्णी गणेश प्रसाद ने जैनधर्म के अध्ययन–अध्यापन और स्त्री शिक्षा पर बहुत जोर दिया। आपने बुन्देल खण्ड एवं अन्य प्रांतों में पैदल घूम–घूमकर ज्ञान–मंदिर के रूप में पाठशालाऐं खुलवाई और विद्वानों की उपलब्धता हेतु सागर में गणेश दि. जैन संस्कृत विद्यालय तथा वाराणसी में स्याद्वाद महाविद्यालय की स्थापना की। आपकी प्रेरणा से मड़ावरा, सादूमल, बरुआसागर, द्रोणागिरी, जबलपुर, आहारजी, शाहपुर, खतौली, कटनी, इटावा, ललितपुर आदि अनेक स्थानों पर जैन विद्यालय खुले तथा कई व्रती आश्रम एवं गुरुकुल स्थापित किये गये। आपकी वाणी में आकर्षण का गहरा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जादू था आपकी प्रेरणा एवं निःस्पृहीवृत्ति से सभी जन सामर्थ्य अनुसार दान देते थे। आपको 'औघड़ दान–प्रेरक' कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। जैन समाज में गजरथ चलाने वालों को सिंघई सवाई सिंघई की पदवी दी जाती है। वर्णी जी ने पाठशाला खुलवाने हेतु मडावरा के सर्व श्री दमरूलाल जी एवं हरीसिंह जी सोंरया को क्रमशः सिंघई और सवाई सिंघई की पदवी प्रदान करवाकर समाज को सोच की नई दिशा दी। पंचकल्याणक की उपलब्धि आप तभी स्वीकारते जब उसकी आय से शिक्षा प्रसार हो। आप मंदिरों के साथ सर्व आगमों का पुस्तकालय एवं पाठशालाओं की स्थापना हेतु प्रभावी प्रेरणा देते। आप के इन प्रयासों से बुन्देल खण्ड विद्वानों की खान माना जाने लगा।

बाह्य धर्म प्रभावना का आधार परोपकार और अज्ञान का नाश –

जहाँ जैन मंदिर हैं, वहाँ पंचकल्याण एवं गजरथ चलाना आप अनुचित मानते थे। आपका विचार था कि उस द्रव्य का उपयोग गरीब लोगों के स्थितिकरण में किया जाये और बालकों को शिक्षित किया जाये। वर्तमान समय में मंदिर बनवाने या पंचकल्याणक/गजरथ आदि चलाने की अपेक्षा आपकी दृष्टि में लोगों का अज्ञान दूर कर समीचीन धर्म का प्रचार करना, दरिद्रों को भोजन देना, अनाथों को वस्त्र देना, आजीविका–विहीन मनुष्यों को आजीविका लगाना आदि परोपकारी कार्यों से धर्म प्रभावना करना श्रेष्ठ एवं उपयोगी है। इस प्रकार वर्णी जी ने देश–काल की आवश्यकतानुसार धर्मप्रभावना का सद्मार्ग बताया जो आज भी अनुकरणीय है। विज्ञ जन विचारें करें।

परोपकारी उदार परिणति की व्यापकता –

जिस प्रकार फलों के वृक्ष बिना भेद–भाव के सभी को फल देते हैं उसी प्रकार उदार महानुभाव सभी को उपकृत करते हैं। वर्णी जी अंतरंग से उदार प्रकृति के भद्र परिणामी थे जो अपनी वस्तु जरूरतमंदों को सहज ही दे देते थे। एक बार आप वाराणसी के लंगड़ा आम की टोकनी लेकर सागर आ रहे थे। गणेशगंज स्टेशन पर कुछ लड़कों को जूठी गुठली खाते देखा। आपका हृदय द्रवित हुआ। आपने सभी लड़कों को पंक्ति में खड़ा कर सब आम बाँट दिये और सारी घटना बाई जी को बता दी। एक बार आप वरायठा से सागर लौट रहे थे। रास्ते में एक गरीब हरिजन महिला ने पानी पिलाने को कहा। आप ने पानी पिला कर लोटा और धोती–दुपट्टा उस गरीब महिला को दे दिया और लंगोट पहिने सागर आ गये।

गया की घटना है। वर्णी जी एक मंदिर की नींव रखने के कार्यक्रम में जा रहे थे। रास्ते में वृद्ध भिखारी को कांपते देखा। आप रुक गये और अपना ओढ़ा खेस निकालकर आगे बढ़ गये। साथ में चल रहे पं. जगन्मोहनलाल जी ने कहा आप नग्न बदन हो गये। वर्णी जी ने कहा मुझ पर बहुत लोग दया कर देंगे पर ये बेचारा रातभर से १–१ पैसे के लिए ठंड से अकड़ गया है। इसी प्रकार सागर में आपने एक भिखारी को ठिठुरते देखा तो अपनी नयी रजाई लाकर उसे उड़ा दी। ऐसे परोपकारी उदारमना थे वर्णी जी। उनकी दया पशु–पक्षियों तक विस्तृत थी। आप अनुकम्पा और त्याग भाव के जीवन्त प्रतिमान थे।

सहृदय समाज सुधारक, समानता एवं एकता के प्रणेता –

बुन्देलखण्ड का जैन समाज अशिक्षा एवं रूढ़ियों से ग्रस्त रहा है। सामाजिक झगड़े भी बहुत हुए। वर्णी जी जहाँ भी जाते वहाँ समाज सुधार, शिक्षा प्रसार एवं विद्वेष दूर करने का प्रयास करते। आपकी सामाजिक नीति का सूत्र था–सर्व सम्मान, सद्भाव, सहयोग एवं सामाजिक एकता। आपके सदप्रयासों से अनेकों समाज बहिष्कृत महानुभावों को समान सामाजिक अधिकार मिले और मंदिर जाने का हक मिला। बड़ागांव (हरदी), जतारा, हलावनी, नीमटोरिया, शाहपुर और उसके निकटवर्ती ग्राम आदि अनेक स्थानों में आपने बहिष्कृत समाज के परिवारों का स्थितिकरण कराकर समाज का संरक्षण किया। सम्यक्त्व का वात्सल्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और प्रभावना अंग उनकी श्वासों से निःसृत होता था। वर्णीजी का कथन था कि 'अपनी संस्कृति को भूल जाने से या छोड़ देने से समाज भी एक दिन नष्ट हो जावेगा। समाज के संरक्षण हेतु एक बार आपने एक विशाल सभा में दस सूत्री प्रस्ताव भी पारित करवाया था। वर्णी जी के आचार–विचार ने यह प्रमाणित कर दिया की त्यागी/व्रती की उदारता वर्ग भेद विनाशक होती है। छद्म वेद में समाज–विग्रह दलबंदी एंव विद्वेष के बीज बोना समाज एवं संस्कृति को अहित कर हैं।

दृढ़ सिद्धान्त निष्ठ : पद नहीं सिद्धान्त श्रेष्ठ –

वर्णीजी आगम सिद्धान्तों के प्रति सदैव दृढ़ रहे और आगम विरुद्ध बात का विरोध कर बड़े से बड़ा खतरा भी मोल ले लेते थे। आप अनावश्यक विरोध करने से भी बचते थे। आचार्य शांतिसागर जी महाराज ने हरिजनों के जैन मंदिर प्रवेश बिल के प्रकरण को लेकर आजीवन अन्न त्याग दिया था। वर्णीजी हरिजनों के जैन मंदिर प्रवेश के पक्षपाती हैं, इस बात को लेकर 'जैनदर्शन' और 'जैन–मित्र' पत्रों ने बहुत विरोध किया। आचार्य श्री के निर्देशानुसार आपकी पीछी–कमण्डलु और क्षुल्लक पद को छीनने की धमकी भी दी गयी। वर्णी जी इस धमकी से रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए। आपने कहा यह तो बाह्य चिन्ह है जिनका काम अन्य उपकरणों से भी हो जायेगा। आचार्य श्री ने पुस्तक छीनने का उपदेश नहीं दिया जो ज्ञान का उपकरण है। यह आत्मा की उन्नति में सहायक है उस पर आपका अधिकार नहीं। जैन दर्शन की महिमा तो वही आत्मा जानता है जो अपनी आत्मा को कषाय भावों से रक्षित रखता है। इस प्रकार वर्णी जी अंत तक अपने दृष्टिकोण पर दृढ़ रहे और आचार्य श्री की घुड़की में नहीं आये। आपके अनुसार अस्पृश्यता जन्मगत नहीं होती। अस्पृश्य शूद्र भी सम्यग्दर्शन और व्रतों का पात्र है। इस सम्बन्ध में आपके विचार 'मेरी जीवन गाथा भाग–२, पृष्ठ १२७–१३१ एवं १७८–१८६, पठनीय और मननीय है।

आपके जीवन में ऐसी ही आचार्य श्री शांतिसागर महाराज के विरोध की एक घटना और घटी, जो दिशाबोधक है साथ ही आपकी दृढ़ता का परिचायक भी है। आचार्यश्री गजपंथा में जीवस्थान सत्प्ररूपणा के ६३ वें सूत्र से ताड़पत्रीय मूल प्रति में उपलब्ध 'सजद' पद के निष्कासन की घोषणा की थी। सागर में आयोजित विद्वत्परिषद की कार्यकारिणी ने विद्वत्सम्मेलन के पूर्व–निर्णय को दुहरांते हुए यह घोषित किया कि जिसे पद्यति से 'संजद' पद का निष्कासन किया गया उससे वह असहमत हैं। बैठक समाप्ति के बाद भी वर्णी जी के मन में यह विकल्प चलता रहा कि क्या न अच्छा होता यदि पांच निष्णात विद्वान निरापद स्थान पर बैठकर जैन धर्म के मार्मिक सिद्धान्त को जनता के समक्ष निर्भीक होकर निर्णय हेतु प्रस्थापित करते। आपके अनुसार सबसे मुख्य तत्त्व आत्मा का अस्तित्व है इसके उत्तर में अनात्मीय पदार्थों पर विचार किया जाये (संदर्भ वही, पुष्ठ १८६–१९१)। प्रसन्नता की बात है कि आचार्य श्री ने सिद्धान्त–निर्णय एवं परीक्षा की इस पद्धति पर अपनी मूक सहमति व्यक्त की और उसे किसी भी रूप में अपने प्रभाव–दर्पभरी प्रतिष्ठा का विषय नहीं बनाया। इससे आचार्य श्री की गरिमा द्विगुणित हो गयी। यह प्रकरण आज भी त्यागियों, विद्वानों और समाज के लिए दिशा बोधक हैं।

विद्वत्परिषद् की स्थापना–विद्वानों के प्रति बहुमान –

युगदृष्टा वर्णी जी ने जीवन पर्यन्त ज्ञानाराधना की। ज्ञान के मंदिर खुलवाये और बिना जाति वर्ग–भेद के सभी विद्वानों को प्रोत्साहन, सम्मान और सहायता की। आप सभी के पितृ–पुरुष थे। अध्ययन काल और उसके बाद गृहस्थ जीवन में जब भी किसी पर कोई संकट आया, बिना याचना के, वर्णी जी ने उसका सम्मानजनक निराकरण करवाया। आप की इस विशाल हृदयता एवं उदारता के कारण समाज, श्रेष्ठीजन, विद्वान और त्यागीजन सभी आपको सम्मान से देखते थे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन सिद्धान्त एवं संस्कृति के संरक्षण, शिक्षण, प्रचार आदि के उद्धेश्य से वर्णी जी की प्रेरणा और मार्गदर्शन में कलकत्ता में वीर शासन जयंति के दिन दि. २/११/१९४४ को श्री अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद की स्थापना हुई। इसका प्रथम अधिवेशन श्री पं. जगन्मोहनलाल जी की अध्यक्षता में सन् १९४५ में कटनी में वर्णी जी के सान्निध्य में हुआ। जैन विद्वानों के समागम पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए वर्णीजी ने निम्न उद्‌गार व्यक्त किये –

'मुझे तो पण्डितों के समागम से बहुत ही शांति मिली और इतना विपुल हर्ष हुआ कि उसकी सीमा नहीं। जिस प्रान्त में सूत्रपाठ के लिए दस या बीस ग्राम में कोई एक व्यक्ति मिलता था, वह भी शुद्ध पाठ करने वाला नहीं मिलता था। आज उन्हीं ग्रामों में राजवार्तिक आदि ग्रन्थों के विद्वान पाये जाते हैं। जहाँ गुण स्थानों के नाम जानने वाले कठिनता से मिलते थे, आज वहाँ जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड के ज्ञाता विपुल संख्या में पाये जाते हैं।'

वर्णी जी के मार्गदर्शन में विद्वत्परिषद ने बहुमुखी सफलताएँ अर्जित की और समाज तथा त्यागियों में सम्मान पाया। इन विद्वानों ने अति कठिन और विपरीत परिस्थितियों में प्राचीन विशाल जैन सिद्धान्त ग्रंथों का सम्पादन, टीका और अनुवाद तथा नवीन सृजन द्वारा जैन साहित्य में अपूर्व वृद्धि की, जिसके लिये समाज उनका चिर ऋणी रहेगी। काल चक्र के प्रवाह में दुर्भाग्य से, वर्तमान में इस स्थिति में बदलाव आया है, तो चिन्ता का विषय है। कतिपय त्यागी/वृतियों के मन में विद्वानों के प्रति सहज सम्मान नहीं रहा। आगामिग–सिद्धान्त विद्वानों के स्थान पर लौकिक उपाधिधारी विद्वानों की प्रचुरता से विद्वत्परिषद् के उद्धेश्यों के प्रति समर्पण और निष्ठा पद–पिपासा में बदल गयी है। वर्णी जी के युग की प्रतीक्षा काल–चक्र व्यग्रता पूर्वक कर रहा है। विश्वास है कि कथित समाज–सत्ता के केन्द्र समय की नब्ज पहिचान कर इस चुनौती को स्वीकार करेंगे।

वर्णी जी के प्रतीक से समाज में प्रतिष्ठा पाने वाली विद्वत्परिषद् ने दि. ५/१०/१९७४, आश्विन कृष्णा ४ वि. सं. २०३१ को विशाल जनसमूह एवं विद्वत वर्ग के मध्य वर्णी जी का जन्म–शताब्दी समारोह अखिल भारतीय स्तर पर मनाया और अपने विनम्र श्रद्धा सुमन उस प्रशांत मूर्ति को समर्पित किये। इस अवसर पर वणा जी के संस्मरणों का 'श्री ग़णेशप्रसाद वर्णी स्मृति ग्रन्थ' भी प्रकाशित किया। यह सुखद आश्चर्य था कि भगवान महावीर का २५०० वाँ निर्वाण महोत्सव वर्ष और आपका जन्म शताब्दी समारोह सहज एक हो गया।

राष्ट्रभक्ति के प्रेरणास्रोत –

वर्णी जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। राष्ट्रप्रेम से आप भरपूर थे। जबलपुर में पं. द्वारिकाप्रसाद मिश्र की अध्यक्षता में आजाद हिन्द फौज की सहायतार्थ एक सभा का आयोजन था। इसमें वर्णी जी भी उपस्थित थे। वर्णी जी ने अपने सम्बोधन में कहा 'हे भगवान, देश का संकट टालो! जिन लोगों ने देश–हित के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर किया, उनके प्राण संकट से बचाओ।' यह कहकर आपने एक चादर मुकद्दमे की पैरवी हेतु दे दी और विश्वास व्यक्त किया कि ये सैनिक अवश्य ही कारागार से मुक्त होंगे। आपकी चादर तीन हजार रुपयों में नीलाम हुई। आपकी देश भक्ति से पं. मिश्र बहुत प्रसन्न हुए। अंत में आपका आशीर्वाद फलीभूत सिद्ध हुआ। वर्णी जी वर्ण–भेद की घृणा से परे थे और अस्पृश्यों के प्रति उच्च, उदार विचार रखते थे। एक बार कलकत्ता प्रवास में आप एक हरिजन द्वारा बनाई गयी धर्मशाला में ठहर गये। उन्होंने कहा कि इससे लोक–मर्यादा नष्ट नहीं होती। धार्मिकपने की ऊंचाईयाँ वर्णी जी के जीवन में परखी जा सकती हैं।

वर्णी हीरक जयंती और फिरोजाबाद के त्यागी व्रती सम्मेलन की समीचीनता –

अर्द्धशताब्दि पूर्व सम्वत् २००७ (सन् १९५०) में सेठ श्री छदामीलाल जी ने फिरोजाबाद में एक विशाल ऐतिहासिक महोत्सव आयोजित किया जिसका उद्‌घाटन उ.प्र. के मुख्यमंत्री श्री गोविन्द बल्लभ पंत ने किया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

था। इस महोत्सव में श्री सेठ राजकुमार सिंह जी की अध्यक्षता में जैन संघ मथुरा का अधिवेशन हुआ। काका श्री कालेलकर श्री अध्यक्षता में वर्णी जी का हीरक जयन्ती महोत्सव मनाया गया और वर्णी अभिनन्दन ग्रंथ का लोकार्पण हुआ। वहाँ आचार्य सूरसागरजी ससंघ विराजमान थे साथ में ७०–७५ व्रति/त्यागी थे। आचार्य श्री ने अपार जनसमूह के बीच वर्णी जी का प्रवचन कराया। वर्णी जी ने समयसार के बन्धाधिकार की 'रत्तो बंधदि कम्मं मंचदि' गाथा पर मार्मिक प्रवचन किया। उन्होंने कहा '........इस पद्यति से जिसने सर्व अज्ञान भावों का वमन कर दिया तथा सर्व पदार्थों के अवलम्बन को त्याग दिया, केवल टंकोत्कीण एक ज्ञायक भाव का अनुभव करता है उसे बंध नहीं होता।' (मेरी जीवन गाथा, भाग–२, पृष्ठ २२८)। वर्णी जी के प्रवचन के बाद आचार्य सूरसागर जी का प्रवचन हुआ। आपने कहा "अनन्तज्ञान का धनी जीव अज्ञानी होकर ज्ञान की खोज में इधर–उधर भटक रहा है।.........यदि अपनी ओर देख लो तो उसका कल्याण हो जाये (वही पृष्ठ २२६)" इस महान सम्मेलन में वर्णी जी का महाराजश्री द्वारा प्रवचन करवाना उनके गुणों और ज्ञान/विद्वत्ता की प्रतिष्ठा का सूचक है। ऐसे गुणग्राही व्यक्तित्व दुर्लभ हैं।

आचार्यश्री सूरसागर जी की अध्यक्षता में माघ शुक्ला ग्यारस सम्वत् २००७ को विशाल व्रती सम्मेलन हुआ जिसमें अनेक विवाद ग्रस्त विषयों पर गहन चर्चा कर महत्वपूर्ण निष्कर्ष स्वीकार किये। यह आज भी उतने ही उपयोगी और दिशाबोधक हैं। संक्षेप सार इसप्रकार है –

त्रिवर्ण वाले व्यक्ति से विधिपूर्वक आहार बनाये जाने पर व्रती आहार ग्रहण कर सकता है। नवधाभक्ति के पात्र मुनि हैं, क्षुल्लक नहीं। कार्य की सिद्धि में अनेकान्त दृष्टि से निमित्त और उपादान दोनों आवश्यक हैं.......कथन कहीं–कहीं निमित्त या उपादान प्रधान हो सकते हैं किन्तु सर्वथा उपेक्षा न हो। व्रत लेना अपराध नहीं है परन्तु व्रत भंग अपराध है। सातवीं प्रतिमा तक न्यायपूर्वक व्यापार करने की छूट है अतः पहली–दूसरी प्रतिमाधारी समाजाश्रित न हो। ग्रह भोजन १०वीं, ११ वीं प्रतिमा से शुरू होता है। त्यागियों को संस्थावाद में नहीं पड़ना चाहिये, यह काम गृहस्थों का है। त्यागी लोकेषणा से बचें। त्यागियों को ज्ञान का अभ्यास करना चाहिये। कई त्यागियों को सम्यग्दर्शन के लक्षण आठ मूल गुणों के नाम भी नहीं आते अतः त्यागियों को क्रम पूर्वक अध्ययन करने का अभ्यास करना चाहिये। ऊटपटांग क्रियाएँ बताकर भोली–भाली जनता में अपनी प्रतिष्ठा न बनाऐं। व्रतियों का बिना गुरु की आज्ञा के स्वच्छंद विचरण ठीक नहीं है। मुनि किसी पंथवाद, समाज बहिष्कार, ग्रन्थ प्रकाशन, ग्रन्थ माला के संचालन, धन संग्रह, मोटन वाहन, कीमती पटे–चटाई–छोलदारी आदि के परिग्रह में न पड़े और त्यागी ब्रह्मचारीजनों के आश्रयदाता न बनें। चारित्र और कषाय का सम्बन्ध प्रकाश और अंधकार जैसा है। वाजे–बाजे व्रतियों की कषाय गृहस्थों से कहीं अधिक निकलती है। त्यागी चारित्र धारण कर अपनी प्रवृत्ति निर्मल बनाएं। अंत में, क्षुल्लक वाहन का उपयोग न करें। व्रती सम्मेलन के निष्कर्ष जीवनगाथा, भाग–२, पृष्ठ २३०–२३५ में मूलतः पठनीय है। यहाँ विस्तारभय से संक्षेप में लिखे हैं।

समयसार–अध्येताओं का अपूर्व मिलन –

प्रकृति का संयोग अद्भुत था, दो हजार मील की दूरी पर भारत के दो ध्रुवों पर विराजमान दो निर्मल आत्माऐं आत्मविज्ञान के अमर काव्य समयसार समय को अनुभूत कर अपनी आभा से जगत के जीवों को वीतरागी होने का मार्ग प्रकाशित कर रहीं थीं। पूर्व में ईसरी में विराजे थे वर्णी गणेश प्रसाद और पश्चिम में सोनगढ़ में विराजे थे। कानजी स्वामी। इन दोनों की पृष्ठभूमि, वातावरण, संस्कार, शैली आदि असमान थी किन्तु समानता थी शुद्धात्मा के वस्तुस्वरूप की दृष्टि की, जिसने कारण दोनों में सद्भव था और अपने–अपने समर्थकों के पत्राचार के माध्यम से वस्तुस्वरूप की गहराइयों को परखने, समझने हेतु सम्पर्क था। इस पत्राचार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का प्रकाशन 'वर्णी अध्यात्म पत्रावली' के के नाम सम्वत् १६६७ में कलकत्ता से हुआ। इस पत्रावली को सोनगढ़ में सम्मान पूर्वक शास्त्र भण्डार में रखा गया। पत्रावली में वर्णी जी ने अध्यात्म रस के साथ ही राग–द्वेष की निवृत्ति की प्रेरणा दी।

समयसार के दो अध्येताओं और उनके समर्थकों को दि. ६/३/५७ (वि. सं. २०१३) का दिवस मंगलमय, सिद्ध हुआ जब कानजी स्वामी अपने समर्थकों सहित ईसरी में वर्णी गणेश प्रसाद जी से मिले और तत्त्व चर्चा की। इस पावन प्रसंग के आह्लादकारी क्षणों को इन दोनों विभूतियों के साथ उनके सहयोगी विद्वानों, श्रीमंतों और विशाल संघ के यात्रियों ने भी अनुभव किया। पश्चात् कानजी स्वामी संघ सहित मधुवन चले गये जहाँ बीसपंथी कोठी के विशाल पंडाल में उनका प्रवचन हुआ।

दि. ७/३/५७ को सर्वश्री पं. फूलचन्द जी, पं. खुशालचन्द जीं, पं. पन्नालाल जी एवं पं. दया चन्द जी, श्री गणेश दि. जैन संस्कृत विद्यालय सागर का स्वर्ण जयंती समारोह श्री कानजी स्वामी के सान्निध्य में मनाने की अनुमति लेने हेतु उनसे मिले और पूज्य वर्णी ज़ी के भावों को उदधृत करते हुए कहा 'उनकी प्रसन्न मुद्रा मुझे बहुत पसंद आती है। ओर मुझे ऐसा लगा कि इस आत्मा द्वारा समाज का बहुत कल्याण होगा।' (मंगलतीर्थ यात्रा, पृष्ठ ३१६ वि. सं. २०१६) एक भद्र परिणामी का दूसरे भद्र परिणामी के प्रति यह भाव सहज था।

कानजी स्वामी उदासीन ब्रह्मचारी थे और वर्णी जी क्षुल्लक अवस्था में उच्च पदासीन थे। फिर भी आप मधुवन गये और जितने दिन कानजी स्वामी वहाँ रहे, प्रायः वर्णीजी से मिलते रहे। वर्णी जी ने आपके प्रवचन भी सुने और सराहे। आपके प्रवचन प्रायः निश्चय धर्म की मुख्यता लेकर होते थे। निश्चय शैली के कथनों से व्यवहार धर्म की उपेक्षा न हो जाये अतः विद्वान जन कानजी स्वामी से चर्चा करना चाहते थे पर कार्यक्रमों की बहुलता के कारण मधुवन में अवसर नहीं मिल सका। वर्णी जी का आत्मविश्वास था कि यदि उनके मध्य चर्चा हो जाती तो कथन शैली का भेद और उससे जुड़ा विरोध भी समाप्त हो जाता। वर्णी जी ने कानजी स्वामी द्वारा श्री कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थों का अवलोकन कर अपने हजारों अनुयायियों सहित स्थानकवासी श्वेताम्बर धर्म छोड़कर दिगम्बर धर्मधारण करने तथा उनकी प्रेरणा से सोनगढ़ एवं अन्य स्थानों पर दिगम्बर जैन मंदिरों के निर्माण का उल्लेख अपनी जीवन गाथा, भाग–२, पृष्ठ ४७६–४८१ में किया है।

महामहिम राष्ट्रपति जी का वर्णी जी से समागम –

इतिहास साक्षी है कि साधु–सन्तों के आत्म वैभव के समक्ष राजसत्ता सहज नतमस्तक हुई है। साधु–सन्तों ने राजसत्ता का विरोध नहीं किया, फिर भी अपने सकारात्मक कार्यों से राज्य नीति एवं लोकनीति को कल्याणकारी बनाने में योगदान दिया है। परतन्त्रता के कालमें वर्णी जी कभी राज्यसत्ता या लोकनीति के कोपभाजन नहीं बने वरन् अपने कल्याणकारी मिशन में सहानुभूति अर्जित की। दूसरी ओर स्वतंत्रता के काल में प्रथम राष्ट्रपतिमहामहिम डॉ. राजेन्द्रप्रसाद जैसी विभूतियों के श्रद्धा भाजन बने और उन्होंने आपके सान्निध्य सुख का लाभ लिया। अप्रेल १६५५ के अंतिम सप्ताह में राष्ट्रपति जी विहार राज्य के ग्राम पंचायत के चतुर्थ सम्मेलन के उदघाटन हेतु ईसरी पधारे थे। दमा के कारण आप रेलवे–सैलून में चले गये थे। उनका वर्णी जी से मिलने का भाव था। उनके निजी सचिव ने वर्णीजी से उनके मिलने का भाव व्यक्त किया। वर्णीजी तुरंत सैलून गये। राष्ट्रपति जी ने जूते उतार कर वर्णी जी के चरण छुए और आदरपूर्वक उच्चासन पर बिठाया। दोनोंके बीच एक घण्टा चर्चा हुई। वर्णी जी ने विहार में मद्य–पान निषेघ लागू करने की प्रेरणा दी। राष्ट्रपति जी ने भारत में नशा बंदी करने का भाव व्यक्त किया। वर्णी जी जा जनहित मनोरथ पूर्ण हुआ।

स्याद्वाद महाविद्यालय का स्वर्णजयंती समारोह और साहूजी का सम्मान –

वर्णी जी का प्रभाव बहुत व्यापक था। आप जहाँ भी रहते, बर्षावास करते वहाँ उत्सव एवं सम्मेलन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्पन्न होते। समाज श्रेष्ठी सुप्रसिद्ध उद्योगपति साहू श्री शांतिप्रसाद जी एवं अन्य श्रीमंत महानुभाव भी वर्णी जी के अनन्य भक्त थे। वे वर्णी जी के साथ रहकर धर्म लाभ लेते थे। जब भी जिस संस्था, विद्वान या व्यक्ति को सहायता की जरूरत होती वर्णी जी उसका संकेत श्री साहू जी को कर देते थे। साहू जी कृतज्ञभाव से वर्णी जी का आदेश मान लेते थे। मधुवन में माघवदी १४, सम्वत २०१२ को साहूजी की अध्यक्षता में स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी का स्वर्ण जयंती समारोह मनाया गया । सभी ने हृदय खोलकर दान दिया। इस विद्यालय से सैकड़ों विद्वान पढ़कर धर्म/समाज की सेवा में लगे हैं। इस समारोह के तीसरे दिन वर्णी जी के सान्निध्य में विशाल समूह के मध्य साहू श्री शांतिप्रसाद जी को 'श्रावक शिरोमणि' की उपाधि से विभूषित किया। साहू जी ने अपने भाषण में वर्णी जी और समाज की कृतज्ञता ज्ञापित कर अपनी नम्र-निरहंकारता व्यक्त की। वर्णी जी की दृष्टि में साहू जी प्रकृति से भद्र और उदारचेता पुरुष थे। साहू जी सागर विद्यालय की जयन्ती में सम्मिलित नहीं हो पाये थे, अतः बाद में जब आप वर्णी जी से मिले तो पूछा कि क्या आज्ञा है। किसी ने कह दिया कि विद्यालय को पाँच हजार रुपए का वार्षिक घाटा है। साहू जी ने सुनकर कहा कि हम सदा के लिए इसकी पूर्ति करेंगे। इसी प्रकार बनारस विद्यालय के भवन गिरने की बात आयी तो साहू जी ने कहा कि हम सन्मति निकेतन में दूसरा भवन बनवा देंगे। ऐसे थे औघड़ दान दाता साहूजी।

दो संतो का आह्लादकारी मिलन –

निर्मल परिणति एवं सज्जनता की सुगंध स्वतः सर्वत्र फैलती है। उसे कृत्रिम प्रयासों से फैलाना (प्रोजेक्ट) नहीं करना पड़ता। संत विनोबा भावे भूदान यज्ञ प्रगता और तत्व मर्मज्ञ थे। आपको गीता वेद और जैनधर्म का अच्छा अध्ययन था। जैन-सिद्धान्तों के प्रति आपको आदर भाव था। आपने दि. १५/११/८२, दीपावली के दिन सल्लेखना पूर्वक देह विसर्जित की।

विनोबा जी के मन में वर्णी जी के प्रति बहुत आदर भाव और बहुमान था। वे आपको गुरुवत मानते थे। दोनों में सहज स्नेह था। विनोबा जी वर्णी जी से दो बार मिले। प्रथम मिलन दि. ८/१०/५१ को ललितपुर में भूदान-यज्ञ की आम सभा में हुआ। वर्णी जी जैसे ही सभा स्थल पर पहुँचे विनोबा जी ने झुककर अपना आदर भाव व्यक्त किया। इस मिलन से सभी गदगद हो उठे और जय-जयकार करने लगे। दूसरा मिलन दि. ४/८/५३ को गया में हुआ। विनोबा जी प्रातः वर्णी जी के दर्शन हेतु पधारे और १५ मिनट तक भेंट वार्ता की। मिलन के समय विनोबा जी का आदर भाव रोमांचक था। वर्णी जी ने आपके भूदान यज्ञ के प्रयासों को जनोपयोगी बताया। विनोबा जी ने वर्णी जी के कृतित्व एवं प्रभाव को रेखांकित करते हुए अपने संस्मरणों में लिखा है – "वर्णी जी स्वयं जैन नहीं थे पर जैन होकर जैन समाज का ही हित नहीं किया जैनेतरों का भी हित किया है।" वर्णी जी के बारे में विनोबा भावे की यह टिप्पणी वर्णी जी के व्यापक प्रभाव एवं सर्वमान्यता को व्यक्त करती है। यह उल्लेखनीय है कि दि. ११/६/५३ को गया में आयोजित विनोबा भावे जयन्ती उत्सव में आपने भूदान के समर्थन में अत्यंत प्रभावोत्पादक भाषण दिया और सन्त विनोबा के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा व्यक्त की। दो संतों के कार्य क्षेत्र अलग-अलग किन्तु परमार्थ की विचार धारा एक। सन्त मैत्री शाश्वत होती है, जबकि संसारिक मैत्री स्वार्थ सीमा तक होती है। फिर विद्वेष में बदल जाती है।

कुशल तत्व मर्मज्ञ, प्रभावी लेखक और प्रवचनसार –

संत विनोबा भावे के अनुसार "जैनधर्म बुद्धिवादी है। जैनों ने इतना साहित्य लिख कि शायद ही इतनी छोटी जमात इतना साहित्य लिख सके। प्रत्येक शाखा में हजारों ग्रंथों की रचना की। बहुत सी सारी भाषाओं में जैनाचार्यों ने ग्रंथ रचना की। वर्णी जी जैन धर्म की ज्ञान-विज्ञान परक दृष्टि पर ही वीझे-भीजे थे। आपका सारा जीवन और शक्ति ज्ञानार्जन, ज्ञान के प्रसार-प्रचार और ज्ञानानु भूति को समर्पित रही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आप कर्म और शरीर से भिन्न ज्ञायक स्वरूप के आराधक रहे। जीवन को प्रभावित करने वाली घटनाओं एवं मतभेद जन्य परिस्थितियों में आपके सहज चिंतन का आधार शाश्वत आत्म स्वरूप ही रहा। आपको व्यक्ति नहीं, वस्तु स्वरूप प्रिय रहा। आप जो सोचते, जीवन में उसे क्रियान्वित करते। यही उनके प्रभाव की कुंजी थी। आपकी दृष्टि गुणग्राही थी। आप कहते थे 'पदार्थ का ज्ञान होना अन्य बात है' और उस पदार्थ रूप हो जानना अन्य बात है।' इस वाक्य में आपका गूढ़चिन्तन छिपा है। इसी प्रकार आपने कहा 'दर्शन-ज्ञान का काम देखना-जानना है। इसके अतिरिक्त मानना आत्मा को ठगना है। आत्मा तो ज्ञाता-दृष्टा है।' आपके चिंतन की दिशा सदैव आत्मोन्मुखी रही।

वर्णी जी कुशल लेखक और टीकाकार थे। आपकी भाषा सहज, सरल और हृदयग्राही है। आपने समयसार की प्रथम हिन्दी टीका लिखी। आप कुशल जीवन गाथा लेखक माने गये हैं। आपकी जीवन गाथा चार भागों में प्रकाशित हुई। यह मानव व्यवहार का बहुमूल्य दस्तावेज है। इसमें आपके अंगरंग और बहिरंग कार्य-व्यवहार के साथ ही समाज और सामाजिक संस्थाओं का व्यवहार का सजीव वर्णन मिलता है। इसमें उन सभी घटनाओं का वर्णन है जिनसे वर्णी जी प्रभावित हुए। इसमें वर्णी जी का गुणग्राहकता का भी परिचय मिलता है। आपने उनके एवं समाज के जीवन को प्रभावित करने वाले व्यक्तित्वों का प्रशंसापूर्वक उल्लेख किया है। साथ ही दोहरे जीवन जीने वाले महानुभावों के प्रति उदासीनता दर्शायी भले ही आप के कितने ही निकट रहे हों। वस्तुतः आप व्यक्तिगत जीवन की शुचिता/ आशुचिता का लोक जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों से भलीभांति परिचित थे। अपने इस गुण के कारण वर्णी जी पर-प्रहार से मुक्त रहे। इतना ही नहीं किसी वर्ग के प्रभाव में आकर आपने कथन-विरोध को समाज के विभाजन के रूप में नहीं देखा।

डोंगरगढ़ के स्व. सेठ भागचन्द जैन एवं उनकी धर्मपत्नी स्व. श्रीमती नर्मदाबाई वर्णीजी के भक्त थे। श्री पं. फूलचन्द जी की प्रेरणा से स्व. श्रीमती नर्मदाबाई ने अपने पति स्व. भागचन्द जी की स्मृति में लाखों रुपया व्यय कर वाराणसी में श्री गणेश वर्णी जी जैन संस्थान भवन का निर्माण कराया।

वर्णी साहित्य में वर्णी पत्रावली, आध्यात्मिक पत्रावली (तीनभाग), वर्णी प्रवचन, सुबोध पत्रावली, वर्णीवाणी (सातभाग), जीवन यात्रा, वर्णी जी और उनका दिव्यदान, वर्णीदर्शन, सुख की झलक (पंद्रह भाग) आदि हैं। वर्णी साहित्य के सम्पादन में सर्व श्री पं. पन्नालाल जी सागर, नरेन्द्र विद्यार्थी छतरपुर एवं कपूरचन्द जी वरैया लश्कर की श्रम साधना सराहनीय है। वर्णी जी के नाम से श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैनग्रन्थ माला, काशी और श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी स्थापित की गयी। इन संस्थाओं ने वर्णी साहित्य के साथ अप्रकाशित जैन साहित्य के प्रकाशन में बहुमूल्य योगदान दिया। वर्णी साहित्य जैन दर्शन और समाज का दर्पण है जो जैन-जैनेत्तर कुलोत्पन्न व्रति/त्यागियों एवं समाज के सभी महानुभावों के लिये आत्मकल्याण परक एवं दिशाबोधक हैं बशर्ते कि वस्तुस्वरूप के ज्ञान की भावना से, पक्ष या मोह छोड़कर ग्रहण किया जाये। निर्मल अनाग्रही दृष्टि ही सुफलकारक होती है।

वर्णी जी प्रभावोत्कारक कुशल प्रवचनकार थे। आपके प्रवचन सहज बोलचाल की भाषा में होते थे। गूढ़ और जटिल बात को भी आप छोटे-छोटे उदाहरण देकर समझा देते थे। आपकी दृष्टि सदैव समयसार प्रसूत शुद्धात्मा की ओर अध्यात्म परक रही, यद्यपि आपने व्यवहार धर्म की यथोचित उपादेयता भी प्रतिपादित की। उनके प्रवचन का सार है -

'कल्याण मार्ग केवल आत्मतत्त्व के यथार्थ भेद-विज्ञान में है। भेद-विज्ञान के बल से ही आत्मा स्वतंत्र होती है, पूर्ण स्वतंत्रता ही मोक्ष है।'

महाप्रयाण : अंतिम संदेश 'अपने बनो' -

मृत्यु जीवन की अनिवार्यता है। वर्णी जी के जीवन के ८७ वर्ष पूर्ण होने को थे। किन्तु आपको ऐसा अहसास होने लगा कि अब शरीर और अधिक साथ नहीं देगा। अतः आपने ईसरी में भ. पार्श्वनाथ का स्मरण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर स्वेच्छा से आगमानुसार अंतरमन में सल्लेखना धारण कर ली। प्रथम अन्न त्याग और फिर दि. १/६/६१ से रस का त्याग। जो जिसका था उसे समर्पित करने के अंतिम प्रयास में दि. ५/६/६१ से जल का त्याग कर आपने दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली और समता भाव से पूर्ण जागरुकता पूर्वक भाद्रपद कृष्णा ग्यारस वि. सं. २०१८ (दि. ६/६/६१) की रात्रि १ बजकर २० मिनिट पर नश्वर देह त्याग कर स्वर्गस्थ हो गये। अपनी अनेकों प्रेरकों एवं सुखद स्मृतियों को छोड़ ज्ञान की महत्ता, आत्मा की स्वतंत्रता और जीवन की पवित्रता का प्रकाशक जीवन–दीप बुझ गया। आपका अंतिम लिखित संदेश था। 'अपने बनो'।

वर्णी जी के वियोग का समाचार पूरे भारत में प्रकाश गति से फैल गया। सभी की आखें नम हो गयी। भारत के प्रथम नागरिक से लेकर संत, त्यागी, ग्रहस्थ, अमीर–गरीब सभी ने विनम्र भाव से नतमस्तक हो अपनी भाव भीनी श्रृद्धांजली उस महान आत्मा को समर्पित की जिसने सभी को दिया ही दिया; बदले में कुछ भी नहीं लिया। एक निश्छल निर्मल ज्योति अपने में पूर्णतः समर्पित होने हेतु अनंत में विलीन हो गयी, छोड़ गयी अपनी अमिट छाप उन पर जो आत्म–स्वभाव के चितेरे थे और कषायों से अपने को मुक्त करना चाहते थे, उनके वे हो गये, जिन्होंने अंतरंग भाव से ग्रहण किया। भटके वो जो स्वार्थ में उनसे अपने को जोड़े थे। शत–शत नमन उस आत्मविभूति को।

वर्णी जी का जीवन संदेश –

तत्त्व अभ्यास सहित अंतरंग निर्मल परिणति के बिना बाह्यवेष नट जैसा -

वर्णी जी जैसा स्पष्टवादी मिलना दुर्लभ है। आपने अपने अनुभव भरे मनोभावों एवं आंतरिक प्रतिक्रियाओं का वर्णन वर्णीवाणी भाग ३, पृष्ठ २६५–२६८ में लिखा है जो आत्मार्थी के लिए दीप स्तम्भ जैसा है। इसमें आपने ईमानभरी प्रमाणिक प्रतिक्रिया निःसंकोच व्यक्त की जो आत्मकथा का अद्‌भुत नमूना है। शांति की खोज में आपने जैन धर्म अपनाया था। जैन–धर्म अंगीकार कर जैनाचार रूप पूजा–पाठ किया।, व्रत किये, रसों का त्याग किया, रात्रि भोजन त्यागा और अपने को धर्मात्मा समझने लगे। विद्वानों एवं सत्पुरुषों का समागम हुआ, तत्व अभ्यास किया, व्याख्यान सुने, व्यवहार धर्म की प्रवृत्ति हुई, तीर्थयात्रा आदि सब कुछ किया किन्तु शांति का आस्वाद नहीं हुआ। फिर समाजोद्धार किया, विद्या प्रसार का काम किया और बाई जी से प्राप्त धन को परोपकार में लगाया। सप्तम प्रतिमा का व्रत लिया, उपवास आदि किये, रेल सवारी त्यागी (बस की सवारी पहले ही त्याग दी थी), शिखर जी की बंदनाऐं कीं, स्वाध्याय किया किन्तु अणुमात्र भी शांति नहीं मिली। फिर दशमी प्रतिमा धारण कीं और कुछ समय बाद क्षुल्लक (वि.सं. २००५) बन गये और नट की तरह उसका भी पाँच वर्ष तक अर्थात् वि. सं. २०१० तक स्वांग किया किन्तु लेश मात्र भी शांति नहीं मिली। मिथ्यावेष एवं व्रतों के त्याग का भाव आया परन्तु लोकेषणा एवं लोकभय से उनका त्याग भी सम्भव नहीं हुआ। अनिच्छापूर्वक व्रत पाले। अंतरंग कषाय के सद्‌भाव में बाह्य आचरण व्रतानुकूल न होने से दम्भ ही है जो दुर्गति का कारण होता है। तब भाव आया कि फिर क्या करें ?

वर्णी जी के अनुसार जिन्हें आत्म कल्याण की लालसा है वे सभी विकल्प त्यागकर अहर्निश आगमाभ्यास/तत्त्व अभ्यास करें और उससें अनादि काल की जो पर पदार्थों में आत्मीय वासना है, उसका त्याग करें। ज्ञानार्जन का उद्देश्य आत्म लाभ हो अन्यथा वह परिग्रह जैसा है तत्त्व अभ्यास से अपने स्वरूप का निर्णय करें। पुण्य–पाप आदि का स्वरूप जानें वर्तमान विषय सुख के अलावा अन्य कोई सुख है इसका निर्णय कर अपनी प्रवृति को निर्मल करने की चेष्टा करें। यदि परिणति निर्मल नहीं हुई तब परमात्मा की कितनी ही उपासना करें। कुछ भी शांति के आस्वाद के पात्र न होंगे। (श्री गणेशप्रसाद वर्णी स्मृति ग्रंथ, तृतीय खण्ड, पृष्ठ १०७–११३) वर्णी जी के बहुआयामी आध्यात्मिक अनुभव से भव्यजन लाभान्वित होंगे, ऐसी भावना है।

● **अमलाई (म. प्र.)**

❑❑❑

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद श्री क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी

"यः पूजातिशयाभिमण्डित वपुः सत्कीर्ति धर्मोज्वलः,
सच्चक्राम्बुजमोदकः सुमनासां प्रज्ञासुधामोददः।
सोऽयं जैनवृषैक रक्षणकृती जीयाद् वृषं पालयन्,
श्रीविद्वद्वरपूज्यवर्यशुभगो वर्णी गणेशः सुधी"

डा. नरेन्द्र विद्यार्थी

परमपूज्य श्री वर्णी जी का जन्म आश्विन कृष्णा ४ वि. सं. १६३१ में हंसेरा ग्राम (झाँसी) में हुआ था। इनके पूज्य पिता हीरालाल जी के इस वेश कीमती हीरा ने वैष्णव कुल में जन्म लेकर विश्व में धर्म का दिव्य प्रकाश फैला दिया। इनकी ५ वर्ष की अवस्था में इनके पिता श्री सपरिवार मड़ावरा में आकर रहने लगे। १६३८ में अपने विद्यागुरु श्री मूलचन्द जी से प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की। १० वर्ष की अवस्था में दि. जैन मन्दिर के चबूतरे पर होने वाले शास्त्र प्रवचन को ध्यानपूर्वक सुनकर रात्रि भोजन त्याग की स्वयं प्रतिज्ञा धारण की। तदनन्तर जैनधर्म धारण किया। १२ वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न हुआ। सं. १६४६ में हिन्दी मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की। "यमस्य करूणा नास्ति" सूक्ति अनुसार आपके दो भाइयों का आकास्मिक निधन हो गया, गृहस्थ जीवन का दायित्व पालन करने के कारण अध्ययन बंद हो गया। सं. १६४६ में आपका पाणिग्रहण संस्कार हुआ। इसी बीच आपके पिता श्री स्वर्गस्थ हो गये। इसी कारण अध्यापन का कार्य करके आपको आजीविका निर्वाह करनी पड़ी।

सं. १६५० में सिमरा निवासिनी विदुषीरत्न परमधार्मिक महिला सिघैन चिरोंजाबाई धर्म माँ का संसर्ग उनके जीवन में उत्तरोत्तर सहकारी हुआ। आप बड़े कर्त्तव्यपरायण थे। इसी कारण सदैव अपने लक्ष्य में सफलता प्राप्त की। अनेकों आपत्तियों और कष्टों के पड़ने पर भी आप अपने लक्ष्य से लेशमात्र भी विचलित नहीं हुए।

सं. १६५२ से १६५४ तक आप अध्ययन, चिंतन और साधना में उत्तरोत्तर बढ़ते गए। संवत् १६७० तक आप बड़े पण्डित जी कहलाये, तत्पश्चात् वर्णी हो गए। अब आपका ममत्वभाव केवल अपनी धर्म मां तक सीमित रह गया। सं. १६६३ में धर्म मां के स्वर्गस्थ हो जाने पर वह भी समाप्त हो गया। सं. १६६५ में मोटर वाहन का त्याग कर दिया। सं. २००१ में दशम प्रतिमा के व्रत अंगीकार किए, तदनन्तर फाल्गुण कृष्णा ७ सं. २००४ में क्षुल्लक दीक्षा धारण की। आपकी लोकप्रियता बहुत ही बढ़ी–चढ़ी थी, अतएव आप वर्णी जी के नाम से ही विख्यात रहे। आप धीरता, वीरता, सहनशीलता, कष्टसहिष्णुता, दयालुता, परोपकारिता आदि मानवोचित गुणों की साक्षात् मूर्ति थे। बीसवीं सदी के महानसन्तों में आपको बराबर प्रातः स्मरणीय आध्यात्मिक नेता, समाज सुधारक, संस्था संस्थापक, विद्वद्शिरोमणि, गुरुणांगुरु, मौन देशभक्त, निष्काम कर्मयोगी, आध्यात्मिक संत और युग पुरुष के रूप में स्मरण किया जायेगा। वस्तुतः आत्म–साधना में निरन्तररत परमपूज्य वर्णी जी ने जीवन के प्रत्येक क्षण का स्वपर कल्याण में पूरा–पूरा सदुपयोग किया।

प.पू. वर्णी जी का आगरा, मथुरा, अलीगढ़, मेरठ खतौली, हस्तिनापुर, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, दिल्ली, इटावा, फिरोजाबाद, बरूआसागर, ललितपुर, पपौरा, अहारक्षेत्र, द्रोणागिरि, रेशन्दीगिरी, सागर, कटनी, बनारस, गया, हजारी बाग इत्यादि सर्वत्र मंगल विहार हुआ और सर्वत्र धर्म की ध्वजा फहराई। धर्म की अपूर्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रभावना की।

सहारनपुर में शुद्ध आम्नाय का बड़ा बोलबाला, यही कारण है कि सहारनपुर के चारों ओर त्यागियों का मंगल–बिहार होता था, किन्तु सहारनपुर नहीं, पं.पू. वर्णी जी के मंगल बिहार से सहारनपुर में त्यागियों का मंगल बिहार प्रारंभ हो गया। जैन समाज के अतिरिक्त हर समाज प. पू. वर्णी का अपूर्व स्वागत समारोह देखकर चकित रह गया। बड़ी अपूर्व धर्म प्रभावना हुई। मुझे भी श्री महावीर जयन्ती महोत्सव पर रुड़की भेजा, स्वयं सहारनपुर में ही रहे।

प.पू. वर्णी जी के प्रवचनों का सार –

वर्णी जी श्रृद्धा पर प्रकाश डालते हुए कर रहे हैं, "मनुष्य अपना श्रृद्धान न बिगाड़े, चाहे जो हो जाय, सूर्य पूर्व से पश्चिम में उदित हो जाय पर हमको अपने आत्मस्वरूप से पलायमान नहीं होना चाहिये। उदाहरण के तौर पर सीताजी का दृष्टान्त दिया, राम ने कृतांतवक्र को बुलाकर कहा–"ले जाओ, सीता को बीहड़ वन में छोड़ आओ। वह सीता महारानी को बड़े भयंकर वन में ले गया, सीता ऐसे भयंकर वन को देखकर सहम गई और बोली मुझे यहाँ क्यों लाए? तब कृतांतवक्र कहते हैं, हे महारानी जी। लोकापवाद के कारण आपको वन में त्यागने की आज्ञा मुझे दी है, अतः मैं यहाँ आपको छोड़ने आया हूँ।" उसी समय सीता जी कहती हैं कि जाओ, राम से जाकर कह देना कि जिस लोकापवाद से तुमने मुझे त्याग कर दिया, कहीं उसी लोकापवाद के कारण तुम अपने आत्मश्रद्धान से विचलित मत हो जाना। इसे कहते हैं अडिग श्रद्धान ! क्या ऐसा श्रद्धान हम आप कहीं कर सकते हैं? लक्ष्य उस ओर करे न तब। हम तो संसार में रहना चाहें और मोक्ष भी चाहें–ऐसा न कभी हुआ और न हो सकता है, कहा है –

उक्तं च – **दो मुख पंथी चले न पंथा, दो मुख सुई सिये न कंथा।**
दोऊ काम न होंय सयाने, विषय भोग अरू मोक्षहि जानै।।

सर्वप्रथम हमारी उत्कट आत्मरुचि होना चाहिये। उत्कट आत्मरुचि होते ही पर पदार्थों से मूर्च्छा ममता हट जाती है और आत्म कल्याण निकट भविष्य में ही हो जाता है।

अपने प्रवचनों के संबंध में पं. पू. वर्णी जी कहते हैं कि प्रवचन और व्याख्यान सभाएँ सर्वत्र होती हैं, परन्तु सार कुछ भी नहीं निकला, यदि प्रवचनों और व्याख्यान सभाओं से लाभ लेकर एक भी आदमी सुमार्ग पर आ जाता है तो मैं इन सब आयोजनों को सारपूर्ण समझता, लोगों का ध्यान तो ऐसा हो गया है कि ये सुनाने वाले हैं, कुछ देना लेना तो है नहीं। एक तरह का सिनेमा है पर सिनेमा में तो पैसा खर्च होता है, यह बिना पैसों का अमूल्य दृश्य है, वे कहते हैं कि "मेरे हृदय से यह ध्वनि निकल पड़ी कि–

"जो सुख चाहो मित्र तुम तज दो पर की आस,
सुख नाहीं संसार में सदा तुम्हारे पास।
गल्पवाद में दिन गया विषय भोग में रात,
भोंदू के भोंदू रहे रात दिना बिललात।।"

रक्षाबन्धन और पर्यूषण मनाने के संबंध में वे सारभूत कथन करते हैं –

धर्म का अंश तो निरीह होकर सेवा करने का भाव है, श्री प.पू. मुनिराज विष्णुकुमार ने सात सौ मुनियों की रक्षा करने के लिये अपने आपको एक दम समर्पित कर दिया–अपनी वर्षों की तपश्चर्या पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया और धर्मानुराग से प्रेरित होकर छल से वामन का रूप धारण करके बलि का अभियान चूर–चूर किया पीछे उन्हें अपने गुरु के पास जाकर फिर से नवीन दीक्षा धारण की किन्तु सहधर्मी मुनियों की उन्होंने उपेक्षा नहीं की।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रक्षाबन्धन रक्षा का पर्व है, पर की रक्षा वही कर सकता है जो स्वयं रक्षित हो, जो स्वयं आत्मा की रक्षा करने में असमर्थ है वह क्या पर का कल्याण कर सकता है, रक्षा से तात्पर्य आत्मा को पाप से पृथक् करो, पाप ही संसार की जड़ है, जिसने इसे दूर कर दिया उसके समान भाग्यशाली अन्य कौन है ? रक्षा बन्धन पर्व यही शिक्षा देता है कि "सर्वे भवन्तु सुखिनः" अर्थात् सब सुखी रहें।

परम सुख का कारण राग–द्वेष–मोह और कषाय का त्याग है उसे धारण करो, प्रतिदिन जल्पवाद से संसार को सुलझाने की जो चेष्टा है उसे त्यागो और आपको सुलझाने का प्रयत्न करो। मनुष्य के लिये एक मात्र शुद्धात्मा का ही शरण है, उसी में रक्षण करो। दूसरों से तो कहता हूँ कि रागादिक दुःख के कारण हैं अतः इनसे बचो, पर स्वयं उनसे फँस जाता हूँ। दूसरों से कहता हूँ कि सर्व प्रकार के विकल्प त्यागो पर स्वयं न जाने कहाँ–कहाँ विकल्पों में फँसा हुआ हूँ, इनसे सावधानी पूर्वक आत्मरक्षा करो।

पर्यूषण र्पव साल में तीन बार आता है – भाद्रपद, माघ और चैत्र में ,परन्तु भाद्रपद के पर्यूषण का प्रचार अधिक है, पर्व के समय प्रत्येक मनुष्य अपने अभिप्राय की निर्मलता ही धर्म है, आत्मा की यह निर्मलता क्रोधादिक कषायों के कारण तिरोहित हो रही है। अतः इन कषायों को सर्वथा त्यागो।

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं, इनमें क्रोध से क्षमा, मान से र्मादव, माया से आर्जव और लोभ से शौचगुण तिरोहित है। ये चार कषाय निकल जावें और उनके बदले क्षमा आदि गुण आत्मा में प्रकट हो जावें तो आत्मा का कल्याण हो जावे, क्योंकि मुख्यरूप से यह चार गुण ही धर्म हैं। आगे जो सत्य आदि छह धर्म कहे हैं वे इन्ही के विस्तार हैं– इन्हीं के अंग हैं, ठीक ही कहा है कि "मानात् क्रोधः प्रभवति माया लोभते प्रवर्ते," अर्थात् मान से क्रोध उत्पन्न होता है और लोभ से माया में प्रवृत्ति होती है, जब आत्मा से क्रोध लोभ भीरूत्व और हास्य की परिणति दूर हो जाती है तो सत्यवचन में प्रवृत्ति अपने आप होने लगती है। जब आत्मा से क्रोधादि कषाय निकल गई तब असत्य बोलने में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इन्द्रियों के विषयों से निवृत्ति हो गई यही संयम है, यह निवृत्ति तभी हो सकती है जब लोभ कषाय की निवृत्ति हो जाय तथा यह प्रत्यय हो जाय कि आत्मा में सुख की उत्पत्ति विषयाभि मुखी प्रवृत्ति से नहीं किन्तु तन्निवृत्ति से है। मानासिक विषयों की निवृत्ति हो जाना – इच्छाओं पर नियन्त्रण हो जाना सो तब है, जब तक मन स्वाधीन नहीं होगा तब तक उसमें इच्छाएँ उठा करेंगी और इच्छाओं के रहते परिणामों में स्थिरता स्वप्न में भी नहीं आ सकती, जब इच्छाएँ घट जायेंगी तब उसके फलस्वरूप त्याग स्वतः हो जायेगा। त्याग के बाद आकिंचन्य दशा का होना स्वाभाविक है। जब पुरातन परिग्रह का त्याग कर दिया और इच्छा के अभाव में नूतन परिग्रह अंगीकृत नहीं किया तब आकिन्चन्य दशा स्वयमेव होने की है ही और जब अपने पास आत्मातिरिक्त किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं रहा– उसमें ममता परिणाम नहीं रहा तब आत्मा का उपयोग आत्मा में ही लीन होना यही ब्रह्मचर्य है, इस प्रकार यह दश धर्मो का क्रम है। दश धर्मों का यह क्रम जीवन में उतर जावे तो आत्मा का कल्याण हो जावे। लाखों का धनी व्यक्ति जिस प्रकार अपनी निधि को भूल दर–दर का भिखारी हो भ्रमण करता है ठीक उसी प्रकार हम भी अपनी आत्म–निधि को भूल उसकी खोज में इतस्ततः भ्रमण कर रहे हैं।

उक्तं च – "परम धर्म को पाय कर सेवत विषय कषाय।
ज्यों गन्दाको पायकर नीमहिं ऊँट चबाय।।
चाहत जो मन शान्ति सुख, तजहु कल्पना जाल।
व्यर्थ भरम के भूत में क्यों होते बेहाल।।
यह जग की माया विकट जो न तजोगे मित्र।
तो चहुँगति के बीच में पाओगे दुख विचित्र।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो संसार समुद्र से है तरने की चाह।
भेद ज्ञान नौकाचढ़ो पर की छोड़ो हाह।।
सत्तर छह के योग में गया न मन का मैल।
खाँड भरे भुस खात हैं बिन विवेक के बैल।।

इटावा में बड़े उत्साह से सिद्धचक्र विधान हुआ। मनोहर रूप से पूजन सम्पन्न हुई परन्तु परिणामों में शान्ति किसी के नहीं, केवल गल्पवाद में ही सर्व परिणमन हो जाता हैं अन्तरंग की निर्मलता होना दूर है। सिद्धचक्र का पाठ स्थापित करने का भाव यही है कि हम उनके गुणों का स्मरण करके इस बात का प्रयत्न करें कि हम भी सिद्धों के समान हो जायें। उनके गुणगान में ही समय यापन किया और उन जैसी अवस्था हमारी न हो सकी तो इससे क्या लाभ हुआ ?

मैंने इन दिनों में प्रवचन के अतिरिक्त जन संपर्क से दूर रहने का प्रयास किया और निरन्तर यह विचार किया –

और कार्य की छोड़ो आशा, आतम हित कर भाई रे।
यही सार जगत में उत्तम, अन्य सकल भवजाला रे।।
पर का मान निजातम भूला, सदा भ्रमत भव वासारे।
कहे सुखी भ्रम से निज को तू, भांग पियो बौरायारे।।
पर को दे उपदेश सुखी हुए, मानत निज को साधू रे।
बक बक करते बहुत दिन बीते, करत न निज की वाता रे।
शिव सुत अब निज को निज मानो, पर का कर निरवारा रे।।

पं. पू. अध्यात्मरसिक वर्णीजी के प्रवचनों के संबंध में कुछ लिखना सूरज को दीपक दिखाना है। क्रोध दूर करने में पुरुषार्थ नहीं है, पुरुषार्थ तो उसे न होने देने में है।

क्षमा, विनय, सरलता, सन्तोष, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दस मोक्ष महल की सीढ़ियाँ हैं जितनी कुशलता से चढ़ोगो उतने ही ऊपर पहुँचोगे।

परिग्रह पिशाच से पीड़ित मनुष्य विवेक शून्य हो जाते हैं। आज जो विश्व में मार–काट हो रही है, हाहाकार मच रहा है, उसका मूल कारण यह परिग्रह ही है।

परिग्रह पर वही व्यक्ति विजय पा सकता है जो अपने को, अपने में, अपने से, अपने लिए, अपने द्वारा आप ही प्राप्त करने की चेष्टा करता है।

संसार में सबसे बड़ा बन्धन मोह है, पाप का पिता, माया का पति, वंचकता का बंध और दुर्वासना का पुत्र लोभ ही है। वस्तुतः लोभ पाप का द्वार है।

अखण्ड शान्ति का स्रोत अपरिग्रह है।
बड़े भाग्य से नर तन पाया, खोना इसको व्यर्थ नहीं।
धर्म–मार्ग पर डटे रहो, धर्म बिना उद्धार नहीं।।

प.पू. प्रातः स्मरणीय वर्णीजी को विनयपूर्वक श्रद्धा सहित शत–शत नमन्।

विनीतः,
आचार्य श्रेयांसकुमार जैन शास्त्री
साहित्य रत्न, एम.ए.
किरतपुर बिजनौर (उ0प0)

□□□

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूज्य 105 क्षु. गणेशप्रसादजी वर्णी के कतिपय संस्मरण

✍ पन्नालाल जैन शास्त्री, काव्यतीर्थ

● एक बार पूज्य वर्णीजी के दर्शनों की सर्वप्रथम मेरे मन में जिज्ञासा उठी। मैं कुण्डलपुर चल दिया। उन दिनों पूज्य वर्णीजी वहाँ विराजमान थे। वहाँ पहुँचते–पहुँचते रात हो गई। दर्शनों की तीव्र इच्छा तो थी ही, मुझे नींद नहीं आई और मैं धर्मशाला के ऊपर जहाँ पूज्य वर्णीजी विराजमान थे, वहाँ चला गया। देखा कि पूज्य वर्णीजी स्वाध्याय में रत हैं। रात को दो बजे का सन्नाटा था। मैं चरणों में नमन कर बैठ गया। मुझे समीप बुलाकर मेरे बारे में जानकारी ज्ञात की। फिर पूछा – "स्वाध्याय करते हो?" मैंने उत्तर दिया – करता तो हूँ पर नियमित नहीं। भैया नियमित ही स्वाध्याय किया करो! इससे ही पूर्ण लाभ होगा। दो बजे रात में पूज्य वर्णीजी को स्वाध्याय में रत देखकर तत्काल "ज्ञान ध्यान तपोरक्तः तपस्वी सप्रशस्यतेग ये पंक्तियाँ मुझे स्मरण हो आई। अभी तपस्वी पद नहीं है, पर उसकी पूर्ण तैयारी में सन्नद्ध हैं।"

● एक बार अपनी शाश्वत सिद्धक्षेत्र श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के सिलसिले में मुझे एटा में आपके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैं भी मथुरा संघ की ओर से आमंत्रित होकर गया था। श्री जुगमंदिरलालजी बजाज के यहाँ मैं रुका था। आम सभा आयोजित की गई। तत्कालीन एटा के मजिस्ट्रेट एक बंगाली सज्जन थे। वे भी अपनी पत्नी के साथ सभा में आये थे। पूज्य वर्णीजी के उपदेश से प्रभावित होकर बंगाली दम्पति ने तो मांसाहार न करने का नियम लिया किन्तु अन्य पंजाबी दम्पति भी सभा में उपस्थित थे। सरदारजी ने पूज्य वर्णीजी से निवेदन किया कि महाराज! ये लोग आपकी जय तो बहुत बोलते हैं पर कहना भी मानते हैं कि नहीं? पूज्य वर्णीजी ने उत्तर दिया कि कहना मानते भी हैं और नहीं भी मानते। जैनधर्म की दृष्टि में प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है। कोई भी किसी को बलात् सुधार या बिगाड़ने में सर्वथा असमर्थ है।

● लगभग 60–70 वर्ष पूर्व की बात है आजाद हिन्द फौज के सैनिकों के सम्मान में जबलपुर की जैन समाज की ओर से कमानिया गेट और फुब्बारे के मध्य आमसभा आयोजित की गई थी। मैं भी उसमें शामिल था। लोगों ने सैनिकों के सम्मान में नकद रकम लिखवाई थी किन्तु पूज्य वर्णीजी ने अपने ओढ़ने की चादर सैनिकों के हेतु अर्पण कर दी थी जिसे सतना के सेठ धर्मदासजी ने 350 रुपए (तत्कालीन) में लेकर पूज्य वर्णीजी के प्रति अपनी भक्ति व्यक्त की थी।

● करीब 60 वर्ष पूर्व संभवतः विद्वत्परिषद् के द्रोणगिरि अधिवेशन की बात है। एक जैन मुनि क्षीरसागर ने किसी विद्वान् को रुपए देकर नये तत्वार्थ सूत्र (मोक्षशास्त्र) की नई रचना करवाई थी। इसके खिलाफ प्रस्ताव आया था कि ऐसे मुनि को मुनि न माना जाय जो आचार्य रचित कृति को गलत बतलाकर नये मोक्षशास्त्र की रचना करवाता है। कतिपय पुराणपंथी विद्वानों ने इस बात का विरोध किया तब न्यायालंकार पण्डित वंशीधरजी सिद्धान्तशास्त्री और पण्डित कैलाशचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री ने इसका जोरदार समर्थन किया कि ऐसे मुनि नामधारी का तो बहिष्कार होना चाहिए जो आचार्य प्रणीत रचना को गलत बताकर पैसे देकर नई रचना करवाकर अपने को पुजवाना चाहता है। नई रचना भी सामने थी जो कि ऊलजलूल और बिल्कुल बेकार थी। बहिष्कार का प्रस्ताव सर्व सम्मति से तो नहीं पर पास कर दिया था। ऐसे निर्भीक और दृढ़ श्रद्धानी विद्वान थे उस समय परिषद के।

● करीब 50 वर्ष पूर्व विद्वत्परिषद् के जबलपुर अधिवेशन की बात है। परिषद् अधिवेशन में समागत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समस्त विद्वान भोजन कर रहे थे और पूज्य वर्णीजी सबकी पत्तलों की ओर देखकर कह रहे थे कि भाई अमुक विद्वान को अमुक चीज लाओ और अमुक को फंला चीज परोसो। बार–बार कह रहे थे भेले ही यह बात उनके पदोचित न हो किन्तु उनकी विद्वानों के प्रति प्रगाढ़ प्रीति की द्योतक अवश्य है। उनके मुखारविन्द से अनेक बार यह बात सुनने में आई कि यदि मेरी सामर्थ्य होती तो मैं प्रत्येक विद्वान को 1–1 जागीर लगा देता। विद्वान ही समाज और धर्म के उन्नायक हैं। ये ह्रदयोद्‌गार विद्वानों के प्रति पूज्यवर के प्रगाढ़ ममता के प्रतीक हैं।

मैं विद्वत्परिषद् का प्रारम्भ काल से ही सदस्य हूँ। विगत अनेक वर्षों से कार्यकारिणी का भी सदस्य हूँ और प्रायः हर अधिवेशन और कार्यकारिणी की बैठकों में भी सम्मिलित होता रहा हूँ। मुझे परिषद् से अत्यन्त लगाव है।

विद्वत्परिषद् के सोनगढ़ अधिवेशन में भी मैं सम्मिलित हुआ था और भी बहुत संख्या में प्रायः सभी उच्चकोटि के विद्वान शामिल हुए थे और सभी ने श्री कानजीस्वामी के पंच परमागम सम्बन्धी ज्ञान को अभूतपूर्व, अद्‌भुत और पाण्डित्यपूर्ण एक स्वर से स्वीकार किया था। सोनगढ़ के कण–कण से अध्यात्म के स्वर अहर्निश निकलते हैं। यहाँ तक कि वहाँ के पनवाड़ी और पुलिस भी अध्यात्म की चर्चा करते देखे जाते हैं। मुझे अनेक बार सोनगढ़ जाकर श्री कानजीस्वामी के सान्निध्य का भी अपूर्व लाभ प्राप्त हुआ है, जो सदा स्मरण रहेगा। सोनगढ़ की मानस्तम्भ प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर भी मुझे वहाँ जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह प्रतिष्ठा जैन समाज के अद्वितीय, प्रबुद्ध, संहितासूरि पण्डित नाथूलालजी शास्त्री द्वारा कराई गई थी। प्रतिष्ठा का सर्व कार्य शुद्ध तेरापंथ आम्नाय से सुसम्पन्न हुआ था।

● 2, शिव ठाकुर लेन कलकत्ता – 7

□□□

साहित्य प्रकाशन की दिशा में बढ़ते कदम

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् सत्साहित्य के प्रकाशन को निरन्तरता प्रदान करने हेतु कृत संकल्पित है।

योजना हेतु सहयोग अपेक्षित है—

- परम शिरोमणी संरक्षक 51000/–
- शिरोमणी संरक्षक 31000/–
- परम संरक्षक 21000/–
- संरक्षक 15000/–
- सह संरक्षक 11000/–
- हितैषी 5000/–

उपरोक्त राशि प्रदान करने वालों का नाम प्रत्येक ग्रन्थ में प्रकाशित किया जायेगा।

हमारे आगामी प्रकाशन

● अध्यात्म बारहखड़ी ● छत्र चूड़ामणी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्वत्परिषद् और महिलाएँ-

श्रीमती ममता जैन 'मणि'

'एक नहीं दो–दो माताएँ, नारी नर से भारी' किसी कवि की उक्त कल्पना के परिप्रेक्ष्य में यदि हम किसी भी देश, समाज अथवा संस्था की चहुमुखी उपलब्धियों का मूल्यांकन करें तो उसकी गहराईयों में नारी के गरिमापूर्ण योगदान को नर की तुलना में द्विगुणित ही पाते हैं। क्योंकि जितना कुछ भी योगदान पुरुष वर्ग का है, उसकी प्रेरणास्रोत तो नारी सदैव रही ही है। यह तो हुआ अप्रत्यक्ष योगदान क्योंकि 'There is women behind every successfuly man' इसके साथ ही सम्पूर्ण विगत इतिहास का यदि विहंगावलोकन करें तो नारी ने सदैव ही प्रत्येक क्षेत्र में (चाहे वह धार्मिक हो, सामाजिक हो, राजनैतिक हो यहाँ तक कि रणभूमि ही क्यों न हो) पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर अपना महत्वपूर्ण सक्रिय सहयोग प्रदान किया है।

अखिल भारतवर्षीय विद्वत्परिषद् की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर यदि परिषद् की उपलब्धियों पर दृष्टिपात करें तो इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं है कि परिषद् जो कि आज सफलता की आशातीत ऊँचाईयों को स्पर्श कर रही है, उसमें महिलाओं के योदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। परिषद् के सर्वांगीण श्रीवृद्धि में श्रीमती रमाजी का अविस्मरणीय योगदान रहा है। विद्वत्परिषद् द्वारा प्रदत्त श्रेष्ठ लेखन के लिए दिए जाने वाले 'वर्णी पुरस्कार एवं बरैया पुरस्कार' की राशि रमाजी के निर्देशानुसार भारतीय ज्ञानपीठ प्रदान करता है। परिषद् की रजत जयन्ती जो कि शिवपुरी (म. प्र.) में सन् 1943 में डॉ. दरवारीलालजी कोठिया, न्यायाचार्य की अध्यक्षता में मनाई गई थी, उसमें उपस्थित होकर आदरणीया रमाजी ने महिलाओं का प्रतिनिधित्व कर उत्सव को गरिमा प्रदान की थी।

पद्मश्री विभूषित ब्र. बहन सुमतिबाई शाह सोलापुर में श्राविकाश्रम का कुशल संचालन कर रहीं हैं। बालिकाओं को शिक्षित करके ही कोई समाज उन्नति कर सकता है, क्योंकि समस्त सामाजिक रोगों की रामवाण औषधि शिक्षा ही है ऐसा आपका अटूट विश्वास है। लेखन प्रतिभा की आप धनी हैं। अद्यावधि 18–20 पुस्तकें लिखकर आपने भारतीय वांगमय को समृद्ध किया है। आप परिषद् की कार्यकारिणी में भी सक्रिय सदस्य रहीं और परिषद् की उन्नति में अपना अमूल्य योगदान दिया।

न जुड़कर भी जो सदैव परिषद् से जुड़ी रहीं ऐसी साधर्मी वात्सल्य की मूर्ति श्रीमती जयमालादेवी (मातेश्वरी नेत्र विशेषज्ञ डा. एस. के. जैन) को कैसे विस्मृत किया जा सकता है। दिल्ली में विद्वानों के ठहरने का एकमात्र स्थान यदि कोई था तो आपका ही घर था। जहाँ पं. फूलचन्दजी शास्त्री, पं. कैलाशचन्दजी शास्त्री सरीखे दिग्गज जैन दर्शन के मूर्धन्य विद्वान् निःसंकोच आकर ठहरतें थे। आपका माधुर्यपूर्ण आतिथ्य सत्कार विद्वानों को बरबस ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता था।

डॉ. विद्यावती जैन (धर्मपत्नी श्री राजारामजी जैन) ने महाकवि देवीदास पर डी. लिट् की उपाधि प्राप्त की है। सम्प्रति आप के. बी. एस. विश्वविद्यालय, आरा (बिहार) में प्राकृत विभाग में अध्यापन रत हैं। अद्यावधि आपकी 15 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आप 'जैन महिलादर्श' मासिक पत्रिका की सम्पादिका हैं। डॉ. देवेन्द्रजी की अध्यक्षता वाली कार्यकारिणी में आप परिषद् की सक्रिय सदस्या रहीं और अपनी प्रतिभा से परिषद् को अलंकृत करतीं रहीं।

विद्वत्परिषद् तो विदुषी महिलाओं की मानो साक्षात् खदान है। सभी का उल्लेख करना तो यहाँ संभव नहीं होगा, फिर भी कतिपय शीर्षस्थ महिलाओं का उल्लेख करना अपेक्षित समझती हूँ। जिनमें डॉ.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनमती जैन ने 'जैनदर्शन' पीएच. डी. की उपाधि प्राप्त की है, आजकल आप 'जैन बालविश्राम', आरा में अध्यापनरत हैं। इनके साथ ही डॉ. सुनीता जैन भी 'जैन बाल विश्राम' आरा में ही अध्यापनरत हैं। आपने भी जैनदर्शन में पीएच डी. की उपाधि प्राप्त की। डॉ. मनोरमा जैन ने जैनदर्शनाचार्य में स्वर्ण पदक प्राप्त करके बी. एच. यू. से पीएच डी की उपाधि प्राप्त की। डॉ. पुष्पा जैन हिन्दी एम. ए., बी. एड. प्राकृताचार्य, जैन दर्शनाचार्य हैं साथ ही आपने पं. सुखदासजी व्यक्तित्व एवं कृतित्व विषय पर पीएच डी. की उपाधि प्राप्त की। डॉ. ज्योति जैन, खतौली (धर्मपत्नी श्री कपूरचन्दजी कासलीवाल) ने राजनीतिशास्त्र में एम. ए. करके 'स्वतंत्रता संग्राम में जैनों का योगदान' विषय पर पी-एच डी. की उपाधि प्राप्त की। डॉ. शुद्धात्मप्रभा टडैया (सुपुत्री डॉ. भारिल्ल) ने आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार विषय पर पीएच डी. की उपाधि प्राप्त की। आप लेखन प्रतिभा की धनी हैं। अद्यावधि कई पुस्तकें आपकी प्रकाशित हो चुकी हैं। डॉ. नीरा जैन (सुपुत्री डी. के. जैन, कबूलनगर) विवेकानन्द कालेज दिल्ली में रीडर के पद पर कार्यकरत हैं आपने नाट्यशास्त्र में पीएच डी उपाधि प्राप्त की है। डॉ. राका जैन राजकीय कॉलेज, पन्ना में संस्कृत विभाग में रीडर के पद पर सुशोभित हैं। श्रीमती रंजना बंसल एम. ए., बी. एड. (धर्मपत्नी डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल, अमलाई) ओ. पी. एम. शिक्षण कैन्द्र अमलाई में अध्यापनरत हैं। आप विगत 17–18 वर्षों से पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर द्वारा संचालित ग्रीष्मकालीन शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरों में बालबोध प्रवेशिका प्रशिक्षिका के रूप में अपनी सेवायें दे रहीं हैं। आप सन् 1980–81 में अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, जयपुर की महिला प्रकोष्ठ की मंत्री रहीं।

इनके अतिरिक्त डॉ. उर्मिला जैन, बड़ौत, डॉ. महिमा बासल्ल, जयपुर, श्रीमती अल्पना भारिल्ल जैनदर्शनाचार्य (पुत्रवधु डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल) बम्बई, श्रीमती कस्तूरीदेवी जैन दिल्ली, श्रीमती कुन्ती जैन बेगमगंज, श्रीमती सुषमा जैन बनारस, श्रीमती कमलेश जैन, श्रीमती अनीता जैन, दिल्ली, श्रीमती शैल बंसल एम. ए. अर्थशास्त्र (धर्मपत्नी श्री अखिल बंसल) जयपुर आदि भी अनेक विदुषी महिलाओं की सदस्यता से विद्वत्परिषद् अलंकृत है।

सभी महिलायें अपनी-अपनी प्रतिभानुसार निजी क्षेत्रों में ज्ञान ज्योति को प्रज्वलित रखते हुए विद्वत्परिषद् की उन्नति के लिए अहर्निश प्रयत्नशील हैं। महिला शब्द का विग्रह यदि इस तरह करें – महिं + हिलायति इति महिला अर्थात् पृथ्वी को हिलाने की सामर्थ्य जो रखती हैं उसे 'महिला' कहते हैं। तदनुसार सभी विदुषी महिलायें पृथ्वी को नहीं वरन् पृथ्वी से अज्ञानान्धकार को हिलाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहीं हैं। परिषद् की उन्नति में सभी का अमूल्य योगदान रहा है और भविष्य में भी सतत् बना रहेगा, ऐसा विश्वास है।

● शोधरत, लालबहादुरशास्त्री
संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली
बी–81 अशोका एन्क्लेव, पीरागढ़ी चौक, नई दिल्ली

□□□

4633

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

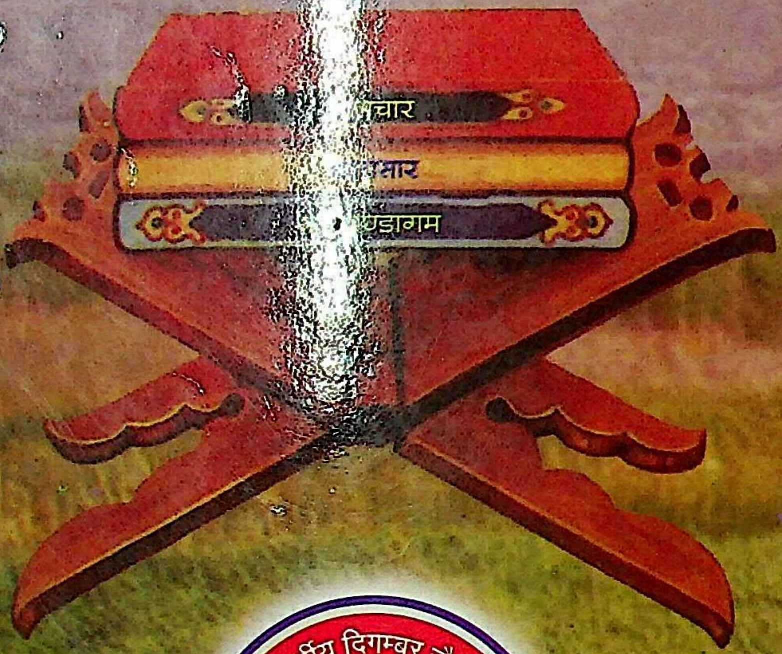

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्

णाणं चरित्त सुद्धो

मित्ति मे सव्व-भूदेसु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi